मानव की कहानी

दूसरा भाग

(सन् १५०० ई० से सन् १९५६ ई० तक)

प्रो० रामेश्वर गुप्त

प्रकाशक:

चेतनागार

वनस्थली

प्रथम संस्करण, १९५१
द्वितीय संस्करण, १९५७

मूल्य { पहला भाग : [सृष्टि के आदि से १५०० ई० तक] ८) रु०
{ दूसरा भाग : [१५०० ई० से १९५६ ई० तक] ८) रु०

पुस्तक मिलने का पता :
चेतनागार,
बनस्थली (जयपुर, राजस्थान)

मुद्रक :
जयपुर प्रिंटर्स, जयपुर

विषय सूची

छठा खंड

मानव इतिहास का आधुनिक युग

(१५००–१९५६)

सातवां खंड

भविष्य की ओर संकेत

परिशिष्ट

मानचित्रों की सूची

छठा खंड

मानव इतिहास का आधुनिक युग

(१५००–१९५६ ई.)

मानव इतिहास का आधुनिक युग

(४३)

मानव इतिहास में आधुनिक युग का आगमन

विषय - प्रवेश

देशकाल की सीमा में–सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के परिभ्रमण द्वारा निर्देशित काल प्रवाह में—, इस भूमण्डल पर अंकित मानव कहानी का अध्ययन, ४–५ लाख वर्ष पूर्व मानव प्रादुर्भाव से प्रारम्भ कर, तदनन्तर उसकी विकास गति का अवलोकन करते करते हम आज से प्रायः ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् १५वीं शती तक की उसकी (मानव की) विकास स्थिति तक आ पहुंचे हैं। प्रायः १६वीं शती के आरम्भ में मानव एक करवट बदलता है, मानों शताब्दियों से बंद उसकी आंखें खुलती हैं। अपनी नींद में जो कुछ उसने भुला दिया था, खो दिया था, उसका पुनः

उत्थान करता है एवं कुछ विशेष नई उद्भावनायें, नये विचार लेकर वह उठता है।

इस चल चित्रपट पर हमने देखा—४-५ लाख वर्ष पहिले जब मानव का आगमन हुआ था, तब तो वह केवल अर्द्ध-मानव की स्थिति में था, वृक्षों की छाल या पत्ते या जानवरों की खाल से अपना तन ढकता था; कंद, मूल, फल, कच्चा मांस खाता था; आग का आविष्कार कर चुका था एवं मांस भूनने भी लगा था; किन्तु सभ्यता एवं विचार की स्थिति अभी तक उसमें उत्पन्न नहीं हो पाई थी, 'स्व' की चेतना भी उसमें न हो। फिर अनुमानतः ५०-६० हजार वर्ष पूर्व वास्तविक मानव का आविर्भाव हुआ–हजारों वर्षों तक उसकी भी स्थिति प्रायः असभ्य रही; शिकार के लिए एवं अपनी रक्षा के लिये; पत्थर एवं चकमक के वह सुन्दर, सुघड़ औजार बनाने लगा था, गुफाओं में रहते रहते गुफाओं की दीवारों पर चित्रांकन भी करने लगा था,–किन्तु संगठित जीवन, सुसपष्ट 'स्व' की चेतना एवं विचार का विकास उसमें प्रायः नहीं हो पाया था; फिर आज से प्रायः १०-१२ हजार वर्ष पूर्व वह इस स्थिति में पहुंचा, जब वह चकमक के अलावा तांबे, एवं कांस्य के औजार एवं हथियार भी बनाने लगा था, खेती का आविष्कार कर चुका था, पशु-पालन करने लगा था, रहने के लिए कच्चे घर बनाने लगा था, चाक का आविष्कार कर चुका था एवं उस पर मिट्टी के सुन्दर बर्तन बनाता था, उसमें अपने जीवन और रहन सहन के प्रति चेतना का विकास हो चुका था। भिन्न भिन्न पुरखाओं के व्यक्तित्व से लोग अपना वंशानुगत संबंध जोड़ने लगे थे और इस प्रकार उनमें जातिगत भावना (Tribal Consciousness) का विकास हो चुका था। कठोर प्रकृति—वर्षा, तूफान, बिजली, आंधी से; मृत्यु एवं स्वप्न-दृश्यों से भयातुर एवं विस्मित होकर, वे लोग जीवन और समूह की सुरक्षा की कामना से स्थानगत एवं जातिगत देवताओं की कल्पना करने लगे थे,–अजीब अजीब आकार की पत्थरों की मूर्तियों में, वृक्षों, नागों और पशुओं में देवताओं का अस्तित्व माना

जाने लगा था—एवं उन देवताओं की तुष्टि के लिये प्रकार प्रकार की पूजाओं और बलिदानों का प्रचलन होगया था। समूह में एक पुरोहित वर्ग पैदा होगया था जो इन देवताओं की पूजा करता एवं करवाता था, एवं जो जादू, टोना, बलि इत्यादि से जातियों एवं व्यक्तियों की मनोकामना की सिद्धि के लिये देवता की तुष्टि करता था। आदि मानव के मन और मस्तिष्क में गति तो होने लगी थी—किन्तु अज्ञान में वह अभी कितना जकड़ा हुआ था! इसी प्रकार चलते चलते आज से लगभग ८ हजार वर्ष पूर्व (अथवा ई. पू. ५-६ हजार वर्ष में) संगठित सभ्यताओं का उदय होता है—मिश्र, मेसोपोटेमिया एवं सिन्धु प्रदेशों में कृषि, पशुपालन, ग्रामवास, एवं मिट्टी के बर्तनों के निर्माण के साथ साथ सुव्यवस्थित नगरों, भवनों एवं मन्दिरों का निर्माण होता है; तांबा, कांसा, पीतल इत्यादि धातुओं का विशेष प्रयोग होता है—चांदी एवं सोने के आभूषण बनते हैं,—ऊन, वनस्पति रेशे, रेशम एवं रुई के कपड़े बनने लगते हैं, और उनकी रंगाई भी होती है, भिन्न भिन्न नगरों और प्रदेशों में परस्पर व्यापार भी होता है इत्यादि। किन्तु मानव का मानस अभी भय से जकड़ा हुआ था—अतः डर के मारे जातिगत, नगरगत, ग्रामगत देवताओं की तुष्टि के लिए, बलि-प्रदान, पूजा, जादू, टोना का सर्वत्र प्रचलन था। उस काल के लोगों का बौद्धिक एवं धार्मिक जीवन मंदिर, देवी-देवताओं, पुरोहित, जादू टोना, इत्यादि की भावनाओं तक ही सीमित था। प्रकृति में सौन्दर्य, आनन्द और उल्लास के दर्शन अभी तक उन्होंने नहीं किए थे–प्रकृति अभी तक उनके लिये भय का कारण थी;–उसको समझकर उससे एकात्मक भाव स्थापित करने की चेतना नहीं किन्तु उससे डरकर उसको तुष्ट करने की भावना, उन आदि सभ्यता काल के लोगों में थी। भौतिक दृष्टि से स्थिति अपेक्षाकृत ठीक हो, किन्तु मानसिक, आध्यात्मिक दृष्टि से वह स्थिति निकृष्ट थी—मानव चेतना मुक्ति की ओर अभी उन्मुख-हीन थी–उसको स्वयं का आभास ही नहीं था। फिर ठीक ई. पू. की कुछ शताब्दियों में इन कार्ष्णेय सभ्यताओं से सर्वथा स्वतन्त्र ढंग

से, एवं भिन्न देशों में यथा भारत, चीन, ग्रीस और रोम में, कहीं स्यात् कार्ष्णेय सभ्यताओं से पूर्व (जैसे भारत एवं चीन ?) एवं ग्रीस और रोम में कार्ष्णेय सभ्यताओं के उत्तर काल में–इतिहास में सर्वप्रथम एक उदात्त आध्यात्मिक क्रान्ति के दर्शन होते हैं–मानव में उसकी चेतना का एक अभूतपूर्व निर्भय, स्वतन्त्र प्रस्फुटन होता है। वह प्रस्फुटन इतना मुक्त, आनंदमय और पूर्ण मानो चेतना अपनी अनुभूति की निगूढ़तम छोर को छू चुकी हो–इसके आगे स्वानुभूति के लिये कुछ न बचा हो। निःसंदेह आज तक मानव चेतना अपनी स्वानुभूति में उस छोर के आगे नहीं पहुंच पाई है जिस छोर तक अपने प्रस्फुटन के उस प्रारम्भिक युग में वह पहुंच पाई थी। उस युग में भारत में मानव चेतना ने निःश्रेयष की—आत्म-स्वरूप परम-प्रकाश एवं परमानन्द की प्राप्ति की; ग्रीस में मानव चेतना ने सब प्रकार की परोक्ष सत्ता से निर्भय निशंक हो, प्रकृति को सीधा देखा, उसका पर्यवेक्षण किया, एवं जीवन और कला में वस्तुतः अनुपम सौन्दर्य की अवतारणा की; रोम में मानव चेतना ने समाज रचना और संगठन का आधार सुव्यवस्थित नियम और विधि में ढूंढा; चीन में मानव चेतना ने जीवन स्वरों की अनेकता में समरसता ढूंढ निकाली संसार की वस्तुओं के सहज सरल संभोग एवं परस्पर मधुर सम्बन्ध में।

इस प्रकार इतिहास के उन प्रारम्भिक युगों में एक बार मानव ने मानसिक मुक्ति, मस्ती, आनन्द और सौन्दर्य की अनुभूति की थी, किन्तु बाद में उस पर धीरे धीरे परदा पड़ गया, और मानव सर्वत्र एक लम्बे अर्से तक (छठी शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक) इतिहास के मध्य-कालीन अंधकारमय युग में प्रवेश कर गया। पच्छिम में, यथा ग्रीस, इटली एवं समस्त यूरोपीय प्रदेशों में अपेक्षाकृत असभ्य ट्यूटोनिक, गोथ एवं केल्ट आर्य-जातियाँ फैल गईं–ईसाई मत का उनमें प्रचार हुआ, ग्रीक और रोमन सभ्यता प्रायः विलुप्त हुईं, मानस मन जकड़ा गया, अंध-विश्वासों और धार्मिक वहमों का वह दास होगया, संकीर्णता उसमें घर

कर गई, बाह्य प्रकृति की ओर से उसने आंखें मूंद लीं; स्वर्ग, नरक, पादरी, पुजारी के पचड़े में वह फंस गया, स्वतन्त्र चिन्तन, विद्या और कला से वह साधारणतया विमुख होगया। पूर्व में भारत में भी यही दशा हुई। वहां यद्यपि प्राचीन संस्कृति सर्वथा विलुप्त नहीं होगई, किन्तु लोगों में केवल उसके नाम के प्रति मोहमात्र रह गया, पच्छिम की तरह मानस अंधविश्वास एव संकीर्णता में प्रायः जकड़ा गया। मानों सर्वत्र मानव गति हीन होगया, वह सोगया। छठी सातवीं शती में मानों सोया था—१५वीं १६वीं शती तक सोता रहा।

किन्तु सोये हुए मानव ने करवट ली, वह जाग कर उठा। पूर्व में भी, पच्छिम में भी; भारत और चीन में भी, यूरोप में भी। यूरोप का मानव तो यहां तक सक्रिय होकर उठा और गतिमान हुआ कि कई सहस्त्राब्दियों से लुप्त एवं अज्ञात विशालभूखंड अमेरिका तक को ढूंढ निकाला और उसका कल्पनातीत विकास किया। इस काल से दुनिया के इतिहास में अमेरिका भी सम्मिलित हुआ।

पूर्व और पच्छिम में मानव प्रगति की तुलना

निःसंदेह यह पुनः जागृति दुनिया में प्रायः सर्वत्र हुई—किन्तु इस काल से यूरोप का मानव ही जो तत्कालीन भारत और चीन की अपेक्षा बहुत बहुत पिछड़ा हुआ था, विशेष गतिशील और विकासमान रहा। आधुनिक युग में प्रायः २०वीं शती के आरंम्भ तक मानव इतिहास और मानव की गति और विकास का श्रेय विशेषतया पच्छिम को ही रहा। अतः मानव विकास की कहानी में आगे यूरोप की ही गति और विकास का विशेष उल्लेख रहेगा। तथापि, पच्छिम और पूर्व में विकास की गति का स्पष्ट तुलनात्मक ज्ञान हमें रहे, इसलिये, पुनर्जागरण काल से २०वीं शती के प्रारंभ तक पच्छिम और पूर्व की गति किस प्रकार रही, इसकी तुलना में हम कुछ समीकरण (Equations) यहां बना लेते हैं। इन समीकरण को केवल अनुमानित सत्य समझना चाहिये—गणित की सत्य नहीं।

	विवरण
१. पूर्व में पुनर्जागृति (१४००–१६००)= पच्छिम में पुनर्जागृति (१४००–१६००)	दोनों स्थानों में विशेषतया धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्र में जागृति हुई। पच्छिम में साथ साथ विज्ञान में भी विकास हुआ, किंतु पूर्व में नहीं।
२. पूर्व में पदार्थ विज्ञान (१६००–१७५०)= पच्छिम में पदार्थ विज्ञान (१४००–१६००)	पुनः जागृति की इस लहर में चूंकि यूरोप में तो वैज्ञानिक विकास भी हुआ—किंतु पूर्वीय देशों ने इस दिशा में कोई गति नहीं की, अतः वैज्ञानिक विकास को जिस स्थिति तक यूरोप (१४००–१६००) में पहुंचा वैसी स्थिति पूर्व में १५० वर्ष बाद अर्थात् (१६००–१७५०) तक बनी रही। किंतु,—
३. पूर्व में सामाजिक आर्थिक जीवन स्तर (१६००–१७५०)= पच्छिम में सामजिक आर्थिक जीवन स्तर (१६००–१७५०)	चाहे यूरोप वैज्ञानिक उन्नति में एशिया से आगे बढ़ गया था, एवं वह १५० वर्ष आगे था–किंतु दोनों ओर के सामाजिक आर्थिक जीवन में कोई अन्तर नहीं पड़ा, क्योंकि पूर्वीय देशों में सामाजिक एवं आर्थिक दशा शताब्दियों पूर्व से ही बहुत उन्नत थी।
४. पच्छिम १७५० ई.= पूर्व १८५०.	१७५० से १८५० तक पच्छिम में व्यवहारिक विज्ञान (Applied Science) के अन्वेषणों द्वारा औद्योगिक क्रांति हुई। पच्छिम में एक नई सभ्यता की उत्पत्ति हुई;। "आधुनिक दृष्टिकोण" का विकास हुआ। सर्वप्रथम पूर्व और पच्छिम में मौलिकभेद आकर उपस्थित हुआ

सन् १८५० में पूर्व पच्छिम से, औद्योगिक एवं यांत्रिक कुशलता, एवं राजनैतिक-सामाजिक संगठन में प्राय: १०० वर्ष पीछे पिछड़ गया। पच्छिम की दुनिया बिल्कुल बदल गई, पूर्व में जीवन की गति प्राय: मध्य युगीय ढांचे में ही चलती रही। यह दशा प्राय: २०वीं शती के आरम्भ तक चलती रही। कह सकते हैं कि विश्व-इतिहास का १७५० से १९०५ ई. तक का काल अति गौरवशाली और अभूनपूर्व विकासमान रहा, किन्तु पूर्व में यही काल सर्वाधिक गतिहीन और शिथिल रहा। १९०५ में तो पूर्व जागा, जब यूरोपीय महादेश रूस को पूर्व के छोटे से देश जापान ने पराजित किया; और आज १९५६ में यद्यपि अभी तक पूर्वीय देश यूरोप और अमेरिका की अपेक्षा औद्योगिक एवं यांत्रिक कुशलता में बहुत पिछड़े हुए हैं—किन्तु दुनिया की सब गतिविधियों से ये परिचित हैं—उनके प्रति ये जागरूक हैं, एवं तीव्र गति से ये अपना विकास कर रहे हैं। आज तो विज्ञान ने दुनिया के देशों को एक दूसरे के इतना निकट ला दिया है कि संसार भर में सभ्यता का स्तर एकसा होजाना एवं भिन्न भिन्न सस्कृतियों में आधारभूत समानता आजाना बहुत सम्भव है। संसार भर में सांस्कृतिक एकता की बात करते समय यह शंका उठती होगी कि जब सब कालों में भिन्न भिन्न देशों की सभ्यता और संस्कृति भिन्न भिन्न रही है, तो अब वह कैसे एक हो सकती है, किन्तु यह बात मानते हुए हमें इतना नहीं भूल जाना चाहिये कि सब देशों में, सब कालों में सम्पूर्ण मानव जाति में—मनोवैज्ञानिक एकता रही है, उनके मानवीय हृदय गत भाव, भय, प्रेम, मोह, ईर्ष्या एक से रहे हैं—और इन भावों के उद्दीपन कारण भी एकसे रहे हैं।

पूर्व क्यों पीछे रह गया ?

विकास की गति की तुलना में कुछ समीकरण ऊपर दिए गए हैं। इन समीकरण का अध्ययन करते समय हमारे ध्यान में कुछ बातें आई हैं। भारत और चीन पच्छिम की अपेक्षा बहुत प्राचीन देश रहे हैं एवं इनकी सभ्यता और संस्कृति बहुत समुन्नत और उदात्त। यूरोप में जब मानव

बहुत अंशों तक असभ्य था उस समय भारत और चीन की सभ्यता बहुत ही बढ़ी चढ़ी थी। क्लाइव जब १८वीं शती में भारत में आया और उसने बंगाल में मुर्शिदाबाद नगर देखा था तब उसने कहा था कि इतना समृद्ध और विशाल नगर यूरोप में कहीं भी नहीं है। ऐसी ही समृद्ध और उन्नत दशा चीन, हिन्दचीन, हिन्देशिया में भी थी। प्रश्न यही उठता है कि पूर्व जहां की सभ्यता इतनी पुरानी और समृद्ध थी, जहां के मानव के पास साहित्य, कला, दर्शन, सामाजिक संगठन, व्यापार एवं उद्योग की थाती पहिले से ही थी, वह मानव यूरोप के उन अपेक्षाकृत असभ्य एवं बहुत पिछड़े हुए लोगों से १८वीं एवं १९वीं शताब्दियों में क्यों एक दम पीछे रह गया। इतिहासकारों ने इसके कारणों की चर्चा की है। पूर्व का मानव वस्तुतः अपनी संस्कृति के मूलतत्व, उसके भाव को भुला चुका था और उसकी जगह उसके नाम में प्रचलित कई निर्मूल संकीर्ण आर्थिक एवं सामाजिक मान्यताओं और विचारों की शृंखलाओं में बंध चुका था। धार्मिक एवं जीवन सम्बंधी संकीर्ण मान्यतायें कैसे पहले तो समाज के समृद्ध, शिक्षित और नेतावर्ग में प्रचलित हो गईं, और फिर किसी प्रकार जन जन तक फैल गईं—यह कहना कठिन है। इन प्रचलित विश्वासों और मान्यताओं को ही अपनी प्राचीन सभ्यता समझकर पूर्व का मानव उसकी पूर्णता और बड़प्पन में इतना अन्ध-विश्वासी हो गया कि वह मानने लगा था कि ज्ञान और विज्ञान का अन्तिम शब्द उनके प्राचीन ग्रन्थों में कहा जा चुका है। उसके आगे कुछ नहीं है। उसकी भावना इतनी संकीर्ण हो चुकी थी कि वह जाने अनजाने यह विश्वास करने लगा था कि मानों उसके देश और उसकी सभ्यता के बाहर कहीं भी उच्च सभ्यता एवं संस्कृति नहीं हो सकती, यहां तक कि आज भी भारत और चीन में ऐसे मनुष्य विद्यमान हैं जिनका यह विश्वास बना हुआ है कि भारत में जो कुछ भी वेदों में लिखा हुआ मिलता है उसके अतिरिक्त दुनिया में ज्ञान, विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में कुछ भी नई बात नहीं है। वेद समझ कर अध्ययन

की वस्तु नहीं केवल पूजा की वस्तु रह गये थे। ऐसा ही विश्वास कई चीनवासियों ने अपने प्राचीन ग्रंथ "परिवर्तन के नियम" एवं महात्मा कनफ्यूसियस की रचनाओं के प्रति बना रक्खा है। बहुसंख्यक साधारण जन की बात तो जाने दीजिये जो प्रत्येक देश में, प्रत्येक युग में अशिक्षित रहा है, जिसकी जानकारी बहुत सीमित रही है, किंतु उपरोक्त विश्वास उन लोगों का था जो अपेक्षाकृत समृद्ध एवं शिक्षित थे, संस्कृत थे, अतएव जो समाज नायक और सभ्यता एवं संस्कृति के प्रतिनिधि माने जासकते थे। जब उन्हीं ने अपनी अज्ञान-मूलक अहमन्यता में अपनी आंखें बंद करलीं तथा प्रकाश और प्रवाहशील वायु के द्वार रुद्ध कर दिये तो देश और जाति की गति रुक जाना और उसका पिछड़ जाना स्वाभाविक था। बजाय इसके कि जागरूक रहते हुए, अपनी दृष्टि में विशालता रखते हुए, वे नये प्रवाह को समझने का प्रयत्न करते, स्वयं जाकर देखते कि वह कहां से आरहा है, उससे सीखते उसको सिखाते, अपने गुण से उसको अनुप्राणित करते उसके गुण से स्वयं अनुप्राणित होते, वे अपनी संकीर्णता में आंखें मूंदे हुए ही रह गये। जब पच्छिम सामुद्रिक रास्तों से १५वीं शती में पूर्व के सम्पर्क में आया तब वह तो जागा, किंतु पूर्व पच्छिम के सम्पर्क में आकर नहीं जागा; बल्कि कहीं उसकी नींद में दखल न हो उसने नये झौंके को रोकने के लिये अपने द्वार और बंद कर लिये। चीन और जापान ने पच्छिम की धारा को आते हुए देखकर १७वीं १८वीं शती में अपने देशों के द्वार बिल्कुल बन्द कर लिये (चाहे १९वीं शती के मध्य में बेबस होकर फिर उन्हें वे खोलने भी पड़े), और भारत यद्यपि अपने देश के द्वार बन्द नहीं कर सका और पददलित होता गया, किन्तु, उसने अपने मानसिक द्वार नहीं खोले। वस्तुतः निर्भीक मुक्त चिंतन और विशालता और जन साधारण की राजनैतिक चेतनता जो भारत की परम्परा रही थी, ७वीं शती से ही कम होने लगी थी। धीरे धीरे उनके स्थान पर तुर्क राज्य कालीन मध्य यग तक धार्मिक और सामाजिक

संकीर्णता, जड़रूप आलस्य एवं राजनैतिक जागरूक हीनता ने अथवा अन्धकार-मय शासन जगा लिया था। पूर्वी या पच्छिमी तत्कालीन सभी देशों में ऐसी स्थिति होगई थी।

किन्तु रिनेसां युग (पुनर्जागृति युग), अर्थात् प्रायः १५वीं शती के मध्य से लेकर यूरोपीय लोग तो मध्यकालीन अंधेर युग की मानसिक गुलामी संकीर्णता,–नर्क, स्वर्ग, और परलोक के भय से मुक्त हो, इसी लोक और इसी जीवन को वास्तविक समझ इस दुनिया की–एवं प्रकृति और मनोविज्ञान की खोज में जुट गये, किन्तु पूर्व अपनी धार्मिक, सामाजिक संकीर्णता में जहां था वहीं जमा रहा और अपनी आलस्य की नींद में सोता रहा।

पूर्व में भी १५वीं शती में कुछ पुनर्जागरण हुआ अवश्य, किन्तु वह केवल सीमित धार्मिक-साहित्यिक क्षेत्र में। अपने आलस्य एवं मानसिक संकीर्णता से वह पर्याप्त मुक्त नहीं हो सका, इतना जागरूक और चैतन्य होकर वह नहीं उठ सका कि प्रकृति और दुनिया को निशंक सीधा देखता और उसमें दूर दूर तक विचरण करने लगता।

भारत में पुनर्जागरण :—हिन्दू मानस में, जड़ पूजा, वाम मार्ग, अन्धविश्वास, जांत पांत, पाठ पूजा का आडम्बर, बालविवाह, पर्दा,—ऐसी अनेक संकीर्ण धार्मिक एवं सामाजिक धारणायें घर कर गई थीं, इनके विरुद्ध एक सुधार की लहर चली,–जिसके प्रवर्त्तक थे सन्त, भक्त, कवि। इन संत लोगों और कवियों ने (जैसे कबीर, दादूदयाल, नानक, चैतन्य, मीरा, नामदेव ने) संस्कृत भाषा की परम्परा छोड़, जन-साधारण की भाषा में ही अनुपम काव्य साहित्य का निर्माण किया, एवं जन जन का मानस शुद्ध सरल भक्ति से आप्लवित किया, एवं अनेक संकीर्णताओं से उनको मुक्त किया–भाव मग्न करके। किन्तु वस्तुतः समाज के उन लोगों को जिनके हाथ में शक्ति थी, जो समृद्ध थे, जो शिक्षित उच्च वर्ग के थे, और जो धर्म और संस्कृति के रक्षक माने जाते थे उनको यह सुधार की धारा नहीं छू सकी, वरन् उधर से तो इसका विरोध ही हुआ।

अतः सम्पूर्ण समाज में कोई नव-जागृति नहीं आ सकी। उसके दृष्टिकोण में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आ सका। उनकी धार्मिक चेतना को केवल एक नया भाव-आधार मिल गया किन्तु तत्कालीन रूढ़ विचारधारा में कोई क्रांतिकारी उलट फेर नहीं हुआ।

दूसरी बात, इन भक्त संत कवियों का कार्य-क्षेत्र मुख्यतः धार्मिक था। प्रायः अन्तर्मानस एव व्यक्तिगत आचरण तक सीमित,—बाह्य-लोक, प्रकृति और राजनैतिक चेतना से सर्वथा असंबद्ध। इन भक्त, संत कवियों के अतिरिक्त और कोई लोक-नायक भी ऐसा नहीं हुआ जो उस लोक मानस को जो संकीर्ण, धार्मिक और रूढ़ सामाजिक मान्यताओं तक ही सीमित था, बाह्य प्रकृति अथवा विज्ञान और राजनैतिकता की ओर सचेष्ट करता। इसके विपरीत यूरोप में इसी युग में ऐसे महान् कवि एवं कलाकार हुए जो कविता और कला के धनी होने के अतिरिक्त वैज्ञानिक एवं राजनैतिक चेतना भी रखते थे, यथा :—इटली का महान् कवि दान्ते जिसने रोमन सभ्यता कालीन प्राचीन साहित्यिक भाषा लेटिन को छोड़ कर अपने काव्यों में इटालियन भाषा अपनाई (जिस प्रकार भारत में संस्कृत की परम्परा छोड़कर कवि प्रादेशिक लौकिक भाषा अपनाने लग गये थे), कवि होने के अतिरिक्त राजनैतिक नेता और क्रांतिकारी भी था जो अपने दल की तरफ से युद्ध क्षेत्र में लड़ा भी था, एवं बंदी होने पर वर्षों का कारावास भी सहन किया था। फिर इटली का महान् कलाकार लिओनार्दो दा विंची—जो कलाकार होने के अतिरिक्त इंजिनियर, और वैज्ञानिक भी था—जिसने सर्वप्रथम पथराई हुई पत्तियों और हड्डियों (Fossils) की महत्ता को समझा था। कहने का मतलब यह है कि भारतीय समाज का कोई भी अंग, उसका कोई भी लोकनायक प्रकृति विज्ञान और राजनैतिक लोक की ओर सचेष्ट नहीं था—और न यह सचेष्टता पुनर्जागृति काल में ही आ पाई। पूर्व में, मध्य युग में और तदन्तर भी दार्शनिक पैदा होते रहे, धर्म-गुरु पैदा होते रहे, धर्म और दर्शन पर वाद विवाद भी होते रहे—किन्तु वे सब एक बंधन को मानकर

चलते थे; वह यह कि प्राचीन शास्त्र प्रमाण हैं, अतः उनके विवाद प्राकृत *जीवन और प्राकृत लोक से दूर शब्दों की तोड़ फोड़ और उनका अर्थ अनर्थ करने तक ही रह जाते थे। प्राचीनता एवं शास्त्रीयता की मानसिक* गुलामी से मुक्त, वास्तविक जीवनी शक्ति वाला कोई भी तो लोक नेता या समाज का अंग ऐसा नहीं निकला जो लोक-मानव की दृष्टि इसी वास्तविक जीवन, इसी वास्तविक लोक और प्रकृति की ओर उन्मुख करता, जो गुलाम लोकमानस को कुछ तो निर्भीकता, कुछ तो स्वतंत्रता की अनुभूति करवाता।

चीन में पुनर्जागरण :—चीन में भी प्रायः इन्हीं शताब्दियों में अर्थात् १५वीं से १७वीं तक पुनर्जागृति हुई। विशेषतः मिंग राज्य वंश काल में (१३६०–१६४३) बौद्धिक, दार्शनिक, एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों में एक आन्दोलन चला जिसे बुद्धिवाद (चीनी में ली शिया) कहते हैं। इस आंदोलन के प्रवर्त्तक अनेक प्रसिद्ध विद्वान थे, जिनमें चोटुन-वी एवं वांग यांग मिन विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने प्राचीन ग्रन्थों एवं प्राचीन महात्माओं की शिक्षाओं का पुनरुत्थान किया, एवं विश्व और मानव जीवन का बुद्धिवादी समीक्षा करने का प्रयत्न किया एवं इस काल से पूर्व प्रचलित दो संकीर्ण रूढ़िगत विचारधाराओं या प्रवृत्तियों के प्रवाह को बदला। ये दो रूढ़ प्रवृत्तियां थीं:—पहिली 'निराशावाद' की प्रवृत्ति, जिससे प्रभावित लोग नाम तो त्याग का लेते थे और दुनिया को सारहीन बताते थे, किन्तु रहते खूब ठाट-बाठ से थे। यह एक पाखंड था। दूसरी प्रवृत्ति रीतिवाद की थी, जिससे प्रभावित लोग बाह्य नियमों और रीतियों की दुहाई देते थे, और वस्तु और कला की आत्मा जानने का प्रयत्न नहीं करते थे। इससे जीवन में जड़ता आगई थी। बुद्धिवाद ने मानव चेतना को फिर से सचेष्ट और जागृत किया।

चीन की सभ्यता और संस्कृति अति प्राचीन थी—यहां का सामाजिक आर्थिक जीवन, एवं यहां की कला और साहित्य जैसा कि ऊपर समीकरणों में निर्देशित किया गया है, १७वीं १८वीं शती तक यरोप की

अपेक्षा बहुत समृद्ध और सुसंगठित थे। यहां का वैज्ञानिक ज्ञान भी बहुत बढ़ा हुआ था; यहां तक कि चीन के ही तीन प्राचीन आविष्कारों (यथा–मुद्रण, कुतुबनुमा और बारूद) को अपना कर यूरोपवालों ने १५वीं १६वीं शताब्दियों में तीव्रगति से प्रगति के पथ पर चलना शुरू किया था। चीन भी मध्य युग के 'निराशावाद' और रीतिवाद (अर्थात् रूढ़िवाद) के बाद 'बुद्धिवाद' के प्रभाव से कुछ उठा था किन्तु १७वीं शती तक आते आते ऐसा सो गया और १८वीं शती में पच्छिम से आते हुए झौंके को अपने द्वार बन्द कर ऐसा रोकने का प्रयत्न किया कि भारत की भांति वह भी अपनी प्राचीनता की अहमन्यता, संकीर्णता और अजीब जागरूकहीनता और आलस्य के फलस्वरूप,–पच्छिम से पिछड़ गया। चीन का इस प्रकार पिछड़ जाने का एक और विशेष कारण भी बतलाया जाता है—और वह है चीनी भाषा की दुरूहता। भाषा की दुरूहता की वजह से चीनी विज्ञान साधारण जन की थाती नहीं बन पाया—और जब इस बात को देखकर चीनी भाषा में सुधार के आन्दोलन चले तो वहां के विशिष्ट मंडारिन (शिक्षित राज-कर्मचारी) वर्ग ने अपने वर्ग स्वार्थ के हित इन आन्दोलनों का विरोध किया, अतः प्रगति रुकती गई।

---

(४४)

यूरोप में पुनर्जागृति (रिनेसां)

रिनेसां की भूमिका

१५वीं शती में यूरोप में रिनेसां (पुनर्जागृति) वह मानसिक एवं बौद्धिक आन्दोलन था जिसने मानव को उन रूढ़िगत धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक मान्यताओं की शृंखलाओं से मुक्त किया जो उसके 'मानस' को अनेक शताब्दियों से जकड़े हुए थीं, और

जिन्होंने उसके मन को भय के भार से दबा रक्खा था। मानसिक दासता और आत्मिक भीरुता से मुक्त होने के लिये मानव गतिमान हुआ,—मानव विकास के इतिहास में यह अनुपम घटना थी। ठीक किस वर्ष से यह गति प्रारम्भ हुई–यह कहना कठिन है,–इतना ही कहा जा सकता है कि १५वीं शती के उत्तरार्ध में यह गति स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई, और इसने उस दृष्टिकोण की नींव डाली जिसे वैज्ञानिक या आधुनिक दृष्टिकोण कहते हैं। मानसिक, बौद्धिक मुक्ति की ओर मानव का यह प्रयाण था, मानव अभी तक अपने गन्तव्य तक नहीं पहुंचा है–उसकी ओर अभी तक वह गतिमान है।

मध्य युग का जीवन मुख्यतः दो मान्यताओं से सीमित था। सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में सामन्तवाद की भावना परिव्याप्त थी; मानसिक-धार्मिक क्षेत्र में, रूढ़िगत स्वर्ग, नरक, प्रलय, गिरजा, पोप, पाप—आदि की भावना। लोग अपना जीवन मानों मृत्यु की छाया के नीचे बिताते थे और हर समय उनके मन पर इस बात का भार रहता था कि किस प्रकार इस जीवन में अपने शरीर को कष्ट देकर वे अपना परलोक सुधारलें। वस्तुतः उनका यह विश्वास था कि पृथ्वी के नीचे आकाश को पार करके नरक है जहां शैतान और उसके साथी रहते हैं; और पृथ्वी के ऊपर आकाश पार करके स्वर्ग है, जहां ईश्वर और उसके आज्ञाकारी दूत रहते हैं। स्वर्ग, नरक, शैतान, दूत इत्यादि का एक वास्तविक सा चित्र उनके दिमाग़ में रहता था–प्रत्यक्ष दुनिया के दृश्यों से भी अधिक स्थूल और वास्तविक। रिनेसां ने मानव मन को इन बातों के भार से मुक्त किया और उसे इसी जीवन और इसी लोक में सुख, सौंदर्य और वास्तविकता ढूंढने के लिए प्रेरित किया। स्वर्ग, नरक, परलोक जिनको मानव ने वास्तविक मान रक्खा था वे तो वहम की बातें और अवास्तविक होगईं, और यह दुनिया और लौकिक जीवन जिनको उसने तुच्छ मान रक्खा था, पूर्णतः वास्तविक और सत्य होगई। पुरानी विचारधाराओं, मान्यताओं और विश्वासों में उच्छेदन प्रारम्भ

हुआ,—और उनके स्थान पर नये विचार, नई भावनायें, नई मान्यतायें आने लगी। मानव स्वर्ग, नरक, प्रलय, आत्म-मुक्ति आदि की मान्यताओं और भय से मुक्त हो, प्रकृति और जीवन की ओर सीधा, वैज्ञानिक परीक्षण की दृष्टि से देखने लगा। कई दिशाओं से इस गति को शक्ति मिली।

(१) १२वीं से १५वीं शती तक संसार में घुमक्कड़ मंगोल जाति का प्रभाव रहा था—समस्त पूर्वीय यूरोप में, चीन में, पच्छिम एशिया में उत्तर भारत में। इन्हीं मंगोल के सम्पर्क से यूरोप में चीन के तीन आविष्कार पहुंचे यथा:—कागज़ और मुद्रण, समुद्रों में मार्ग दर्शन के लिये कुतुबनुमा एवं लड़ाई में प्रयोग करने के लिये बारूद। इन आविष्कारों के ज्ञान ने यूरोपीय लोगों के जीवन में एक अभूतपूर्व परिवर्तन कर डाला 'पच्छिम' 'पूर्व' के सम्पर्क से गतिशील बना। कागज़ और मुद्रण से जन साधारण में ज्ञान का प्रकाश पहुंचा; कुतुबनुमा से नये नये सामुद्रिक रास्तों की खोज होने लगी; एवं बारूद से सामन्ती शक्ति को ध्वस्त किया गया, केन्द्रीभूत राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होने लगी।

(२) सन् १४५३ ई० में उस्मान तुर्क लोगों की बढ़ती हुई शक्ति ने पूर्वीय रोमन साम्राज्य के अन्तिम स्थल कस्तुनतुनिया पर हमला किया। तुर्क सुल्तान मौहम्मद द्वितीय ने नगर के चारों ओर घेरा डाला, ईसाई सम्राट कोन्सटेनटाइन हाथ में तलवार लिये हुए युद्ध क्षेत्र में मारा गया—नगर की एक लाख जन-सँख्या में से केवल ४० हजार बचे—नगर के प्रसिद्ध 'सेंट सोफिया' के गिरजे पर सलीब (Cross) के स्थान पर 'चन्द्रतारा' का इस्लामी झंडा फहराने लगा। अनेक ग्रीक विद्वान्, पंडित, जिनके पास प्राचीन ग्रीक एवं रोमन साहित्य के संग्रह थे—सब अपनी बौद्धिक सम्पत्ति लेकर पूर्व की ओर भागे, इटली में जाकर उन्होंने शरण ली, क्योंकि पड़ोसी बालकान प्रायद्वीप समस्त प्रान्तों पर तो तुर्क अधिकार स्थापित हो चुका था। ग्रीक और रोमन विद्वान् जो अपने साहित्य को लेकर इटली पहुंचे, उनसे प्राचीन ग्रीक ग्रंथों के अध्ययन का

प्रचार हुआ–और लोगों में उस प्राचीन ज्ञान के पुनरुत्थान की एक धुन सी लग गई। इटली पुनरुत्थान का केन्द्र बना। उस समय यूरोप की राजनैतिक स्थिति इस प्रकार थी:–१५ वीं शती तक यूरोप में मंगोल लोगों का प्रभाव प्राय: समाप्त होकर, आधुनिक युग का प्रारम्भ राष्ट्रीय एक-तंत्रीय (राजाओं के) राज्यों के विकास से प्रारम्भ हुआ। कई देशों में सामन्तवादी शक्तियों का विरोध हुआ और शक्तिशाली केन्द्रीय राजाओं की स्थापना हुई। फ्रान्स में राजा लुई ११ वें ने फ्रान्स के भिन्न भिन्न सामन्ती प्रान्तों का एकीकरण किया, स्पेन में इसी प्रकार राजा फर्डीनेंड और रानी इसावेला ने प्रान्तीय राज्यों को मिलाकर एवं मुसलमानों के अन्तिम राज्य ग्रनाडा को पराजय कर स्पेन का एकीकरण किया इङ्गलेंड में यही काम हेनरी सप्तम ने किया, किन्तु जर्मनी का तथाकथित पवित्र रोमन साम्राज्य एक राष्ट्रीय सूत्र में नहीं बंध सका–यही हाल इटली का था, जहां के छोटे छोटे राज्यों के शासक परस्पर प्रतिद्वन्द्वता का भाव रखते थे, अत: एक सूत्र मे संगठित नहीं हो सकते थे।

(३) ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मध्य युग में स्वतंत्र विचार और प्रकृति की खोज की परम्परा बिल्कुल लुप्त थी। प्रतिभाशाली व्यक्ति संस्कृत एवं ग्रीक मूल ग्रंथों से अरबी भाषा में अनुवादित ग्रंथों का एवं मूल अरबी ग्रन्थों का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद कर रहे थे–विशेषतया गणित, नक्षत्र, चिकित्सा एवं भौतिक विज्ञान के ग्रन्थों का। इसी प्रकार विज्ञान की परम्परा जो समूल नष्ट नहीं हो चुकी थी, अनुकूल परिस्थितियां पाकर पनप उठी। ११ वीं से १३ वीं शतियों में जो धर्मयुद्ध (Crusades) हुए थे उनसे भी यूरोपवासियों का सम्पर्क पूर्वीय देशों से बढ़ा था।

(४) १४वीं शती के मध्य में संसार पर एक भयंकर आफत आई। यह आफ़त 'प्लेग बीमारी' की थी–जो इतिहास में 'काली मृत्यु' (Black death) के नाम से प्रसिद्ध हुई। स्यात् मध्य एशिया या दक्षिणी रूस से

इसने फैलना शुरू किया और कुछ ही महीनों में एशिया-माइनर, मिश्र, उत्तरी अफ्रीका होती हुई समस्त यूरोप और इङ्गलैण्ड पर और पूर्व में चीन पर इसकी भयंकर काली छाया छा गई। पलपल में बेतहाशा आदमी मरने लगे—एक बार ऐसा प्रतीत होने लगा था मानो मनुष्य जाति ही विनिष्ट होने जा रही हो। करोड़ों प्राणी कुछ ही महीनों में 'मौत के मुंह' में समा गये। इस दुखदाई घटना की इतिहास पर कई प्रतिक्रियायें हुईं। यूरोप में मानव ने समझा कि यह उसको चेतावनी है कि वह प्रकृति और प्रकृति के नियमों को समझे, और उनको समझकर प्रकृति के अनिष्टकर शक्तियों से मोर्चा ले। मजदूरों की कमी हो गई थी अतः समस्त यूरोप में मध्यकालीन युग में खेतों पर काम करने वाले जो दास (Serfs = भूमि हीन मजदूर) थे-उन पर जमींदारों, बड़े बड़े भूपतियों की ओर से जोर पड़ा कि वे अधिक परिश्रम करें और किसी भी जमीन को बिना जोते न छोड़ें —। उस दुख की घड़ी में भूमिहर (Serfs) मजदूरों ने मजदूरी की दर में वृद्धि चाही–; जमीदारों ने इसका विरोध किया और किसानों पर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। अब तक तो गरीब दास (किसान) यह समझते आये थे—और यही उनका धर्म, उनके धर्म-गुरु और धार्मिक नेता उनको बताते आये थे—कि दुनियाँ में यदि सामाजिक असमानता है—कोई धनी है, कोई गरीब है, कोई भूपति है, कोई मजदूर,—यह सब दैवी व्यवस्था है–ईश्वरीय करनी है–इसमें मनुष्य का कहीं भी कुछ भी दखल नहीं। किन्तु अब पीड़ित किसान को भान होने लगा कि सामाजिक संगठन मनुष्य की ही कृति है–सामाजिक असमानता अन्याय है–अतः इस काल में यूरोप में स्थल स्थल पर किसान विद्रोह हुए। इङ्गलैण्ड में एक गरीब पादरी जोहन बैल ने गरीब किसानों की मूक भावनाओं को प्रखर वाणी दी और २० वर्ष तक जगह जगह वह मानव अधिकारों की समानता की घोषणा करता फिरा–उसने कहा— "जब आदम खेती करता था और हौवा कातती थी, तब कौन सज्जन साहूकार था ?" अर्थात् सब प्राणी समान हैं—कोई ऊंचा नीचा नहीं।

क्या अधिकार है भूपतियों को कि वे गरीब किसानों के कड़े परिश्रम पर मजे उड़ायें—किसान मेहनत करें और कुछ खायें नहीं,—और वे मेहनत कुछ न करें और हथियालें सब कुछ।" इसी प्रकार की भावनायें कई देशों में अभिव्यक्त हुई और १४ वीं १५ वीं शतियों में कई किसान विद्रोह हुए—। वे सब क्रूरता से दबा दिये गये–किंतु मध्य-युगीय सामंत-शाही की जड़ उनने उखाड़ फेंकी। संगठित समाज के प्रति जिसका आधार धर्म और ईश्वर बन चुके थे—इस प्रकार की विरोध भावना का प्रदर्शन–मानव इतिहास में पहली घटना थी।

प्रायः उपरोक्त ३–४ दिशाओं के झोंकों से कुछ होश में आकर यूरोप में पुनर्जागृति की लहर पैदा हुई जिससे आधुनिक मानस और आधुनिक युग का आगमन हुआ।—जीवन के सभी क्षेत्रों में यह हुआ—इसका अध्ययन हम निम्न ४ धाराओं में करेंगे।—१. मानसिक-बौद्धिक विकास। २. नई दुनिया, नये देश एवं नये मार्गों की खोज। ३. सामाजिक एवं राजनैतिक मान्यताओं में परिवर्तन ४. धार्मिक सुधार—जिसका विवेचन पृथक अध्याय में होगा।

१. मानसिक बौद्धिक विकास

प्रकृति में किसी परा (अलौकिक) प्रकृति-शक्ति का नियंत्रण नहीं है–इस बात को मानकर प्रकृति का अध्ययन करना, उसका विश्लेषण करना, यह काम प्राचीन ग्रीस में ही प्रारम्भ हो गया था, जब वहां के मानव ने मुक्त मानस और मुक्त चिन्तन का आभास दिया था। ग्रीक सभ्यता के पतन के साथ साथ यह मुक्त चिन्तन समाप्त हो चुका था। उसके बाद मुक्त चिन्तन द्वारा वैज्ञानिक छानबीन का कुछ काम मिश्र में टोलमी ग्रीक राजाओं द्वारा स्थापित अलेक्जेन्डिरिया नगर में हुआ। मध्य-युग में ये बातें प्रायः समाप्त हो चुकी थी यद्यपि कहीं कहीं अरब लोगों ने भारत और प्राचीन ग्रीक साहित्य के सम्पर्क से वैज्ञानिक परम्परा चालू रक्खी थी। ऐसा भी नहीं कि मध्य युग में इस परम्परा का एक भी नक्षत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ हो। मध्य युग के ही

इटली का कलाकार लियोनार्दो दा विंची, ईंजिनियरिङ्ग एवं वैज्ञानिक प्रवृत्तियों में भी व्यस्त था लिओनार्दो—मध्य युग एवं आधुनिक युग के बीच मानो एक कड़ी है। फिर मध्य युग में ही गिर्जाओं, पादरियों के बिहारों अथवा आश्रमों में अनेक वाद-विवाद होते थे, जो कि धार्मिक नैयायिक विवाद (Scholasticism) कहलाते थे।—इनमें पादरी और धर्म-गुरु यही सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे कि जितने भी ईसाई धर्म के सिद्धान्त हैं, एवं इस धर्म से सम्बन्धित प्राचीन धर्म ग्रन्थों में जो सृष्टि सम्बन्धी तथ्य वर्णित हैं वे सब विज्ञान के अनुकूल हैं। इससे और कोई बात स्पष्ट हो या न हो, कम से कम इतना आभास तो अवश्य मिलता है कि उस युग में भी कुछ विचारक अवश्य ऐसे होंगे जो बुद्धिवाद के आधार पर बातों को सोचते होंगे। उपरोक्त विचारकों में रोजरबेकन का नाम उल्लेखनीय है। रोजरबेकन (१२१४–१२९४ ई०) इङ्गलैण्ड में ओक्सफोर्ड का एक पादरी था। उसने मानव जाति को पुकार पुकार कर आदेश दिया कि प्रयोग करो प्रयोग करो; प्राचीन विश्वासों और शास्त्र प्रमाणों से परिचालित मत हो। दुनिया की ओर देखो। रस्म-रिवाज, शास्त्रों के प्रति अन्ध आदर-भाव, एवं यह आग्रह कि ऐसी कोई भी नई बात जो शास्त्रोक्त न हो ग्रहण नहीं करना—ये ही अज्ञान के मूल में हैं। इन संकीर्णताओं को दूर करोगे तो हे मनुष्यो तुम्हारे सामने असीमित शक्ति की एक नई दुनिया के द्वार खुल जायेंगे। उसी ने कहा था कि ऐसी मशीनों वाले जहाज बनना संभव हैं जो बिना मल्लाहों के भयंकर से भयंकर समुद्रों को पार कर सकें, ऐसी गाड़ियां संभव है जो बिना बैल घोड़ों की सहायता के चल सकें, और हवा में उड़ने वाली ऐसी मशीनें संभव हैं जिनमें मानव आकाश की यात्रा कर सके। वस्तुतः रोजरबेकन उस युग का एक प्रतिभावान व्यक्ति था। १३ वीं १४ वीं शताब्दियों में ही कुछ ऐसे अर्ध–वैज्ञानिक थे जो साधारण धातुओं यथा तांबा पीतल से अनेक प्रयोग करके स्वर्ण बनाने की फिक्र में थे एवं अनेक ऐसे ज्योतिष-विद थे जो मनुष्यों का भाग्य बतलाने के

लिये नक्षत्रों का अध्ययन किया करते थे। उनके उद्देश्यों में कोई तथ्य नहीं था, किन्तु उस बहाने कुछ वैज्ञानिक प्रयोग और अध्ययन अवश्य होता रहता था।

मध्य युग की इस पृष्ठ भूमि में ग्रीक भावना, ग्रीक साहित्य, दर्शन और विज्ञान से यूरोप के मानव का १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सम्पर्क हुआ। लगभग इसी काल में कागज और मुद्रण का प्रचलन यूरोप में हुआ। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि ये दोनों कलायें मंगोल और अरब लोगों के द्वारा चीन से पच्छिम में आई थीं। इन दोनों बातों ने यूरोप में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। इन्हीं से यूरोप का पुनरुत्थान हुआ। १३ वीं शती तक कागज बनाने की कला इटली तक पहुंच गई और वहां कई कागज के मील खुल गये। १४ वीं शती के अन्त तक जर्मनी इत्यादि देशों में कागज का पर्याप्त उत्पादन होने लगा, इतना कि यदि पुस्तकें मुद्रणालयों में हजारों की संख्या में भी छपें तब भी पर्याप्त होगा। इसी के साथ साथ इन्हीं वर्षों में मुद्रण-कलों का आविष्कार हो गया। सन् १४४६ ई० के लगभग कोस्टर-(१३७०-१४४० ई०) नामक व्यक्ति होलेंड में एवं गूटनबर्क (१३९७-१४६८ ई०) नामक व्यक्ति जर्मनी में चलनशील अक्षरों यानी टाइप से मुद्रण कर रहे थे। सन् १४५४ ई० में लेटिन भाषा की पहिली बाइबल मुद्रित की गई। अकेले इटली के वेनिस नगर में दो सौ से अधिक मुद्रणालय हो गये, इनमें एन्डीन का मुद्रणालय प्रसिद्ध था। यहां इटली के कवि, साहित्यकार और विचारक एकत्रित होते थे। मुद्रण और कागज की सहायता से ज्ञान का विस्तार हुआ, अनेक प्राचीन पुस्तकें छपछपकर साधारण जन में फैल गईं। उससे मानव मन को ज्ञान का आलोक प्राप्त हुआ। वह ज्ञान जो एक गुप्त रहस्य माना जाता था एवं पंडितों तक ही सीमित था, अब जन साधारण की निधि बन गया। यूरोप के मानव की बुद्धि प्रयास करने लगी अपनी मुक्ति और अभिव्यक्ति के लिये। १७वीं शती में पेरिस, ओक्सफोर्ड और बोलोना विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और

उनका विकास हुआ। उनमें दार्शनिक वाद-विवाद होते थे और प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों यथा प्लेटो और अरस्तु का, धर्म शास्त्र एवं जस्टीनियन कानून का अध्ययन होता था। इसी युग में आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं जैसे अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश तथा इटेलियन आदि का अभूतपूर्व विकास और उन्नति हुई। इटली, फ्रांस, इङ्गलैंड में मानव-मानस जो मानो बद्ध था,—मुक्त होकर अब उल्लासमयी कल कल धारा में प्रवाहित हो चला।

इटली में वहां के महाकवि दान्ते से प्रारम्भ होकर (जिनका जिक्र अन्यत्र आचुका है) लेखक पीट्राक (Petrarch) (१३०४–१३७३ ई०) की कविताओं में और बोकैटचो (१३१३–१३७५ ई०) (Boccaccio) की डेकामीरोन (Decaemeron) कहानियों में वहां की प्रतिभा प्रस्फुटित हुई। इस प्रतिभा की सबसे अधिक उदात्त और सुन्दर अभिव्यक्ति हुई वहां के कलाकारों में, यथा लिओनार्डो डा विंची (१४५२–१५१९ ई०), माइकेल एन्जेलो (१४७५-१५६४ ई०) एवं रैफेल (१४८३–१५२० ई०) में। डा विंची के "मोनालिसा" (Mona-lisa) चित्र को आज भी मानव चकित आंखों से देखता है। स्पेन में महान् साहित्यकार सरवेंटीज (१५४७–१६१६ ई०) (Cervantes) ने प्रसिद्ध शेखचिल्ली चरित्र डोन क्विक्सोट (Don Quixote) की, नाटककार कालडेरोंन (१६००–१६८१ ई०) (Calderon) ने रोमांच नाटकों की, एवं चित्रकार विलासक्वीज (१५९९–१६६० ई०) (Velazquez) ने सुन्दर चित्रों की रचना की। नीदरलैंड (होलेंड, बेलजियम) यद्यपि कोई महान् साहित्यकार पैदा नहीं कर सका, किन्तु वहां के चित्रकारों ने अपने देश के प्राकृतिक दृश्यों को चित्रित कर उनमें एक नये जीवन की उद्भावना की। जर्मनी में नव जागृति विशेषतः धार्मिक क्षेत्र में हुई; यहां बुद्धिवाद प्रखर रूप में प्रकट हुआ। फ्रांस में उत्पन्न हुए प्रसिद्ध लेखक रबेलास (Rabelais), निबंधकार मोंटेन (१५३३–१५९२ ई०) (Montaigne) जिनके निबन्ध सहज सरल मानवीय भावनाओं से हंसते हैं; नाटककार कोर्नेल

(१६०६–१६८४ई०) (Corneille) रेसीन (Racine) और मोलयेर (१६२२–१६७३ ई०) (Moliere) एवं कवि ब्वेलो (१६३६–१७११ ई०) (Boileau).

इङ्गलैंड में सबसे प्रखर मानवीय वाणी उद्भाषित हुई संसार के महाकवि शेक्सपियर (१५६४–१६१६ ई०) (Shakespeare) की। इसी लोक और प्रकृति की घटनाओं और मानवीय-चरित्र के आधार पर सत्य मार्मिक हृदयगत भावों के एक अद्भुत लोक की रचना उसने अपने नाटकों में की जो आज भी मन को उदात्त भावनाओं से आप्लावित और अनुप्राणित करता है, और युग युग में करता रहेगा। सचमुच आश्चर्य होता है कि वह कौनसी उसके मस्तिष्क में और अन्तरलोक में चेतना की विभूति थी कि वह इतने वास्तविक किन्तु अनोखे सौन्दर्यमय लोक की सृष्टि कर सका। उसके रोमियो जूलियट (Romeo Juliet), ऐज यू लाइक इट (As you like it), मरचेंट आफ वेनिस (Merchant of Venice), और फिर ओथेलो मैकबेथ, किंगलीयर, हेमलेट और, टेम्पेस्ट (Othello, Macbeth, King Lear, Hamlet, & Tempest)—नाटक जिनमें जीवन और लोक की व्याख्या के अतिरिक्त अनुपम काव्य-सौन्दर्य भी है; एवं उसके मुक्त गीत मानव चेतना को हर युग में आनन्दानुभूति कराते रहेंगे। फिर १७ वीं शती के उत्तरार्द्ध में महाकवि मिल्टन (१६०८–१६७४ ई०) का नाम उल्लेखनीय है जिसमें बुद्धिवाद, सात्विक धर्म और सौन्दर्य भावना का अनुपम सामंजस्य है। उसके पेरेडाइज लोस्ट (Paradise Lost), पेरेडाइज रिगेंड (Paradise Regained) महाकाव्य ईसाई धर्म की पृष्ठ भूमि में मानव की आध्यात्मिक आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाले उदात्त काव्य ग्रंथ हैं। साथ ही साथ उस काल के मानवतावाद के प्रवर्त्तकों में से एक विशेष व्यक्ति थोमस मूर (Thomas Moore) (इंगलैंड १६०५–१६७२ ई० तक) का नाम उल्लेखनीय है। उसने ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के रिपबलिक (Republic) के समान एक

आदर्शात्मक राज्य की कल्पना यूटोपिया (Utopia) नामक ग्रंथ में की। "यूटोपिया" वस्तुतः एक काल्पनिक द्वीप था। जहां पर सब लोग मंगल-मय मानवीय प्रकृति से प्रेरित होकर, वस्तुओं का समान बंटवारा करके, प्रत्येक प्रकार की असमानता से रहित स्वस्थ और सुखी जीवन बिताते थे। उस युग में जब अन्ध धार्मिक विश्वासों का आधिपत्य था, ऐसे साम्यवादी समाज की कल्पना करना जहां पर हरएक काम और व्यवस्था किसी भी परोक्ष सत्ता की मान्यता से मुक्त हो,—सचमुच एक साहस भरा काम था।

इस युग के यूरोपीय देशों के प्रायः सभी साहित्यकारों में ये विशेष-तायें दृष्टिगोचर होती हैं कि उनके विचार मध्य-युगीय नैयायिक अर्थात् धर्म सम्बन्धी वादविवादों एवं मान्यताओं से मुक्त हैं धार्मिक (Theo-logical) सत्ता के प्रति उनमें विरोध भावना है, नये आकाश और नई पृथ्वी के प्रति जिसका दर्शन लोगों को तत्कालीन नक्षत्र-विद्या-वेत्ता एवं साहसी मल्लाह करा रहे थे, उनमें रोमांच का भाव है; एवं ग्रीक और रोमन साहित्य में और उसके द्वारा जीवन में उन्हें विशेष सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। मध्य युग में न तो साहित्य का इतना ज्ञान था, न इतना विकास और प्रसार; और जो कुछ भी था वह एकाध को छोड़ कर विशेषतः रुढ़िगत धार्मिक शास्त्रों और विचारों की सीमा में बद्ध था।

१६वीं १७ वीं शताब्दियों में यूरोप में अनेक प्रतिभावान व्यक्तियों का उद्भव हुआ जिनका नाम विज्ञान के क्षेत्र में स्मरणीय है। इटली के लिओनार्डो डा विंची का नाम जो एक कलाकार होने के साथ साथ प्रकृति विज्ञान-वेत्ता एवं वनस्पति-शास्त्री भी था, पहिले भी आ चुका है। पोलेण्ड के विज्ञान-वेत्ता कोपरनिकस (१४७३–१५४३) ने आकाश के नक्षत्रों की चाल का गहन अध्ययन किया और यह सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है न कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर जैसा ईसाई धर्मी लोग विश्वास करते थे। इटली के विज्ञान-वेत्ता गेलिलियो (१५६४–१६४२) ने "गति विज्ञान" (Science motion) की नींव

डाली और सब से पहला दूर-दर्शक यन्त्र (Telescope) बनाया। फिर संसार के महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने (१६४२–१७२६) भौतिक विज्ञान की दृष्टि से इस विश्व की एक रूप-रेखा प्रस्तुत की और नक्षत्रों में आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त का अविष्कार किया। विज्ञान की प्रगति की विधिवत् जानकारी रखने के लिये लन्दन में सन् १६६२ ई० में "रोयल-सोसायटी" की स्थापना हुई और फिर कुछ ही वर्ष बाद फ्रांस में भी ऐसी ही एक अन्य संस्था की स्थापना हुई। दार्शनिक क्षेत्र में दो महान् व्यक्ति हुए जिन्होंने सब प्रकार की "परोक्ष, परा-प्रकृति" शक्ति से अबाधित और मुक्त, प्राकृतिक और सृष्टि विज्ञान की नींव डाली। ये दो व्यक्ति थे इङ्गलैण्ड के फ्रांसिस बेकन (१५६१–१६२६) और फ्रांस के देकार्त (Descartes-१५९६–१६५० ई०)। उन्होंने बतलाया कि यह दृश्य संसार एक वास्तविक सत्य वस्तु है। इसके रहस्यों का उद्घाटन प्रायोगिक ढंग से होना चाहिये। ऐसे विचारों के प्रभाव से ही मानव मन स्वर्ग, नर्क, देव, भूत इत्यादि के अनेक निर्मूल भयों से मुक्त हुआ और वह अपने सुख दुःख का कारण इसी प्रकृति और समाज संगठन में ढूंढने लगा न कि किसी देव या भूत में।

२. नई दुनिया एवं नये मार्गों की खोज
(मानव के भौगोलिक ज्ञान में वृद्धि)

प्राचीन काल में क्या भारत क्या चीन एवं क्या ग्रीस और रोम में, कहीं भी लोगों को पृथ्वी की भौगोलिक स्थिति एवं पृथ्वी पर स्थल भाग और जल भाग की स्थिति का स्पष्ट ज्ञान नहीं था। बहुधा यही विश्वास था कि पृथ्वी चपटी है, गोल नहीं। प्राचीन भारत में चीनी और ग्रीक यात्रियों के भारत-यात्रा के वर्णन मिलते हैं किन्तु वे एक देश विशेष और वहां की सामाजिक स्थिति के वर्णन हैं न कि कोई भौगोलिक वर्णन। धर्म ग्रंथों में दुनिया के मानचित्रों का वर्णन मिलता है, किन्तु वह सब धार्मिक, आध्यात्मिक दृष्टि से किया हुआ वर्णन है। उससे इस पृथ्वी

और इसके देशों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं होता न तत्कालीन भिन्न भिन्न देशों के सही मानचित्र का। प्राचीन हिन्दू जैन साहित्य में एवं यहूदी बाइबल और ईसाई बाइबल और अन्य धर्म पुस्तकों में भिन्न भिन्न लोकों का जिक्र आता है किन्तु उन लोकों की कल्पना धार्मिक अथवा आध्यात्मिक आधार पर की हुई है। अनेक नगरों एवं देशों का भी जिक्र आता है किन्तु वह जिक्र भारत, मध्य एशिया, ग्रीस, रोम, चीन, पूर्वीय द्वीप समूह (वृहत्तर भारत) पच्छिमी एशिया एवं उत्तरी अफ्रीका तक ही प्रायः सीमित है। यह केवल जिक्र है, उस काल में देशों के मानचित्र, प्राकृतिक दशा आदि का सुसंगठित ज्ञान नहीं। मध्य अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, प्रशान्त महासागर, प्रशान्त महासागर में स्थित अनेक अन्य द्वीप, एवं अमेरिका उस काल में अज्ञात थे। प्राचीन काल में केवल मिश्र के ग्रीक शासक टोलमी के जमाने का भौगोलिक विज्ञान सम्बन्धी एवं मानचित्र बनाने की विज्ञान कला का कुछ साहित्य उपलब्ध होता है और कुछ नहीं।

वस्तुतः तो १५ वीं १६ वीं शताब्दी में जब से यूरोप के मानव की दृष्टि इसी दुनिया और प्रकृति की ओर अधिक आकृष्ट हुई तभी से पृथ्वी के देशों का अन्वेषण होने लगा, उनके आंतरिक भागों की खोज होने लगी। उनके संबंध में भौगोलिक ज्ञान संगृहीत किया जाने लगा और वैज्ञानिक ढङ्ग से (अक्षांश देशान्त के आधार पर) दुनिया और देशों के मानचित्र बनाये जाने लगे। सन् १४७४ में इटली के टोस्कानेली (Toscanelli) ने यह चार्ट तैयार किया जिससे मार्ग दर्शन पाकर अटलांटिक महासागर के पार नाविकों ने यात्रायें की और नये द्वीपों और नये देशों का पता लगाया। इस दुनिया एवं प्रकृति की खोज के प्रति पूर्व का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। पूर्वीय देशों के लोग इस बात में काफी पिछड़ गये। १८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में जब भारत में एक तरफ अंग्रेजों का प्रभुत्व बढ़ रहा था और दूसरी ओर भारतीय मराठों की शक्ति भी बढ़ रही थी तब मराठा शासकों ने भारत का एक मान-

चित्र तैयार करवाया था, और उसी समय में कुछ अंग्रेज अन्वेषकों ने जो विदेशी थे अतः जिनका भारत का भौगोलिक ज्ञान भारतीयों की अपेक्षा जो भारत में ही हजारों वर्षों से रह रहे थे बहुत कम होना चाहिये था, भारत का एक मानचित्र तैयार किया। अंग्रेज अन्वेषकों ने जो नकशा तैयार किया था वह आज के भौगौलिक ज्ञान के प्रकाश में जब हम देखते हैं तो सही निकलता है और जो नकशा मराठा शासकों ने तैयार करवाया था वह गलत। यह तो यूरोप में पुनः जागृति काल के बाद की बात है किन्तु मध्य युग में तो वह एक स्थिर गतिहीन स्थिति में था, बद्ध अन्धकारमय स्थिति में।

मध्ययुग में यूरोपवासी समुद्र यात्रा से प्रायः बहुत डरते थे। तत्कालीन विद्वान यह समझते थे कि समुद्रों के आगे भूत प्रेतों का देश है, वहां पर नरक के द्वार हैं, राह में जलती हुई अग्नि है। पुनर्जागृति काल में मानसिक मुक्ति के साथ साथ तथ्यहीन विश्वास खत्म हुआ और अनेक साहसी लोग समुद्र की अनेक लम्बी लम्बी यात्राओं पर निकल पड़े। इन लोगों में खोज का उत्साह था। मध्य युग में फारस की खाड़ी, लाल सागर, अरब सागर, और भूमध्यसागर में विशेषतया अरब मुसलमान मल्लाहों के जहाज चलते थे। अरब मुसलमानों का पीछा करते हुए, ईसाई मजहब फैलाने के विचार से यूरोपीय मल्लाह कई दिशाओं में निकल पड़े। इस समय कस्तुनतुनियां पर तुर्क लोगों का अधिकार होने की वजह से और भूमध्य सागर में तुर्क लोगों की शक्ति बढने से यूरोपीय लोगों को यह भी जरूरत महसूस हुई कि वे भूमध्यसागर के अतिरिक्त कोई दूसरा सामुद्रिक रास्ता पूर्व को जाने का ढूंढ निकालें। यूरोपीय देशों में परस्पर प्रतिस्पर्धा हुई कि पूर्व के साथ उनका व्यापार एक दूसरे की अपेक्षा खूब बढ़े। इस काममें सर्वाधिक अगुआ दो देश रहे— पुर्तगाल और स्पेन। पुर्तगाल में एक शासक हुआ जिसका नाम हेनरी था। इतिहास में वह हेनरी नाविक (१३९४-१४६० ई०) (Henry the navigator) के नाम से प्रसिद्ध है। उसने यूरोप के लोगों को वह

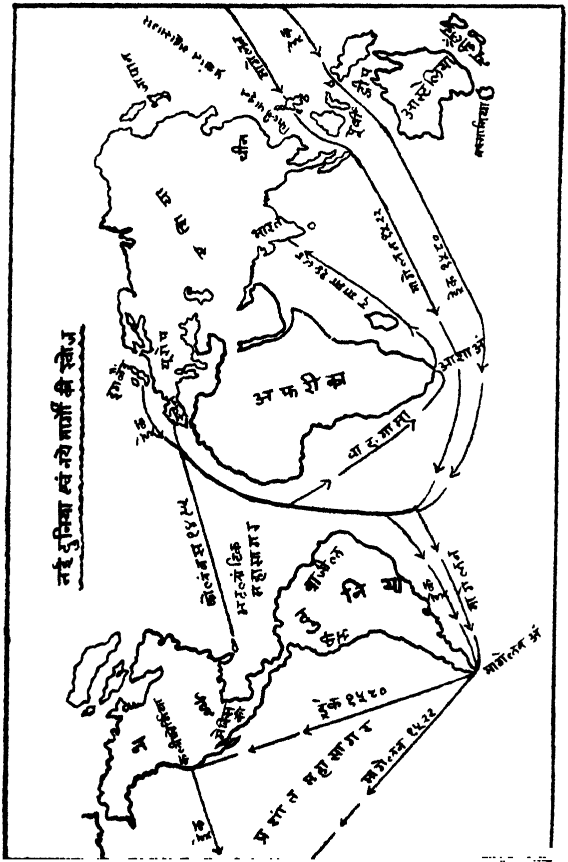
प्रेरणा दी जिससे समस्त संसार उनके ज्ञान और अनुभव की परिधि में आगया।

(१) अमेरिका की खोज :—इटली के जिनोआ नगर के वासी कोलम्बस (१४४६–१५०६) ने इस विचार से कि दुनिया गोल है, भारत तक पहुंचने के लिए यह सोचा कि यदि वह पच्छिम की ओर समुद्र पर चलता रहा तो किसी न किसी दिन वह भारत पहुंच जायेगा। उसके इस साहसी काम में पहिले किसी ने मदद नहीं की किन्तु बाद में स्पेन के कुछ व्यापारियों ने कोलम्बस की मदद की, और स्पेन के राजा और रानी फर्डीनेंड और ईसाबेला ने उसको आज्ञा पत्र दिया। तीन जहाज उसने तैयार किये और ८८ आदमियों को लेकर वह अज्ञात समुद्रों पर यात्रा के लिये निकल पड़ा। अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए लगभग सवा दो महीने की खतरनाक यात्रा के बाद ११ अक्टूबर सन् १४९२ के दिन वह नई दुनिया के किनारे पर जा लगा। कोलम्बस ने तो सोचा यह भारत था किन्तु वास्तव में यह एक नई दुनिया थी—अमेरिका महाद्वीप, जहां पर उस समय तांबे के रंग के असभ्य लोग रहते थे जो (Red Indians) कहलाए। दुनिया के इतिहास में यह एक अपूर्व घटना थी।

सन् १५०० ई० में पुर्तगीज नाविक पेड्रो ने अमेरिका के उस भाग की खोज की जो ब्राजील कहलाता है। सन् १५१९ ई० में स्पेनिश नाविक कोर्टेज अमेरिका की ओर बढ़ा और उसने वहां के उस भाग में प्रवेश किया जो आजकल मैक्सिको है। वहां के आदि निवासी रेड इन्डियन (Red Indian) थे और जिनमें सौर–पाषाणी सभ्यता से मिलती जुलती ऐजटेक (Aztec) सभ्यता प्रचलित थी–उनको पदाक्रान्त किया और मैक्सिको में स्पेन का झण्डा फहराया। इसी प्रकार सन् १५३० में एक अन्य स्पेन नाविक पिज़ारो ने अमेरिका के उस भाग में जो आधुनिक पीरु है स्पेन का झण्डा फहराया और वहां प्रचलित पीरुवियन सभ्यता को ध्वस्त किया। फिर तो यरोपीय लोगों का तांता

बंध गया और दो सौ वर्षों के अन्दर अन्दर उत्तर और दक्षिण अमेरिका में यूरोपीय जाति के लोगों के बड़े बड़े राज्य स्थापित होगये।

(२) अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत के नये सामुद्रिक राह की खोजः—सन् १४९८ ई० में पुर्तगाल निवासी वास्कोडिगामा अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुंचा, और इसी रास्ते से यूरोपीय



देशों का भारत और पूर्व के अन्य देशों से व्यापार होने लगा। सन् १८६९ ई० तक जब एक फ्रांसीसी इंजिनियर द्वारा निर्मित स्वेज नहर खुली, यूरोप का व्यापार भारत और चीन से इसी राह से हुआ। इसी सिलसिले में सन् १५१५ ई० में कई पुर्तगाली जहाजें मलक्का, जावा, सुमात्रा आदि पूर्वीय द्वीपों में पहुंच गई। समुद्रकी राह से पूर्व का रास्ता खुल गया और पूर्व और पच्छिम का धीरे धीरे सम्पर्क बढ़ने लगा।

(३) दुनियां की परिक्रमायें :—(अ) सन् १५१८ ई० में एक रोमांचकारी घटना हुई। एक पुर्तगाली नाविक जिसका नाम मैलन (१४८०–१५२१ ई०) (Magellan) था, स्पेन के बादशाह से सहायता लेकर, पांच जहाज और २८० आदमी अपने साथ लेकर दुनिया को ढूंढने के लिये स्पेन से निकल पड़ा। भयंकर महा समुद्रों को पार करता हुआ, अटलान्टिक महासागर और फिर दक्षिण अमेरिका होता हुआ, फिर प्रशान्त महासागर पार करता हुआ लगभग आठ महीनों की खतरनाक यात्रा के बाद वह कुछ अज्ञात द्वीपों पर पहुंचा। ये द्वीप फिलीपाइन द्वीप थे। इस प्रकार मैंजेलन को ही फिलीपाइन द्वीपों का खोज करनेवाला माना जाता है। मैंजेलन तो फिलीपाइन द्वीपों में वहां के आदि निवासियों द्वारा मारा गया किन्तु उसके पांच जहाजों में से एक जहाज जिसका नाम विट्टोरिया था, और उसके कुछ साथी सन् १५२२ ई० में सारी पृथ्वी का चक्कर लगाकर फिर से स्पेन पहुंचे। इतिहास में यह सर्व प्रथम जहाज था जिसने सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा की।

(ब) इंगलैंड का प्रसिद्ध नाविक सर फ्रांसिसड्रेक (Sir Francis Drake) सन् १५७७ ई० में सामुद्रिक राह से विश्व की परिक्रमा करने के लिये निकला। अटलान्टिक महासागर को पार करता हुआ, दक्षिण अमेरिका के मगेलन अन्तरीप के समीप पहुंचकर किनारे किनारे चलता हुआ उत्तर अमेरिका के केलीफोर्निया प्रान्त तक पहुंचा। वहां से उसने विशाल प्रशान्त महासागर में प्रवेश किया। उसको पार करता हुआ,

पूर्वीय द्वीप समूहों के नजदीक चलता हुआ वह हिन्द महासागर में दाखिल हुआ; वहां से अफ्रीका का चक्कर काटता हुआ तीन वर्ष की शानदार यात्रा के बाद सन् १५८० ई. में अपनी जन्मभूमि इंगलैंड पहुंचा।

(४) **अफ्रीका**:—वैसे तो अफ्रीका अति प्राचीन काल से ही एक ज्ञात देश था, किन्तु उसके केवल भूमध्यसागर तटीय प्रदेश एवं वहां की नील नदी की उपत्यका में स्थित मिश्र देश ही विशेष ज्ञात थे; इस महाद्वीप की शेष विशाल भूमि अज्ञात थी, अन्धकार से आच्छादित। प्राचीन युग में मिश्र के फेरो निशो की प्रेरणा से उसके नाविकों ने समस्त अफ्रीका तट की परिक्रमा की थी किन्तु वह एक पुरानी बात हो गई थी और प्रायः भुला दी गई थी। आधुनिक युग में सर्वप्रथम स्पेन के नाविक दीआज़ १४५०-१५०० ई० (Dias) ने सन् १४८६-८७ ई० में स्पेन से रवाना होकर आधुनिक सम्पूर्ण पच्छिमी तट का चक्कर लगाकर दक्षिण छोर तक पहुंचा, तभी से उस सुदूर दक्षिण छोर का नाम आशा अन्तरीप हुआ। किन्तु अब तक भी समस्त आंतरिक प्रदेश अज्ञात ही था; आंतरिक प्रदेशों की खोज १९ वीं शती के मध्य में जाकर हुई। इङ्गलैण्ड के डेविड लिविंगस्टोन (१८४९-७३) ने अफ्रीका में दूर अन्दर तक प्रदेशों की कई यात्रायें कीं और उन प्रदेशों की वैज्ञानिक ढङ्ग से जानकारी हासिल की। वृक्षों की घनता में छिपे हुए सांप अजगरों की फूंकार से फुसफुसाते हुए, मृत्यु रूप सिंह, चीतों की दहाड़ से गरजते हुए, मलेरिया मच्छरों से आच्छादित भयावह अंधियारे जंगलों में;—और फिर हजारों वर्ग मील लम्बे चौड़े सूखे, तप्त, निर्जल, निर्जन रेगिस्तानों में पग पग घूमकर उन प्रदेशों की खोज करना, मानव इतिहास की सचमुच एक रोमांचकारी कहानी है।

(५) **आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड एवं तस्मानिया**:—डच नाविक अबेल-टास्मन (१६०२-१६५९ ई०) (Abel Tasman) ने १७वीं शती में सर्व प्रथम न्यूजीलैण्ड का पता लगाया। १७वीं शताब्दी में कई यरोपीय खोजकों ने आस्टेलिया और तस्मानिया के तटों का भी पता

लगा लिया था किन्तु अभी तक इन देशों के अन्दरूनी हिस्सों में कोई भी नहीं पहुंचा था। १८ वीं शती में केपटन कुक (१७२८–१७७६ ई०) ने आस्ट्रेलिया के पूर्वीय तटों की खोज की किन्तु तब भी कोई भी यूरोपीय लोग वहां जाकर नहीं बसे। १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सुदूर मध्य आस्ट्रेलिया को छोड़कर शेष प्रायः समस्त आस्ट्रेलिया का नकशा खोज कर के बना लिया गया था। उसी जमाने में आस्ट्रेलिया अंग्रेजों का एक उपनिवेश बना।

(६) खोज की वह परम्परा जो रिनेसां युग में प्रारम्भ हुई, अब तक चालू है, और निःसन्देह मानव इस परम्परा को बनाये रक्खेगा। १६ वीं शताब्दी के मानव ने प्रायः सारी पृथ्वी की खोज कर डाली थी किन्तु अभी तक वह पृथ्वी के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव तक नहीं पहुंच पाया था। यह काम भी मानव ने किया। ६ अप्रेल सन् १६०६ के दिन अमरीका देश का साहसी यात्री पियरी (१८५६–१६२० ई०) (Robert Edwin Peary) भयंकर ठंडे, सदा बर्फ से ढके हुए उत्तरीय ध्रुव में पहुंचा, और इसी प्रकार ठण्डे दक्षिणी ध्रुव पर नार्वे के साहसी नाविक आमनसेन (१८७२–१६२८) (Amundsen) ने दिसंबर १६११ ई० में विजय प्राप्त की। नाविकों एवं वायुयान उड़ाकुओं की पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की यात्रायें मानव साहस की रोमांचकारी गाथायें हैं।

इस प्रकार नये मार्गों, नये देशों, एवं नये प्रदेशों की खोज में सर्व प्रथम स्पेन और पुर्तगाल के नाविक निकले, एवं १५–१६ वीं शताब्दियों में विशेष उनका ही प्रभाव रहा, किन्तु फिर इस साहसी कार्य की ओर डच (होलेण्ड) अंग्रेज और फ्रांसीसी लोगों का भी ध्यान गया, जब उन्होंने देखा कि स्पेन–वासी और पुर्तगीज तो बहुत धनिक हो रहे हैं। जर्मनी उस समय तक एक पृथक राज्य नहीं बन पाया था, वह पवित्र रोमन साम्राज्य का ही एक अङ्ग था अतः उसका ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हो सकता था। धीरे धीरे अंग्रेज, फ्रांसीसी, स्पेनिश, डच

और पुर्तगीज लोगों के इन नये देशों में, यथा उत्तर अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, पच्छिमी द्वीप समूह, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड, फिलीपाइन द्वीप, पूर्वीय द्वीप समूह में अनेक उपनिवेश और बड़े बड़े राज्य स्थापित हो गये। यूरोपीय लोगों के आने से पूर्व ये विशाल देश सर्वथा भयंकर जंगलों से आच्छादित थे। कह सकते हैं कि वे अन्धेरे में पडे थे, मानव निवास के सर्वथा अयोग्य। यूरोपीय लोगों ने अथक परिश्रम और अध्यवसाय से जंगलों को साफ किया, भूमि को रहने योग्य बनाया और तब कहीं ये देश प्रकाश में आये। इन देशों के आदि निवासी सर्वथा असभ्य थे। कहीं कहीं जैसे पीरु मैक्सिको, पूर्वीय द्वीप समूह में सौर-पाषाणी सभ्यता से कुछ मिलती जुलती सभ्यता प्रचलित थी। ये आदि निवासी संख्या में बहुत कम थे, इनको पदाक्रान्त करके या कहीं कहीं इनको सर्वथा विनिष्ट करके (जैसे तस्मानिया में) ही यूरोपीय लोगों ने अपने उपनिवेश बसाये। अमरीका के रेडइण्डियन और अफ्रीका के हब्शी आदि निवासी आज तो काफी सभ्य स्थिति में हैं और वे दूसरी सभ्य जातियों के साथ कंधा से कंधा जुड़ाकर चलने की तैयारी में हैं।

कह नहीं सकते कि अपनी इस पृथ्वी के सभी द्वीपों की खोज कर ली गई है—संभव है महासागरों में इधर उधर अब भी अनेक टापू अज्ञात पड़े हों। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उपरोक्त देशों और द्वीपों की खोज ने मानव की इस दुनिया को विस्तृत बना दिया और उसके इतिहास में एक नई गति पैदा कर दी।

३. सामाजिक एवं राजनैतिक मान्यताओं में परिवर्तन

मध्य युग में आर्थिक संगठन का मुख्य रूप था—सामंतवाद। उसमें दो वर्गों के लोग थे। उच्च वर्ग-जमींदार, राजा और पादरी; निम्न वर्ग-किसान मजदूर (सर्फ)। इन्हीं दो वर्गों के इर्द गिर्द साधारण हस्त-उद्योग में लगे हुए भी कुछ लोग होते थे। आधुनिक युग के प्रारम्भ होते होते व्यापार और हस्त-उद्योग में पर्याप्त वृद्धि हुई—इस वृद्धि में मुख्य सहायक

दो बातें थीं—नये देशों और नये व्यापारिक मार्गों की खोज। इसके फलस्वरूप व्यापारियों के एक स्वतन्त्र मध्यवर्ग का विकास हुआ–इसी वर्ग के उत्पन्न होने के फलस्वरूप सामन्तवादी व्यवस्था शनै. शनैः विच्छिन्न हो गई। अब तक सामन्तों की शक्ति पर ही राजा की शक्ति आधारित थी–क्योंकि सामन्त लोग ही फौजी सिपाही रखते थे–किन्तु अब गोला बारूद का आविष्कार हो चुका था–राजा को विशाल व्यापारिक संस्थाओं, बैंकों से रुपया मिल सकता था–अतः उसे सामन्तों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रही। इसलिये राजा सामन्तों को धीरे धीरे खत्म कर सके और शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य स्थापित कर सके। अपने अपने प्रदेशों का व्यापार बढ़ाने की आकांक्षा से स्थानीय एवं तदुपरान्त राष्ट्रीय भावना का विकास होने लगा एवं सामन्ती व्यवस्था के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होने लगी। एक सामन्तवादी ईसाई यूरोपीय राज्य की जगह–या पवित्र रोमन राज्य के विचार के बदले, अब पृथक पृथक राष्ट्रीय राज्यों—यथा इङ्गलैंड, फ्रान्स, होलेंड, स्पेन, पुर्तगाल, इत्यादि इत्यादि की उद्भावना हुई। साथ ही साथ राष्ट्रीय राज्यों के राजाओं में पूर्ण एकतन्त्रवाद का विचार घर करने लगा–अतः द्वन्द्व का भी एक नया कारण समाज में उत्पन्न होगया यथाः राजा की सत्ता और प्रजा के अधिकारों में द्वन्द्व। इन्हीं परिस्थितियों में इटली के फ्लोरेस नामक नगर में प्रसिद्ध राजनैतिक विचारक मकयाविली (१४६९–१५२७ ई०) (Machiavelli) का उदय हुआ–जिसने प्रिंस (Prince) नामक ग्रंथ की रचना की–जिसका मुख्य उद्देश्य राजाओं को यही राजनैतिक सबक सिखाना था कि वे (राजा लोग) किन्हीं भी साधनों से नैतिक हो अथवा अनैतिक पूर्ण शक्तिमान बनें रहें–वे पूर्ण सत्ताधारी हों। इस विचार ने पोप की अथवा गिरजा की शक्ति को ध्वस्त करने में और राजाओं द्वारा एकतन्त्रवादी निरंकुश सत्ता स्थापित किये जाने में बड़ी सहायता दी। सचमुच मकयाविली की विचार धारा ने यूरोप में निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) का एक युग ला खड़ा किया।

आधुनिक युग का आगमन—एक सिंहावलोकन–मध्य युग की अंतिम शताब्दियों में, यथा १४ से १६वीं शताब्दियों में, यूरोप में मानव चेतना में नव जागृति आई। वह मानव जो अपने आप को अकिंचन समझे हुए था, जिसके विचारों का क्षेत्र गिरजा की चार दिवारी तक ही सीमित था, उठा और उसमें अपनी क्षमता, अपनी शक्ति के प्रति आत्मविश्वास पैदा हुआ, उसमें एक स्फूरणा उत्पन्न हुई विशाल कर्म और विचार क्षेत्र में स्वतन्त्र विचरण की। अनेक शताब्दियों से प्रचलित सर्फडम, सामन्तवादी समाज और सामन्तवादी राजनैतिक संगठन ध्वस्त हुए, व्यक्ति ने जो धार्मिक सामाजिक अन्ध विश्वासों का गुलाम था व्यक्तित्व स्वतन्त्रता की अनुभूति की, एक स्वतंत्र मध्यवर्गीय जन का उत्थान हुआ, और सामन्ती राज्यों की जगह केन्द्रीभूत राष्ट्रीय राज्यों का। कला, साहित्य में नये सौन्दर्य, दर्शन में स्वतन्त्र विचारणायें और सर्वोपरि प्रकृति का निरीक्षण करते हुए, विज्ञान में नई उद्भावनायें उत्पन्न हुई। नये मार्गों, नये देशों, नये संसार की खोज हुई, मानव का दृष्टिकोण विशाल बना उसकी बुद्धि स्वतन्त्र और वह स्वयं उल्लसित और गतिशील। आधुनिक युग में मानव प्रविष्ट हुआ और उसने अपनी यात्रा प्रारभ की। सन् १६०० ई. की यह बात है। मानव की यह महानता, उसका यह मुक्त भाव, जागृति की यह आत्मा अभिव्यक्त हुई, अपने सुन्दरतम रूप में उसी युग के महानतम कवि में, जब उसने मुक्त भाव से यह गाया–

"What a piece of work is man! how noble in reason! how infinite in faculty in form and moving how express and admirable! in action how like an angel! in apprehension how like a God! the beauty of the world! the paragon of animals!"

—*Shakespeare*

"मनुष्य भी क्या एक अद्भुत कृति है ! बुद्धि में कितना श्रेष्ठ, प्रतिभा में कितना अनन्त ! गठन और चाल में कितना प्रभावोत्पादक और प्रशंसनीय ! कार्य में कितना देव मम ! अन्तस में ईश्वर तुल्य ! सृष्टि का सौन्दर्य, प्राणियों में महान !" —शेक्सपीयर

(४५)

यूरोप में धार्मिक सुधारों और धार्मिक युद्धों का युग

(१५००-१६४८)

पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है कि यूरोप में किस प्रकार मानव चेतना पुनर्जागृत हुई, प्रत्येक तथ्य को वह अन्वेषक की दृष्टि से देखने लगी। कई शताब्दियों से संसार में जमे हुए धार्मिक विश्वासों को भी उसने इसी दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया। इस स्वतन्त्र चिंतन से मानव जब प्रेरित हुआ तो उसने देखा कि धार्मिक-विश्वास के कई प्रचलित रूपों में–कई रस्मों में विशेष तथ्य नहीं है–केवल इतना ही नहीं,–वे बाह्यरूप और रस्म पतित हो चुके हैं।

सुधार की आवश्यकता

चर्च में बुराइयां:—(१) इस युग के पोप, बड़े बड़े गिरजाओं के बड़े बड़े बिशप (पादरी इत्यादि) सब धन एवं पार्थिव सत्ता संगृहीत करने में एवं राजाओं की तरह सत्ता का क्षेत्र विस्तृत करने में व्यस्त थे, सच्ची धार्मिक भावना उनमें लुप्त थी। रोम का पोप जो समस्त ईसाई दुनियां का एकमात्र धर्मगुरु और अधिनायक था, धन एकत्रित करने के लिये अपने अधीनस्थ पादरियों के द्वारा समस्त ईसाई देशों के

नगर नगर गांव गांव में ऐसे पाप-विमोचन 'प्रमाण-पत्र' (Indulgences) बेचा करता था—जिनका आशय यह था कि जो कोई भी उनको खरीद लेगा, मानो वह अपने पापों और दुष्कर्मों के फल से मुक्त हो जायेगा। ऐसी दशा थी सर्व साधारण जन में। धर्म, ईसा, पोप और चर्च के प्रति ऐसी अटूट श्रद्धा। धार्मिक मामलों में स्वतन्त्र विचार और स्वतन्त्र विश्वासों की कोई गुन्जाइश नहीं थी।

राजनैतिक कारण:—(२) यूरोप में कृषि योग्य भूमि के विशाल भागों का पट्टा भिन्न भिन्न गिरजाओं के नाम था, जिसकी सब आय पादरियों के पास जाती थी–और उस आय का एक मुख्य भाग रोम के पोप के पास। इस व्यवस्था से राजाओं को बड़ी अड़चन महसूस होने लगी–जब कभी युद्धादि के लिये उन्हें धन की आवश्यकता होती थी–तो इन गिरजाओं के आधीन विशाल क्षेत्रों की आय से वे महरूम रहते थे–इससे कई राजनैतिक प्रश्न खड़े हो गये–और राजाओं और पोप में परस्पर विरोध का एक कारण उपस्थित हो गया। साथ ही साथ यूरोप के भिन्न भिन्न प्रदेशों में पृथक पृथक प्रादेशिक राष्ट्रीय भावना का उदय होने लगा था, और प्रादेशिक राजा अपने अपने क्षेत्र में रोम के पोप और धार्मिक पादरियों की सत्ता से मुक्त अपने स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्य कायम करने की उत्कंठा में थे–वे इस प्रयत्न में थे कि चर्च और पादरी उनकी राजकीय सत्ता में बाधक न हों, बल्कि वे उनके आधीन रहें।

सुधारक लूथर

प्रोटेस्टेनिज्म:—(Protestanism) ऐसी परिस्थितियों में जर्मनी में एक महान् सुधारक का उदय हुआ जिसका नाम मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६) था। एक किसान के घर में उसका जन्म हुआ था। अपने जीवन का प्रारंभिक भाग उसने एक ईसाई-बिहार में कठोर संयम नियम से व्यतीत किया। १५१० में उसने रोम की यात्रा की जहां पोप

की पोल स्वयं उसने अपनी आंखों से देखी, उसे प्रेरणा मिली। सच्ची भावना से प्रेरित हो धर्म सुधार का उसने निश्चय किया। परिस्थितियां अनुकूल थी हीं। अपने अदम्य उत्साह से धार्मिक सुधार की एक लहर उसने पैदा कर दी—पहिले जर्मनी में और फिर समस्त यूरोप में। वैसे लूथर के उदय होने के पूर्व भी धार्मिक गिरावट के विरुद्ध कुछ साहसी आत्माओं ने आवाज उठाई थी–जिसमें इंगलैंड के विक्लिफ (मृ० १३८४ ई०), बोहेमिया (जर्मनी) के जीहनहस (१३६९–१४१५ ई०), फ्लोरेंस (इटली) के सवोनारोला (१४५२–१४९८ ई०) उल्लेखनीय हैं। कैथोलिक चर्च की कट्टरता इतनी जबरदस्त थी, एवं धार्मिक स्वतन्त्रता इतनी अमान्य समझी जाती थी कि हस और सवोनारोला को तो जिन्दा जला दिया गया था।

लूथर के सुधार

पोप का भेजा हुआ एक पादरी जर्मन में "पाप विमोचन प्रमाण पत्र" बेचने आया। लूथर ने इसका घोर विरोध किया। उसने लेख और पुस्तकें प्रकाशित की और घोषणा की कि पोप (जो पाप-मुक्त, एवं गल्तियों से परे माना जाया करता था) भी पाप से मुक्त नहीं है, वह भी गल्ती कर सकता है। "पोप विमोचन प्रमाण पत्र" एवं रोमन चर्च की अनेक अन्य मान्यतायें पाखंड हैं। बाइबल ही केवल एक प्रमाण है, वही एक सत्य वस्तु है। प्राचीन रोमन केथोलिक चर्च में अंग भंग हुआ, बहुत से ईसाई इसके प्रभाव से निकलकर लूथर के अनुयायी बन गये जो प्रोटेस्टेंट कहलाये। रोमन कैथोलिक चर्च से पृथक प्रोटेस्टेन्ट चर्च की स्थापना हुई। अब तक तो समस्त ईसाई प्रदेशों में रोमन कैथोलिक चर्च की जिसका अधिनायक रोम का पोप था, सार्वभौम सत्ता थी, अब इस सार्वभौम सत्ता से मुक्त जिन देशों ने प्रोटेस्टेनिज्म स्वीकार किया, उन्होंने अपनी अपनी पृथक राष्ट्रीय चर्चें स्थापित करलीं। इंगलेंड, नोर्वे, स्वीडन, डेनमार्क, उत्तरी जर्मन, एवं कहीं कहीं फ्रांस में प्रोटेस्टेन्ट चर्चें स्थापित हुईं। इटली, स्पेन, फ्रांस, दक्षिणी जर्मनी, पोलैंड,

हंगरी, आयरलैंड, कैथोलिक चर्च के साथ रहे। पूर्वीय यूरोप में सुधार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, ग्रीस, बुलगारिया, रुमानिया, समस्त रूस पृथक "ग्रीक चर्च" के साथ रहे। इसका उल्लेख पीछे अध्याय में हो चुका है। लूथर ने तो एक लहर पैदा कर दी थी, उसके प्रभाव से अन्य सुधारक भी पैदा हुए। स्वीटजरलैंड में जोन कालविन (John Calvin) (१५३६-१५५४) ने इस विश्वास से प्रेरणा पाकर कि मनुष्य ईश्वर पर ही पूर्णतः आश्रित है, जन्मकाल से ही मनुष्य का भाग्य ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट कर दिया जाता है—चर्च का लोकतन्त्रीय आधार पर संगठन किया। रोमन कैथोलिक चर्च में तो पोप या उच्चाधिकारी पादरी सर्वेसर्वा थे, उसकी व्यवस्था में जनता का कुछ भी अधिकार नहीं; प्रोटेस्टेन्ट चर्च के संगठन में राज्य (State) का अधिकार रहा; कालविन ने ऐसा संगठन बनाना चाहा जिसमें चर्च राज्य की दखल-अंदाजी से मुक्त हो, किन्तु साधारण जन का उसकी व्यवस्था में अधिकार हो। कालविन द्वारा संगठित चर्च प्रेसबाइटेरियन चर्च कहलाई। स्वीटजरलैंड एवं स्कोटलैंड में ऐसे चर्चों की स्थापना हुई।

धार्मिक सुधार होने के लिए क्या विशेष कारण उपस्थित हो गये थे इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यथा—चर्च, पादरियों, धर्माचार्यों इत्यादि में गिरावट पैदा हो जाना एवं राजनैतिक शासन क्षेत्र में राजाओं में यह महत्वाकांक्षा उत्पन्न होना कि चर्च की सत्ता उन पर न रहे। इन्हीं कारणों के फलस्वरूप सुधार की लहर ने भी मुख्यतया दो दिशाओं की ओर प्रगति की। पहिली दिशा यह थी कि चर्च और धर्माचार्यों की गिरावट की प्रतिक्रिया स्वरूप आदि चर्च अर्थात् रोमन चर्च से पृथक प्रोटेस्टेन्ट गिरजाओं की स्थापना हुई—जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आदि रोमन चर्च को भी कुछ होश आया और उसने अपनी आंतरिक स्थिति सुधारने का और अपनी गिरावट दूर करने का प्रयत्न किया। सन् १५४० ई० में स्पेन के एक सिपाही इगनेटियस लोयोला (१४९१-१५५६ ई०) [Ignatius

Loyola) ने ईसा के नाम पर सोसाइटी ऑफ जीसस (Society of Jesus) की स्थापना की।

इसी सोसाइटी से प्रभावित होकर तत्कालीन रोम के पोप पाल तृतीय ने इटली के ट्रेंट नामक स्थल पर रोमन कैथोलिक ईसाइयों की एक सभा बुलवाई जो ट्रेंट की सभा कहलाई। इस सभा की बैठकें उपरोक्त सोसाइटी के एक सदस्य की अध्यक्षता में सन् १५४५ से १५६३ तक होती रहीं। इसी के तत्वावधान में रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों में कई परिवर्तन किये गये जो उसके संगठन के आज तक आधार माने जाते हैं।

"जीसस-सोसाइटी" के सदस्य पादरी होते थे—और इसका संगठन बहुत ही अनुशासन पूर्ण। इस भावना से ये सदस्य अनुप्राणित होते थे कि संस्था के कठोर अनुशासन में रहते हुए, आत्म त्याग का पालन करते हुए, ईसाई मत (रोमन कैथोलिक) और शिक्षा के प्रचार के लिये दुनिया भर में फैल जायें। और वास्तव में संसार भर में शिक्षा के क्षेत्र में इनका काम अद्वितीय रहा है। शनैः शनैः ये लोग चीन, भारत, जापान, पूर्वीय द्वीप समूह इत्यादि प्रदेशों में फैल गये, वहां ईसा का संदेश पहुंचाया और सुन्दर ढंग से व्यवस्थित शिक्षण संस्थायें स्थापित कीं। यूरोप में इसने प्रोटेस्टेन्ट सुधारवाद की बाढ़ को रोका।

धार्मिक युद्ध

दूसरी दिशा जिस ओर सुधार की लहर की प्रतिक्रिया हुई—वह थी राजनैतिक भूमि। यूरोप के देशों के शासकों में सुधार के प्रश्न को लेकर अनेक झगड़े हुए—इन झगड़ों में धार्मिक सुधार की बात तो रहती ही थी—कोई राजा तो रोम के पोप के साथ संबंध विच्छेद करना चाहता था, कोई नहीं—किन्तु उनका ऐसा चाहना नहीं चाहना किसी धार्मिक प्रेरणा से नहीं होता था। वह होता था उनकी राजनैतिक स्वार्थों की भावनाओं से। यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में उपरोक्त प्रश्नों को लेकर समय समय पर

लगभग एक शताब्दी तक युद्ध होते रहे। ये युद्ध और इन युद्धों के पीछे जो भी धार्मिक मतभेद और विचार थे सन् १६४८ में जाकर यूरोपीय राष्ट्रों में वेस्टफेलिया की संधि के साथ सर्वथा समाप्त गये।

इङ्गलैण्ड में कभी तो कोई शासक प्रोटेस्टेन्ट मतवादी हो जाता था और कभी रोमन कैथोलिक। जब शासक प्रोटेस्टेन्ट होता था तो वह रोमन कैथोलिक लोगों पर अत्याचार करता था और जब शासक रोमन कैथोलिक होता था तो वह प्रोटेस्टेन्ट लोगों पर अत्याचार करता था। अन्त में इङ्गलैण्ड में एक नई चर्च ने ही जन्म लिया जो न तो सर्वथा रोमन कैथोलिक सिद्धांतों को मानती थी और न सर्वथा प्रोटेस्टेन्ट सिद्धान्तों को। अंग्रेजी चर्च अर्थात् (Church of England) एक नया ही मजहब बन गया। यह मजहब आदि चर्च के सेकरामेण्ट (Sacrament) के सिद्धान्त को अर्थात् यह सिद्धान्त की पूजा के भोजन या प्रसाद में ईसा की उपस्थिति होती है, मृतकों के लिये प्रार्थना करने से उनका कल्याण होता है एवं स्वर्ग में एक ऐसा स्थान है जहां पाप मोचन होता है, आदि बातों को नहीं मानता था। अब तक इङ्गलैण्ड में प्रार्थना रोम की तरह लेटिन भाषा में होती थी। इङ्गलैण्ड की चर्च स्थापित हो जाने के बाद, प्रार्थना अंग्रेजी में होने लगी और उसके लिए अंग्रेजी में एक पुस्तक भी बनाई गई। रानी एलिजाबेथ के राज्यकाल में यह चर्च सम्बन्धी कानून और भी सख्त बना दिये गये, जिससे पूजा की विधि और पादरियों के जीवन पर राजकीय कानून का और भी अधिक दखल हो गया। यह बात अनेक धर्मात्मा लोगों को अरुचिकर मालूम हुई जिससे अनेक लोगों ने इङ्गलैण्ड की चर्च के सिद्धान्तों को मानने से मना कर दिया। ये लोग नोन कनफोर्मिस्ट (Non Conformists) कहलाये। नोन कनफोर्मिस्ट लोगों में भी दो शाखायें हो गईं। एक प्यूरिटन लोगों की जो धर्म की दृष्टि से अधिक कट्टर सुधारवादी थे और जो चर्च के संगठन में पूर्ण क्रांति चाहते थे। दूसरे-सेपेरेटिस्ट (पृथकता वादी) लोग जो पूजा की विधि पर किसी

प्रकार का बन्धन नहीं चाहते थे, जो अपनी पूजा विधि में पूर्ण स्वतन्त्र रहना चाहते थे। इन लोगों ने इङ्गलैण्ड की चर्च से अपना संबंध तोड़ लिया था और आत्मा की स्वतन्त्रता के लिए कष्ट सहन करने को तैयार थे। इनमें से अनेक लोग तो इङ्गलैण्ड छोड़कर होलेण्ड चले गये। उस समय तक अमेरिका का पता लग चुका था। जब होलेंड में इनको अपनी पूजा विधि में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिलती दिखी तो ये लोग होलेंड छोड़कर अमेरिका को प्रस्थान कर गये। जिस जहाज मे बैठकर ये लोग गये वह मेफ्लावर (Mayflower) कहलाई और वे स्वयं (pilgrim fathers) (यात्री पिता) कहलाये। सन् १६२० की यह घटना थी। मानव में धार्मिक स्वतन्त्रता की आकांक्षा प्रकट करने में इस घटना का महत्व है।

जिस समय इङ्गलैंड में प्रोटेस्टेन्ट मतवाली रानी एलिजाबेथ (१५५८–१६०३) का राज्य था उस समय स्कोटलेंड में रोमन कैथोलिक रानी मेरी स्टयूअर्ट का राज्य था। इसी समय स्पेन का राजा फिलिप द्वितीय था, जो कट्टर रोमन कैथोलिक था। फिलिप यह चाहता था कि एलिजाबेथ के स्थान पर मेरी इङ्गलैंड की साम्राज्ञी बनें और इङ्गलैंड में प्रोटेस्टेन्ट धर्म को समूल नष्ट किया जाये, जिसके लिये एक षड़यन्त्र भी रचा गया, जिसका पता लग गया, और फलस्वरूप मेरी को प्राणदंड दिया गया। इस पर स्पेन का राजा फिलिप क्रुद्ध हुआ और उसने सैनिक जहाजों का एक जङ्गी बेड़ा (Armada) एकत्रित करके इङ्गलेंड पर चढ़ाई करने का इरादा किया। उस समय समस्त संसार में स्पेनिश जहाजी बेड़े की तूती बोलती थी। इस जहाजी आक्रमण की बात सुनकर इङ्गलैण्ड घबरा गया किन्तु इङ्गलैण्ड ने मुकाबला किया और भाग्य ने उसका साथ दिया। एक भयङ्कर तूफान आया जिससे अनेक स्पेनिश जहाज टकराकर नष्ट हो गये और इङ्गलेंड की इस सामुद्रिक युद्ध में विजय हुई (१५८८–)। स्पेन व इङ्गलेंड के इस सामुद्रिक युद्ध का मूल कारण तो धर्म ही था किन्तु इसमे जो परिणाम

निकला उसका महत्व राजनैतिक है। स्पेनिश जहाजी बेड़े की इस हार से तत्कालीन देश इङ्गलैंड की जहाजी शक्ति को जबरदस्त मानने लगे और स्पेन की जहाजी शक्ति नष्ट प्रायः हो गई। अतः सामुद्रिक व्यापार एवं उपनिवेशों के प्रसार में इङ्गलैंड आगे बढ़ा।

फ्रांस में सुधारवादियों का एक नया दल खड़ा हुआ जो अपने आप को ह्यूजनोट कहते थे। फ्रांस के शासक रोमन कैथोलिक होते थे और वे ह्यूजनोट लोगों पर भयङ्कर अत्याचार करते थे। १५७५ ई० में २–३ दिन में ही हजारों ह्यूजनोटों का क्रूरता से संहार कर दिया गया। अन्त में फ्रांस के शासकों और ह्यूजनोट लोगों में एक गृह युद्ध छिड़ गया जो लगभग ८ वर्ष तक चलता रहा। फ्रांस में सुधारवाद सफल नहीं हो पाया। किन्तु वहां के मजहबी युद्ध इतिहास में एक काला टीका छोड़ गये। मजहब के नाम पर लगभग दस लाख प्राणी और कई सौ नगर नष्ट कर दिये गये थे।

नीदरलेंड का धार्मिक एवं स्वतन्त्रता युद्ध

नीदरलेंड का उत्तरी भाग होलेंड कहलाता था और वहां के निवासी डच। दक्षिणी भाग बेलजियम कहलाता था। होलेंड निवासियों पर धार्मिक सुधार का प्रभाव था। और वे सब प्रायः प्रोटेस्टेन्ट हो चुके थे। बेलजियम निवासी रोमन कैथोलिक ही बने रहे। १६वीं शताब्दी में नीदरलेंड पर स्पेन का शासन था। स्पेन का राजा फिलिप द्वितीय (१५५६–१५९८) कट्टर रोमन कैथोलिक था। उसने होलेंड के प्रोटेस्टेंट लोगों पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। वहां अपने ही धर्म पादरी नियुक्त करना शुरु किया जो "धर्म–विचार सभायें" करते थे और प्रोटेस्टेन्ट लोगों को नास्तिक ठहराकर जिन्दा जला दिया करते थे। इस धार्मिक अत्याचार से एवं अन्य कई व्यापारिक एवं आर्थिक कारणों से जिनसे डच लोगों के सरदारों और व्यापारियों की सत्ता और उन्नति में अनेक नियन्त्रण लग गये थे, हौलेंड में विदेशी स्पेनिश लोगों के विरुद्ध

एक आग सी भड़क उठी। होलेंड के लोगों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के नेता थे विलियम ओफ ओरेंज (१५३३–१५८४ ई०) (William Of Orange) स्पेन और होलेंड में यह युद्ध अनेक वर्षों तक चलता रहा। अनेक विद्रोहियों को फांसी दी गई। होलेंड-वासियों को विशाल आत्म त्याग करना पड़ा। अन्त में १६०६ में एक संधि द्वारा स्पेन को होलेंड की स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी और सन् १६४८ में वेस्टफेलिया की संधि के अनुसार होलेंड सर्वदा के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बी होलेंड तो स्वतन्त्र हो गया, किन्तु बेलजियम अभी तक स्पेन के ही आधीन रहा।

जर्मनी में तीस वर्षीय धर्म युद्ध

आधुनिक जर्मनी उस समय पवित्र रोमन राज्य का एक अंग था। यह राज्य अनेक छोटे छोटे हिस्सों में बंटा था। इन हिस्सों के अलग-अलग राजा थे। धर्म सुधार की लहर के बाद कई राजा तो प्रोटेस्टेन्ट मतवादी हो गये एवं कई रोमन कैथोलिक ही रहे। अपने अपने धर्म का प्रभाव बढ़ाने की आकांक्षा से इन उपरोक्त जर्मन राज्यों में परस्पर युद्ध हुए। सन् १६१८ से १६४८ तक ये युद्ध चलते रहे। उस समय पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट हेब्सबर्ग (Habsburg) वंशीय फर्डीनेन्ड द्वितीय था, जो आस्ट्रिया का भी शासक था। वह चाहता था कि रोमन कैथोलिक देशों, जैसे, स्पेन की मदद से वह साम्राज्य के समस्त छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर ले। सम्राट की इस आकांक्षा ने यूरोप में एक अन्तरदेशीय या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पैदा कर दी। फ्रान्स जो स्वयं एक रोमन कैथोलिक देश था सोचने लगा कि यदि, जर्मनी (पवित्र रोमन सम्राट) की शक्ति बढ़ गई तो उसके लिये यूरोप में खतरा पैदा हो जायेगा। इसी भावना को लेकर फ्रान्स सम्राट के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा। अतएव जर्मनी का यह धार्मिक युद्ध एक ओर फ्रान्स की शक्ति (जिसकी मदद के लिये स्वीडन का

राजा आया) और दूसरी ओर आस्ट्रिया एवं स्पेन की हेब्सबर्ग शक्ति के बीच हो गया। मानो यह युद्ध यूरोप में शक्तिसंतुलन (Balance Of Power) कायम रखने के लिये लड़ा जा रहा हो। इन शक्तियों में कई वर्षों तक युद्ध होने के उपरान्त अन्त में सन् १६४८ ई० में इन राज्यों में एक संधि हुई जो वेस्टफेलिया की संधि कहलाती है। इस संधि के अनुसार निम्न निर्णय हुए। (१) कैथोलिक प्रोटेस्टेन्ट और कालविन ईसाई सम्प्रदायों को समान पद दिया गया और यह घोषित किया गया कि राजा अपने धर्म को राज्य धर्म बना सकता था। (२) स्वीटजरलैंड और होलेंड रोमन (जर्मन) साम्राज्य से पृथक हुए और उनको पृथक स्वतन्त्र देश माना गया। (३) साम्राज्य के अलसेस प्रदेश का प्रमुख भाग फ्रांस को दिया गया। (४) साम्राज्य के एक छोटे राज्य ब्रेडनबर्ग को कई और प्रदेश दिये गये। ब्रेडनबर्ग राज्य भविष्य में जाकर जर्मनी राज्य के उद्भव का एक केन्द्र बना। इस प्रकार जर्मन साम्राज्य जो एक केन्द्रीय शक्ति होने की ओर उन्नति कर रहा था टूटफूट कर शक्तिहीन हो गया।

वेस्ट फेलिया की संधि का यूरोप के इतिहास में महत्व

इस सन्धिकाल से अर्थात् सन् १६४८ ई० से यूरोप में धार्मिक सुधार युग का अन्त होता है। इसके पश्चात् यूरोप में किसी भी प्रकार का धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक युद्ध नहीं हुआ। धर्म विशेषतः एक व्यक्तिगत वस्तु रह गई। इसी सन्धिकाल से धर्म निरपेक्ष राजनैतिक युद्धों और क्रांतियों का काल प्रारम्भ होता है। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय नियम एवं यूरोप के राष्ट्रों में शक्ति संतुलन (Balance Of Power) की नीति का प्रारम्भ हुआ।

आधुनिक यूरोपीय राज्यों का कब और कैसे उद्भव हुआ ?

पृष्ठभूमि

ज्यों ज्यों हम आधुनिक काल के निकट आते जाते हैं त्यों त्यों मानव की कहानी में यूरोप का महत्व बढ़ता जाता है। विशेषतया १७वीं १८वीं शताब्दी से तो हम ऐसा अनुभव करने लगते हैं मानों कि यूरोप ही एक ऐसा देश है जहां मानव बहुत गतिमान और क्रियाशील है और १९वीं शताब्दी के आते तक तो हम यूरोप को समस्त विश्व का अधिनायक पाते हैं। इन शताब्दियों में संसार में जो कुछ भी नया आंदोलन, जो कुछ भी नई चहल पहल, जो कुछ भी नई विचार धारा, जो कुछ भी नया सामाजिक और राजनैतिक संगठन हम विश्व इतिहास में देख पाते हैं उन सब का उदय और विकास हम यूरोप में ही पाते हैं। अतएव आज यूरोप का बहुत महत्व है। यूरोप आधुनिक काल में विश्व चित्रपट पर एक बहुत दबंग, शक्तिमान और विकास शील ढङ्ग से आता है। इसका प्राचीन क्याथा यह हमें देखना चाहिये।

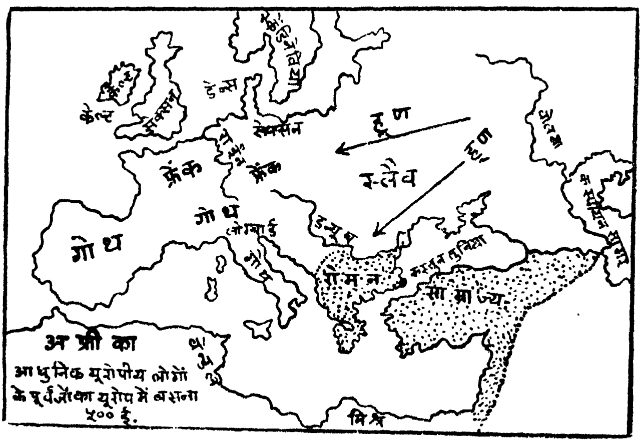
आज से लगभग २०—२५ हजार वर्ष पूर्व अन्तिम हिमयुग की, जो प्राय: ५० हज़ार वर्ष पहिले प्रारम्भ हुआ था, सर्दी और बर्फ समाप्त हो चुकी। इसी काल में हम यूरोप के उन भूभागों में जो आज फ्रांस, स्पेन, इटली, जर्मनी और दक्षिणी स्वीडन है गुफाओं और जंगलों में जंगली मानव बसता हुआ पाते हैं। यह जंगली मानव बहुत धीरे धीरे और बड़ी कठिनता से जंगली स्थिति से अर्द्ध सभ्य स्थिति की ओर विकास कर रहा था। उस अर्ध-सभ्य स्थिति के अवशेष चिन्ह, उनके पत्थरों के

औजार एवं हथियार आदि मिले हैं। किन्तु ईसा के ढाई तीन हजार वर्ष से पहिले के संगठित सभ्यता के कोई भी चिन्ह यूरोप में नहीं मिलते। इससे मालूम होता है कि यूरोप में संगठित सभ्यता ईसा के प्राय: ढाई तीन हजार वर्ष पूर्व काल में आई इससे पहिले नहीं। यह सभ्यता भी मिश्र और एशिया (एशिया माइनर, सीरीया इत्यादि से इजियन द्वीप समूह में से होती हुई यूरोप के भू मध्यसागरीय देशों में फैली। यह काष्णीय लोगों की सौर पाषाणी (कृषि, पशुपालन, बहुदेव पूजा, मन्दिर और पुजारी) सभ्यता थी जिसका जिक्र कई बार पहिले हो चुका है। इसी सौर पाषाणी सभ्यता के भग्नावशेषों पर ईसा के प्राय: १००० वर्ष पूर्व ग्रीक आर्य सभ्यता की ज्योति और जीवन का आगमन हुआ और उसके कुछ ही वर्ष बाद आर्य रोमन सभ्यता का आगमन और विकास हुआ। ग्रीक और रोमन सभ्यताओं के समय से ही हमें यूरोप का लिखित इतिहास मिलता है। कई शताब्दियों तक इन सभ्यताओं का विकास यूरोप में होता रहा, ग्रीक सभ्यता का ग्रीस, (दक्षिण इटली, सिसली, एवं अनेक भू मध्यसागरीय द्वीप), एशिया माइनर में विकास हुआ, एवं रोमन सभ्यता का पहले इटली में विकास हुआ, और फिर ग्रीक सभ्यता को पदाक्रान्त करती हुई यह सभ्यता ई० पू० १५० तक समस्त ग्रीक प्रदेशों, एवं फ्रांस, स्पेन, बाल्कन प्रदेशों में फैल गई। ईसा की ५वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक रोमन सभ्यता जीवित रही तदुपरान्त ठेठ उत्तर और उत्तर पूर्वीय प्रदेशों से कई नई असभ्य जातियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए, रोमन सभ्यता का जो पतित और गलितावस्था में थी अन्त हुआ और सर्वत्र यूरोप में इन नयी असभ्य आगन्तुक जातियों के निरन्तर आक्रमण होते रहे। ये नई जातियां नोर्डिक आर्य्यन उपजाति की भिन्न भिन्न शाखायें थीं। (देखिये अध्याय–मानव की उपजातियां)। इन लोगों की उपजाति (Race) के संबंध में फिर हम यह बात दोहरादें। प्राय: मान्य राय तो यह है कि प्राचीन काल में गौरवर्ण लम्बे कद वाली एक उपजाति (Race)

के लोग रहते थे, जिनका आदि स्थान मध्य एशिया (?) था इनको नोर्डिक या आर्य नाम दिया गया–ई० पू० की एक दो सहस्राब्दियों में, इनकी एक शाखा दक्षिण की ओर भारत में आई–जिन्होंने वैदिक आर्य सभ्यता का विकास किया; एक शाखा पच्छिम की ओर गई जो ईरान में बसे; कई शाखायें पच्छिम की ओर बढ़ी, जिन्होंने ग्रीस में ग्रीक सभ्यता का विकास किया;–और कुछ लोग स्केन्डिनेविया में जाकर बस गये–जो कालांतर में फिर ट्यूटोनिक, गाथ आदि जातियों के नाम से यूरोप में आये। अर्थात् भारतीय आर्य, ग्रीक, रोमन, ट्यूटोनिक जर्मन जातियों की पूर्वज एक ही आर्य उपजाति थी, और इन सब लोगों की भाषायें एक ही आदि आर्य भाषा की पुत्रियां। कुछ भारतीय विद्वानों का मत है कि वे आर्य जिन्होंने भारत में वैदिक सभ्यता का विकास किया, उनका आदि निवास स्थान भारत ही था–इन्हीं भारतीय आर्यों की दस्यु जातियां–अथवा इन आर्यों में उपेक्षित कुछ निम्न वर्ग के लोग पच्छिम में ईरान और फिर सैंकड़ों वर्षों में धीरे धीरे और पच्छिम की ओर ग्रीस और रोम की तरफ बढ़ते गये–प्राचीन वैदिक परम्परायें कुछ भूलते जाते थे–कुछ स्मरण रहती थीं। एकाध विद्वान् का ऐसा मत है कि भारतीय आर्यों और मंगोल (ट्यूरेनियम) उपजाति के लोगों के सम्मिश्रण से नोर्डिक आर्य उपजाति बनीं। खैर इन नोर्डिक आर्य जातियों को ईसा की तीसरी, चौथी शताब्दी में हम उत्तर में स्केन्डीनेविया के दक्षिणी भागों में और पूर्व में डेन्यूब नदी, एवं केस्पियन सागर तक फैला पाते हैं। रोमन दुनिया (ग्रीस, इटली, दक्षिणी फ्रांस और डेन्यूब के दक्षिण में बाल्कन प्रदेश) की सीमा के पार उत्तर में उपरोक्त जो अर्द्ध सभ्य लोग फैले हुए थे उनको हम मुख्यतया तीन समूहों में बांट सकते हैं। (१) केल्टिक लोगों का समूह, जो ईसा के पूर्व की शताब्दियों में ही समुद्र पार करके इङ्गलैंड, स्काटलैंड, वेल्स और आयरलैंड पहुंच गये थे। आधुनिक आयरिश लोग इन्हीं केल्टिक लोगों के वंशज मालूम होते हैं। (२) ट्यूटोनिक लोगों का समूह, जो विशेपतः स्केन्डीनेविया

में एवं राइन नदी और डेन्यूब नदी के सहारे फैले हुए थे। इन लोगों की मुख्य जातियां ये थीं:–गोथ, वेन्डल, फ्रेन्क, एंगल्स, सेक्सन्स, बवेरियन्स, लोम्बार्डस। इन जातियों में से फ्रांस में विशेषत: फ्रेन्क और गोथ लोग बसे। स्पेन में वेन्डल लोग, ब्रिटेन में एंगल्स और सेक्सन्स, इटली में लोम्बार्डस और गोथ लोग, जर्मनी में गोथ लोग। अतएव आधुनिक यूरोपीय देशों के आधुनिक निवासी इन उपरोक्त जाति के लोगों के वंशज हैं। (३) स्लैव लोगों का समूह, जो उपरोक्त ट्यूटोनिक लोगों के पूर्व में बसे हुए थे,। आधुनिक रूस, पोलेंड, जेकोस्लोवेकिया, सर्विया, रुमानिया इत्यादि देशों के निवासी इन्हीं लोगों की परम्परा में हैं।

ईसा की जिन प्रारम्भिक शताब्दियों का हम वर्णन कर रहे हैं उन शताब्दियों में मंगोल उपजाति के हूण लोगों के भी मंगोल और मध्य एशिया से चल कर यूराल पर्वत के दक्षिण में होते हुए, यूरोप में



आधुनिक यूरोपीय लोगों के पूर्वजों का यूरोप में बसना ५०० ई.

निरन्तर आक्रमण होरहे थे। यहां तक कि प्रसिद्ध हूण अतिल (Attila) ने ईसवी सन् ४५० तक पच्छिम में गॉल से लेकर पूर्व में मंगोलिया तक एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था। यद्यपि ४५३ ई०

में अतिल की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य तो सर्वथा छिन्न भिन्न हो गया था किन्तु अनेक हूण लोग यूरोप में ही बसे रह गये। निःसन्देह उपरोक्त भिन्न भिन्न नोर्डिक आर्य जाति के लोगों के साथ इनका सम्मिश्रण और वर्ण-संकर हुआ, विशेषतया स्लैव जाति के लोगों के साथ जो यूरोप के पूर्वीय भागों में बस रहे थे।

आज (२०वीं शताब्दी में) जो यूरोपीय देश हैं और जो यूरोप निवासी हैं उनका इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है जब से उपरोक्त नोर्डिक आर्य उपजाति की भिन्न भिन्न जातियों के लोगों ने (जैसे गोथ, एंगल्स, इत्यादि ने) पांचवीं शताब्दी में रोमन साम्राज्य का अन्त करके धीरे धीरे अपने छोटे छोटे राज्य यूरोप में कायम करना शुरू किया। उस काल में इन लोगों में संगठित सभ्यता का प्रायः अभाव था। ये लोग बैलगाड़ियों में, छोटी छोटी समूहगत जातियों में बंधे हुए अपने परिवारों के साथ इधर उधर घूमा फिरा करते थे, कृषि और पशुपालन जानते थे किन्तु अधिकतर इधर उधर घूमते हुए, ढोरों को चराने का काम विशेष करते थे। लोहे के प्रयोग से ये परिचित थे। जीवन सरल, कठोर और साहसी था। ये सब लोग आर्यन परिवार की परस्पर मिलती जुलती सी बोलियों का प्रयोग करते थे जिनमें से ही धीरे धीरे विकास और कुछ रूपान्तर होते हुए आधुनिक यूरोपियन भाषायें उद्‌भव हुई हैं। कालान्तर में इन भाषाओं के लिखित रूप के लिये रोमन लिपि अपना ली गई। इन लोगों के कई प्राचीन महाकाव्य भी मिलते हैं जो इन लोगों के साहस, युद्ध वीरता और बर्बरता, बदले की भावना और प्रारम्भिक देव-पूजा और इनके जीवन का दिग्दर्शन कराते हैं। यह महाकाव्य उन्हीं की प्राचीन बोलियों में हैं, जो उन जातियों के सागा (गायक) लोग गाया करते थे, और जो जबानी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलते रहते थे,—जब तक कि अन्त में भाषा का लिखित रूप प्रकट होने पर वे लिख लिये गये। उस युग के इन महाकाव्यों में मुख्यतः दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं—बोवुल्फ (Beowulf)

जो प्रारम्भिक जर्मन भाषाएं (ऐंगलो सेक्शन का पूर्ववर्ती रूप) में लिखा हुआ मिलता है और जिसमें उन लोगों के पांचवीं-छठी शताब्दी के जीवन के दर्शन मिलते हैं, दूसरा चांसन द रोलेण्ड (Chanson de Roland) जो प्रारम्भिक फ्रेंच भाषा का महाकाव्य है—और जिसमें सातवीं शताब्दी के जीवन का रूप मिलता है। इन महाकाव्यों में वह काव्यगत कला और वे भाव नहीं हैं जो प्राचीन ग्रीस के इलियड और ओडेसी में हैं।

जातिगत देवी और देवताओं में इन लोगों की सरल मान्यता थी और उनकी पूजा किया करते थे। इनकी पूजा और धार्मिक मान्यता में काष्र्णेय (भूमध्य सागरीय काले गोरे) लोगों की तरह भय, शंका, और अन्धकार पूर्ण जादू और रहस्यमयता का भाव नहीं था, किंतु ग्रीक लोगों की तरह एक निर्भय मुक्त भाव था। देवता भी ऐसे थे जैसे ग्रीक या रोमन लोगों के थे। उदाहरण स्वरूपः—

ग्रीक या रोमन देवता	गोथ (जर्मन) लोगों के देवता	
जूपीटर	ओडिन	देवताओं का राजा
मार्स	थोर्स	युद्ध का देवता
वीनस	फ्रेया	सौन्दर्य और प्रेम की देवी।

स्कंडिनेविया से डैन्यूब नदी तक जहां पहिले घने जंगल और दलदल भूमि थी, वहां शनैः शनैः ऋतु परिवर्तन के साथ साथ जंगल हटकर घास के मैदान पैदा होरहे थे। इन्हीं घास के मैदानों में ये नये ट्यूटोनिक और स्लैव लोग आकर बसे थे। और इटली, स्पेन, फ्रांस, बाल्कन आदि प्रदेशों में पतित, गलित और विश्रृंखल रोमन समाज पर, अपनी नई ताज़गी और साहस के साथ, क्रूरता से बढ़ते हुए जारहे थे–कल्पना कर

सकते हैं ऐसी परिस्थितियों में कोई व्यवस्था नहीं थी—जो कुछ संगठन और व्यवस्था रोमन साम्राज्य में थी, वह सब उसके पतन के बाद ध्वस्त होचुकी थी, सर्वत्र अंधकार का राज्य था, किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं था–न कोई संगठित व्यवस्था थी,–उस दुनिया में शिक्षा के प्रबंध का कोई प्रश्न नहीं था, उसको कला, साहित्य विज्ञान छू भी नहीं पाये थे; मैदानों को साफ किया जाकर बहुत धीरे धीरे गांवों का, विकास होरहा था। जब चौथी पांचवीं एवं आगे कुछ शताब्दियों तक यूरोप की यह अवस्था थी तब शेष दुनिया का क्या हाल था ?–चीन में कई हजार वर्ष पूर्व से निरंतर एक सुसंगठित साम्राज्य और समाज का विकास होता हुआ चला आरहा था और दर्शन, कला, साहित्य, शिक्षा और सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन की परंपरा बन चुकी थी। यद्यपि कभी कभी किसी शक्तिहीन स्वार्थी सम्राट के राज्यकाल में अव्यवस्था फैल जाती थी, और देश एक सूत्र में बंधा न रह कर कई राज्यों में छिन्न भिन्न होजाता था तथापि सांस्कृतिक परम्परा कभी नहीं टूटती थी, कनफ्यूसियस के विचारों के अनुसार जीवन दृष्टिकोण के साथ साथ बुद्ध धर्म का प्रचार होने लगा था। भारत में चौथी पांचवी शताब्दी में गुप्त वंश के सम्राटों के आधीन भारत का स्वर्ण युग था, लोग शिक्षित, सभ्य और सुसंस्कृत थे, व्यवस्थित समाज था, शिक्षा के लिये बड़े बड़े विश्वविद्यालय थे, हिंदू धर्म उन्नत दशा में था–बौद्ध धर्म इस देश से धीरे धीरे विलीन होरहा था, जब महाकवि कालीदास अपनी 'शकुन्तला' गारहा था और संसार प्रसिद्ध अजन्ता की गुफाओं के सौन्दर्य की रचना होरही थी। पूर्वीय द्वीप समूहों में भारतीय फैल चुके थे, वहां उनका साम्राज्य था एवं विशाल क्षेत्र में व्यापार। पूर्वी यूरोप में (ग्रीस, बाल्कन, प्रदेश) पूर्वीय रोमन साम्राज्य जिसका अंत नहीं हुआ था अपनी परम्पराओं को किसी तरह चला रहा था, यद्यपि गोथ और स्लैव लोगों के आक्रमण इन प्रदेशों में भी बराबर होरहे थे। एशिया माइनर, सीरीया, इजराइल, मिश्र में भी पूर्वीय रोमन साम्राज्य के अंतर्गत

जीवन कुछ व्यवस्थित ढंग से चल रहा था; ईसाई धर्म का प्रचलन था, यहूदी लोग भी इधर उधर फैले हुए थे; किंतु ईरान से ईरानी सम्राटों के आक्रमण इन एशियाई प्रदेशों में बराबर होरहे थे। फिर भी इन प्रदेशों के गांवों में कृषि निरंतर होती रहती थी एवं अनेक व्यापारिक नगर जैसे पलमिरा, एन्टीयोच, दमिश्क, इत्यादि बसे हुए थे और उनका व्यापार समृद्धि पर था। मेसोपोटेमिया और ईरान में ईरानी सम्राटों का राज्य था—पूर्वीय रोमन साम्राज्य से इनके युद्ध होते रहते थे—किन्तु गांवों और नगरों में सामाजिक जीवन प्रायः व्यवस्थित ढंग से चलता रहता था; ईरान में जरथुस्त्र (पारसी) धर्म का प्रचलन था। इस्लाम धर्म के उदय होने में अभी कुछ वर्ष बाकी थे सभ्यता के ऐसे भी अवशेष अब मिले हैं जिनसे पता लगा है कि उस समय अफगानिस्तान और मध्य तुर्किस्तान में भी सभ्य अवस्था थी, एव वे बौद्ध धर्म से परिचित थे।

इन उपर्युक्त भूभागों को छोड़कर शेष दुनिया में यथा—ठेठ उत्तरीय यूरोप एवं एशिया (साईबेरिया) में, समस्त मध्य एवं दक्षिणी अफ्रीका में आस्ट्रेलिया एवं निकटस्थ अन्य द्वीपों में, और अमेरिका एवं निकटस्थ द्वीपों में मानव यदि बसा हुआ था तो अपनी आदिम अवस्था में था, साधारणतया हम कह सकते हैं कि इन भूभागों में मानव चहलपहल प्रायः नहीं थी।

इस प्रकार दुनिया की उस समय की स्थिति का जब यूरोप में आधुनिक यूरोपीय लोगों के इतिहास का प्रारम्भ हो रहा था, हम बहुत संक्षेप में अवलोकन कर आये हैं। ऊपर जो कुछ भी लिख आये हैं, उसके आधार पर, एवं उसके आगे यूरोप के विकास की कहानी को ध्यान में रखते हुए यूरोप के इतिहास को मोटे तौर से हम निम्न विभागों में बांट सकते हैं।

प्रागैतिहासिक—

(१) अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल—जब पाषाण युगीय मानव यूरोप में बसता होगा (विवरण अध्याय १०)

(२) लगभग ३०००–१००० वर्ष ई० पू० भूमध्यसागर के द्वीपों में (क्रीट), एवं ईजीयन प्रदेशों में, सौर-पाषाणी सभ्यता (विवरण अध्याय १७)

प्राचीन–

(३) लगभग १०००–१५० ई० पू० तक–ग्रीक सभ्यता (ग्रीस और बृहद ग्रीस में–देखिये विवरण अध्याय २६)

(४) लगभग १००० वर्ष ई० पू० से ४७० ई० सन् तक–रोमन सभ्यता (समस्त दक्षिणी यूरोप) विवरण अध्याय २७

मध्य–

(५) पांचवीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक–यूरोप का मध्य युग (अंधकारमय) विवरण अध्याय ४२

आधुनिक–

(६) आधुनिक युग :– १५वीं शताब्दी में पुनर्जागरण काल से आजतक ।

अब हम बहुत संक्षेप में आधुनिक यूरोपीय राज्यों के उद्भव और विकास की रूपरेखा देकर आधुनिक यूरोप के मानव की (अलग अलग देशों की नहीं) सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक उन्नति और विकास की कहानी का अवलोकन करेंगे।

फ्रान्स

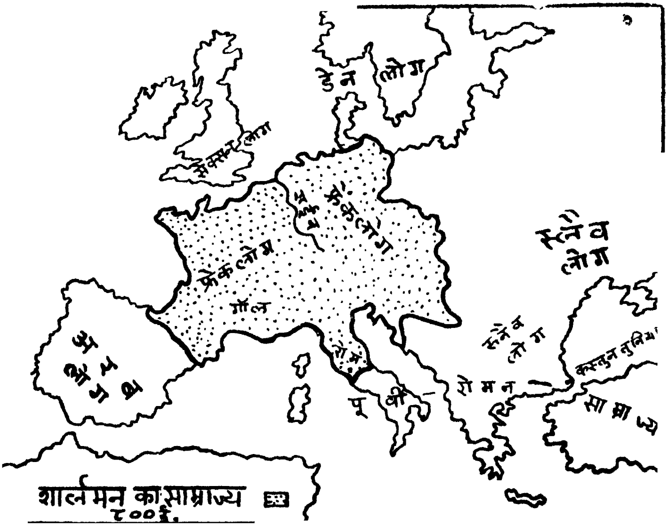
पच्छिमी रोमन साम्राज्य के पतन के बाद सर्वत्र यूरोप में जो एक बार अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता फैली, उस समय कोई भी राज्य, राजा, या संगठन ऐसा नहीं था जो एक साधारण, सभ्य, सुरक्षित समाज कायम रख सकता। ऐसी परिस्थितियों में धीरे धीरे जो पहिला सुगठित राज्य पच्छिम यूरोप में उद्भव हुआ वह था फ्रेंकिश(Frankish) राज्य और इसका संस्थापक था एक व्यक्ति जिसका नाम था क्लोविस (४८१–५११)। क्लोविस यूरोप के उस भूभाग से जो आज बेलजियम

है अपने राज्य का विस्तार प्रारम्भ करके, सब गोथ या फ्रेंक सरदारों या नेताओं को दबाता हुआ, ठेठ स्पेन के उत्तर में पेरीनीज पर्वत तक पहुंचा। क्लोविस की मृत्यू के बाद उसके राज्य के दो अंगों में विभाजन की एक लहर चली, एक तरफ तो उन फ्रेंक लोगों का अलग संगठन बनने लगा जो इटली के उत्तर पच्छिम में उस भूभाग में बस गये थे, जिस पर पहिले रोमन सम्राटों का अधिकार था, जो उनके जमाने में गॉल कहलाता था, और जहां रोमन लोगों की लेटिन भाषा प्रचलित थी। इन भूभागों में बसे फ्रेन्क लोगों ने कुछ कुछ लेटिन भाषा अपना ली थी। दूसरा संगठन उन फ्रेंक लोगों का बनने लगा जो राइन नदी के दूसरे पार बस गये थे जहां तक रोमन भाषा नहीं पहुंचती थी। उन्होंने अपनी आदि गोथ भाषा को ही अपनाये रक्खा। इस तरह क्लोविस ने जो राज्य स्थापित किया था उसमें भेद शुरु हुआ। इस राज्य का पच्छिमी भाग जहां की भाषा लेटिन से विकसित होकर फ्रेंच हुई फ्रान्स कहलाया, पूर्व की भाषा जर्मन रही और वह देश धीरे धीरे जर्मनी कहलाया।

इस भूभाग के एक राजा चार्ल्स मारटेल (६९०–७४१ ई०) ने सन् ७३२ ई० में पोईटर के मैदान में मुसलमानों को हराया जो स्पेन विजय करने के बाद आगे यूरोप की ओर बढ़ रहे थे। चार्ल्स मारटेल की इस विजय ने मुसलमानों के लिये पच्छिम में यूरोप का रास्ता सर्वदा के लिये बन्द कर दिया।

चार्ल्स मारटेल के बाद एक अन्य महान् राजा का उदभव हुआ जो इतिहास में शार्लमन के नाम से प्रसिद्ध है। उसने अपने राज्य का बहुत अधिक विस्तार किया। समस्त उत्तरी इटली, और आज फ्रान्स; जर्मनी, वेलजियम, हौलेंड, स्वीटजरलैंड इत्यादि जो प्रान्त हैं वे सब उसके राज्य के अन्तर्गत थे। सन् ७७८ से ८१४ तक उसका राज्य रहा। उपरोक्त विभाजन की लहर की वजह से फ्रांस और जर्मनी जो अलग अलग विभाग हो गये थे वे भी इसके राज्य काल में एक सुसंगठित राज्य में

सम्मिलित थे। नये निर्माण होते हुए यूरोप का वस्तुतः यह प्रथम सम्राट था जिसने सुसंगठित शक्तिशाली राज्य की नींव डाली। विशालकाय, सतत क्रियाशील अजब स्फूर्ति वाला यह राजा था जो प्रतिपल गतिमान रहता था—जो स्वयं स्यात् चाहे पढ़ा न हो किन्तु विद्या और विद्वानों से प्रेम करता था। यह वही शार्लमन था जिसको रोम के पोप ने सन् ८०० ई० में पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रथम सम्राट घोषित किया था। इसकी मृत्यु के बाद सन् ८४० ई० में उसके पोते के राज्य-काल में फ्रांस और जर्मनी हमेशा के लिये पृथक होगये। अब तक फ्रांस और जर्मनी का जो एक सम्मिलित इतिहास चल रहा था वह अब पृथक पृथक होगया।



शार्लमन का साम्राज्य ८०० ई.

८४० ई० से ९८७ ई० तक शार्लमन के वंशज कार्लोविंजियन राजाओं का राज्य रहा। सन् ९८७ ई० में एक सरदार ह्यू केपट (९८७-९९६ ई० राज्यकाल) (Hugh Capet) नें कार्लोविंजियन

राजाओं को हटाकर फ्रांस का अनुशासन अपने हाथ में लिया। ऐसा माना जाता है कि उसी समय से फ्रांस एक अलग राष्ट्र बना। इस समय तक तो केन्द्रीय शक्ति अथवा राजा के आधीन राज्य का संगठन कुछ ठीक ठीक रहा किन्तु इसके अनन्तर कई शताब्दियों तक राज्य अनेक छोटे छोटे सरदारों के हाथों में बंटा रहा, केन्द्रीय शक्ति नाम मात्र रही। इस अरसे में इङ्गलैंड से १०० वर्ष का युद्ध हुआ जब फ्रांस की प्रसिद्ध वीर रमणी जॉन आफ आर्क (१२८५-१३१४) ने अपने देश की रक्षा की। अन्त में सन् १६४३ ई० में जाकर सम्राट लुई XIV के राज्य काल में फ्रान्स एक शक्तिशाली सुसंगठित राज्य बना।

यूरोपियन जातियां इस समय पूर्व में अफ्रीका, भारत और चीन की तरफ और पच्छिम में अमेरिका की तरफ व्यापार के लिये और नये उपनिवेश स्थापित करने के लिये बढ़ने लग गई थीं। इसी सिलसिले में, १८वीं शताब्दी में इङ्गलैंड और फ्रांस में विरोध उत्पन्न हुआ, अनेक युद्ध हुए और सन् १७६३ ई० में पेरिस की सन्धि हुई जिसके अनुसार फ्रांस को अमेरिका और भारत में अपने सब जीते हुए राज्य, या उपनिवेश छोड़ देने पड़े।

राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ रही थी और शिक्षित मध्यवर्गीय लोगों में असन्तोष और बेचैनी का प्रसार हो रहा था। फलतः प्रजातन्त्रीय राज्यों के लिये, मनुष्यों में समानता और भ्रातृत्व के लिये, मानव की स्वतन्त्रता के लिये, सन् १७८९ ई० में इतिहास प्रसिद्ध फ्रांस की क्रान्ति हुई और देश में प्रजातन्त्र (रिपब्लिक) की स्थापना हुई। क्रांतिकारियों में जोश और उत्साह तो था किन्तु अनुभवहीनता की वजह से, कोई सुसंगठित दल न होने की वजह से ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हुईं कि वीर योद्धा जिसका नाम नेपोलियन था, वह प्रजातन्त्र ख़त्म करने में और स्वयं अकेले देश का अधिनायक बन जाने में सफल हुआ। इस इतिहास प्रसिद्ध नेपोलियन ने अपने राज्य का विस्तार किया किन्तु अन्त में ट्राफालगर के युद्ध में वह परास्त हुआ;—सन् १८१५ ई० में

वियेना की सन्धि की गई जिसके अनुसार फ्रांस के आधीन इतनी ही भूमि रही जितनी नेपोलियन के प्रकट होने के पूर्व उसके पास थी।

सन् १८१५ से १८४८ तक पुराने बोरबन राज्य वंश के राजाओं का राज्य चलता रहा।

सन् १८४८ में दूसरी राज्य क्रान्ति हुई, दूसरी बार प्रजातन्त्र की स्थापना हुई किन्तु फिर नेपोलियन द्वितीय ने जो उपरोक्त योद्धा नेपोलियन का भतीजा था प्रजातन्त्र को ध्वस्त कर फिर से राज्यशाही स्थापित की।

किन्तु जर्मनी के साथ युद्ध ठन गया था। उसमें इस राज्य-शाही का खातमा हुआ। लोगों ने तंग आकर आखिर सन् १८७१ ई० में फिर से प्रजातन्त्र की स्थापना की। फ्रांस में यह तीसरा प्रजातन्त्र था। इस बार प्रजातन्त्र के लिये एक संविधान तैयार किया गया और उसी के अनुसार अब तक फ्रांस का राज्य-शासन चल रहा है। तब से आज तक दो महायुद्ध हो गए, दूसरे महायुद्ध में फ्रांस जर्मनी द्वारा पददलित और पदाक्रान्त भी किया गया। किन्तु सन् १९४५ में मित्र राष्ट्रों की विजय के उपरान्त फ्रांस ने युद्ध में खोई हुई अपनी शक्ति और समृद्धि को फिर से पा लिया।

जर्मनी

फ्रांस का हाल लिखते समय यह कहा जा चुका है कि यूरोप में सर्वत्र फैली हुई अनिश्चित अवस्था में से जब धीरे धीरे राज्यों का उद्भव और विकास होने लगा था उस समय सबसे पहला राज्य जिसका उद्भव हुआ वह था क्लोविस और शार्लमन का फ्रेंकिश (Frankish) राज्य जिसमें प्रायः आधुनिक फ्रांस और जर्मनी दोनों सम्मिलित थे। यह भी लिखा जा चुका है कि भिन्न भिन्न भाषा संस्कार की वजह से एवं संकुचित जाति भावना की वजह से अन्त में सन् ८४० ई० में फ्रांस और जर्मनी हमेशा के लिये पृथक होगये। यह भी हम कह आये हैं कि

शार्लमन के राज्यकाल में सन् ८०० ई० में रोम के पोप ने शार्लमन को पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रथम सम्राट घोषित किया और उस समय उसके राज्य विस्तार में अन्य प्रदेशों के अतिरिक्त जहां आधुनिक फ्रांस और जर्मनी हैं उनकी सीमायें भी सम्मिलित थीं। सन् ८४० ई० में जब फ्रांस और जर्मनी दोनों पृथक हुए तो फ्रांस ने तो पवित्र रोमन साम्राज्य कहलाये जाने का लोभ संवरण करके स्वतन्त्र अपना विकास करना प्रारम्भ किया, किन्तु जर्मनी के शासक पर रोम के पोप का प्रभाव रहा और जर्मनी का राज्य पवित्र रोमन साम्राज्य के नाम से चलता रहा और वहां का शासक पवित्र रोमन सम्राट के नाम से। सन् ८४० के बाद से ही जर्मनी (या पवित्र रोमन साम्राज्य) अनेक छोटे छोटे सामन्तशाही भागों में विभक्त था; पृथक पृथक भाग के सामन्त "ड्यूक" कहलाते थे। बीच में एक शक्तिशाली सम्राट ओटो प्रथम ने (९१२–९७३ ई०) अपने प्रयास और शक्ति से समस्त राज्य को एक केन्द्रीय शक्तिशाली राज्य में परिवर्तित किया और पूर्व में उसका विस्तार वहां तक किया जहां तक सम्राट शार्लमन का राज्य विस्तार था। ओटो महान् के काल से ही जर्मन पृथक एक राष्ट्रीय जाति मानी जाती रही है किन्तु ओटो महान् के बाद साम्राज्य फिर अपनी उन्हीं सामन्तशाही डचीज़ (ड्यूक सामन्तों के अधिकार में छोटे छोटे राज्य) की अवस्था में आ गया। इस साम्राज्य का सम्राट वंशगत नहीं होता था किन्तु उसकी नियुक्ति भिन्न भिन्न ड्यूक लोग एवं गिरजाओं के मुख्य पादरियों के द्वारा निर्वाचन से होती थी, जिसमें पोप का बहुत जबरदस्त हाथ रहता था। अनेक डचीज़ थीं एवं अनेक गिरजा। अतएव सम्राट के निर्वाचन में बड़े झगड़े होते थे। अन्त में सम्राट चार्ल्स चतुर्थ ने अपने राज्य काल में गोल्डन बुल (१३५३ ई०) नाम से एक निमय घोषित किया जिसमें निर्वाचन का अधिकार केवल तीन गिरजाओं के (मोंज, कोलोन और टिर्बिज़) पादरियों को एवं तीन डचीज़ (सैक्सोनी, राइन, बोहेमिया) को दिया गया। निर्वाचन भी केवल एक सिद्धान्त की

वस्तु रह गया, व्यवहार की नहीं,--व्यवहार में तो बहुधा वंश परम्परा से ही सम्राट बनते रहे। किन्तु इससे भी शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य की स्थापना नहीं हो सकी। जब कि इङ्गलैंड, फ्रांस और स्पेन तो राजाओं के केन्द्रीय शासन के आधीन संगठित और शक्तिशाली राज्य बन रहे थे, जर्मनी अर्थात् पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट सत्ताहीन बना रहा, चाहे सिद्धान्त में वह समग्र पच्छिमी यूरोप का भौतिक (Temporal) अधिनायक एवं सम्राट माना जाता था। इस साम्राज्य में दो राज्यों की प्रमुखता बढ़ रही थी। एक तो उत्तर में प्रशा की जहां होहनजोलर्न वंश के राजा राज्य करते थे। सन् १४३८ ई० में आस्ट्रिया के हप्सबर्ग वंश का शासक सम्राट चुना गया। इस वंश के सम्राट १८०६ ई० तक शासनारूढ़ रहे। १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसी वंश का मैक्समिलन प्रथम (१४५३-१५१९ ई०) सम्राट बना, उसने एक अन्तिम बार शासन विधान सुधारने का प्रयत्न किया। इससे इतना तो हुआ कि भिन्न भिन्न छोटे छोटे राज्यों के शासकों में झगड़े तय करने के लिये एक राजकीय गृह (Imperial Chamber) स्थापित हो गया किन्तु सम्राट की सत्ता केन्द्रीभूत होकर शक्तिशाली नहीं बन पाई। इसके बाद १६वीं शताब्दी से मार्टिन लूथर के नेतृत्व में धार्मिक सुधार की एक शक्तिशाली धारा प्रवाहित हुई। साम्राज्य के कुछ राज्यों ने लूथर के सुधारों का पक्ष लिया, कुछ राज्यों ने पुराने कैथोलिक पोप का पक्ष लिया अतः तीस वर्षीय (१६१८-१६४८) धार्मिक युद्ध हुए जिनमें सम्राट की केन्द्रीय शक्ति और भी शिथिल हो गई, साम्राज्य का विस्तार भी कम हो गया। जर्मन राज्य कई सैकड़ों छोटे छोटे राज्यों (डचीज) में विभक्त रहा। इन झगड़ों में प्रशा के शासक ने अपनी शक्ति बढ़ाई, आस्ट्रिया के बाद वही प्रमुख था। १८वीं शताब्दी में जर्मन जाति के लोगों में प्रशा की शक्ति और महत्व बढ़ा। फेड्रिक महान् (१७४०-१७८०) के नेतृत्व में प्रशा एक सुसंगठित राज्य बना। उसने अपनी विजयों से अपने राज्य प्रशा में आस्टिया, पोलैंड के भी कई भाग

मिलाये। किन्तु १८वीं शती के अन्तिम वर्षों में फ्रांस में नेपोलियन का उदय हुआ, अपनी यूरोप विजय में नेपोलियन ने सन् १८०६ में पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त किया, साम्राज्य का पूर्व भाग आस्ट्रिया जहां का ह्प्सबर्ग वंश का शासक साम्राज्य का सम्राट होता था, साम्राज्य से अलग हुआ; पच्छिमी भाग के राज्यों को मिलाकर राइन कन्फीडरेशन (राइन संघ) बनाया गया। तभी से (१८०६) आस्ट्रिया के शासक फ्रांसिस द्वितीय ने अपनी उपाधि 'पवित्र रोमन सम्राट' का त्याग कर दिया और अपने आपको केवल आस्ट्रिया का सम्राट घोषित किया। फिर नेपोलियन की पराजय के बाद वियना की कांग्रेस में सन् १८१५ में राइन कन्फीडरेशन के छोटे छोटे राज्यों का अन्त करके केवल ३९ राज्यों का एक संघ बनाया गया। इस संघ के राज्यों में सर्वाधिक महत्व प्रशा का ही रहा—आस्ट्रिया तो सन् १८०६ में अलग हो ही गया था। धीरे धीरे प्रशा ने संघ के सब राज्यों पर (जो जर्मन जाति के ही थे) राष्ट्रीयता की प्रेरणा से अपना प्रभाव डाला। इसी समय प्रशा के शासक का प्रधान मन्त्री प्रसिद्ध लोह पुरुष बिसमार्क था। उसके नेतृत्व में संघ खत्म किया गया (१८६४ ई०) और जर्मनी एक राज्य घोषित किया गया। जर्मनी का एकीकरण फ्रांस-प्रशा युद्ध में फ्रान्स की पराजय के बाद सन् १८७० से पूरा हुआ, जब प्रशा का शासक 'एक जर्मन राज्य" का सम्राट (केसर) घोषित किया गया। सम्राट ने एक राष्ट्र सभा (राइकस्टेग) और एक कार्य कारिणी (राइकस्टीट) की घोषणा की। जर्मनी को एक शक्तिशाली सुसंगठित राज्य बनाने का श्रेय बिस्मार्क को हो जाता है। सन् १८७० में एकीकरण के बाद जर्मनी ने प्रत्येक क्षेत्र में, क्या उद्योग, क्या सैन्य शक्ति, क्या शिक्षा, विज्ञान, अनुशासन और संगठन, सब में अभूतपूर्व उन्नति की, और वह यूरोप का एक महान् राष्ट्र बन गया। सन् १९१४ में उसने प्रथम विश्व युद्ध लड़ा, युद्ध में उसकी पराजय हुई एवं युद्ध के बाद वरसाई की संधि (१९१९ ई०) में उसको बहुत हानि हुई; किन्तु फिर सन् १९३९ तक

केवल २० ही वर्ष में वह संसार का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बनकर खड़ा हो गया। फिर द्वितीय विश्व-युद्ध (सन् १९३९-४५) उसने लड़ा, इसमें पराजय हुई। आज सन् १९५६ में जर्मन भूमि के चार भिन्न भिन्न विभाजित क्षेत्रों में एक एक में अलग अलग अमरीकन, रूसी, इंगलिश और फान्सिसी सेनाओं का अधिकार है,—द्वितीय महायुद्ध के बाद अब तक कोई स्थायी संधि नहीं हो पाई है।

इंगलैंड

इङ्गलैंड का इतिहास भी उन नोर्डिक आर्यन लोगों का इतिहास है जो ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से शुरू कर ११वीं शताब्दी तक समय समय पर यूरोप महाद्वीप से इङ्गलिश चेनल को पार करके इङ्गलैंड पहुंचते रहे और वहां बसते रहे।

हजारों वर्ष पहिले इङ्गलैंड में प्रागैतिहासिक युग में जंगली अवस्था के लोग रहते थे जो यूरोप महाद्वीप से वहां पहुंचे होंगे। उनके कोई अवशेष चिन्ह नहीं हैं। फिर महाद्वीप से पाषाणी सभ्यता के वे लोग वहां पहुंचे जिनको आइबिरियन या गेलिक नाम दिया जाता है। इन लोगों के भी कोई वंशज नहीं हैं। फिर ईसा के पूर्व कुछ शताब्दियों में नोर्डिक-आर्यन लोगों की केल्टिक जाति के लोगों का प्रवाह इङ्गलैंड गया। ये वे ही लोग थे जो बाद में ब्रिटन्स कहलाये, और जिनकी गाथायें उनके पौराणिक राजा आर्थर की कथाओं में गाई गई हैं। ई० पू० की शताब्दियों में इन्हीं लोगों के जमाने में प्राचीन काल के प्रसिद्ध मल्लाह और व्यापारी फिनिसियन लोग वहां पर टीन की तलाश में पहुंचे थे, जिसका वे कांसा नाम की धातु बनाने में प्रयोग करते थे। उस काल में कांसा धातु के औजार और हथियार बना करते थे।

ईसा काल के शुरू में इङ्गलैंड में रोमन लोगों के भी आक्रमण हुए। वह प्रथम रोमन योद्धा जो सर्वप्रथम इङ्गलैंड पहुंचा था, प्रसिद्ध रोमन जनरल जूलियस सीजर था। ५५ ई० पू० में इसका प्रथम आक्रमण

हुआ, किन्तु इङ्गलैंड को विजय करने के उद्देश्य से निरन्तर आक्रमण ४३ ई० से प्रारम्भ हुए और तभी से वहां उनका राज्य स्थापित हुआ। लगभग ४०० वर्षों तक रोमन लोगों ने वहां राज्य किया। अपने राज्य-काल में उन्होंने देश भर में अच्छी अच्छी सड़कें बनाईं जिनके कुछ अवशेष अब भी मिलते हैं और देशभर में एक शांतिपूर्ण और सुव्यवस्थित राज्य कायम रक्खा। ये लोग वहां पर बसने के उद्देश्य से नहीं गये थे, केवल कुछ जनरल, सिपाही और अफसर राज्य करने के लिए वहाँ पहुंच गये थे। लगभग ४१० ई० में वे वहां से लौट आये।

अब ५वीं शताब्दी में (४४६ ई० से शुरू होकर) नोर्डिक लोगों के आक्रमण प्रारम्भ हुए जो वहां जाकर बसे और जो आज के अंग्रेज लोगों के पूर्वज हैं। इन नोर्डिक लोगों में प्रथम आक्रमण ऐन्गल्स्, सेक्सन्स और जूट लोगों का था। इनका प्रवाह छठी शताब्दी तक चलता रहा, सर्वत्र इंगलैंड में इनकी बस्तियां फैल गईं और ये स्थायी रूप से वहांबस गये। केन्ट, सुसेक्स्, वेसेक्स्, इसेक्स् इत्यादि छोटे छोटे राज्य उन्होंने स्थापित किये। इन लोगों के आने के पूर्व जो कोल्टिक लोग इङ्गलैंड में बसे हुये थे वे पच्छिम की ओर खिसकते गये पहिले वे वेल्स में जाकर बसे और अन्त में आयरलेंड में। ये ही केल्टिक लोग आज के आइ-रिश लोगों के पूर्वज हैं। उपरोक्त सुसेक्स्, वेक्सेस् इत्यादि जो छोटे छोटे राज्य एङ्गलोसेक्सन लोगों ने स्थापित किये, उन्हीं में से वेसेक्स् के राजा एगबर्ट ने अपना प्रभाव बढ़ाया, और सन् ८२७ ई० में अन्य सब छोटे छोटे सरदारों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया, इङ्गलैंड का सर्वप्रथम राजा यही एगबर्ट (८२७–८३९ ई० राज्यकाल) माना जाता है। इसी परम्परा में इङ्गलैंड का एक राजा अलफ्रेड महान् (८७१–९०१ ई० राज्यकाल) हुआ जिसने देश की व्यवस्था में कई सुधार किये, शिक्षा का प्रचार किया और लोगों के जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न किया।

नोर्डिक लोगों का दूसरा प्रवाह ८वीं ९वीं शताब्दी में चला। यह प्रवाह एक दूसरी नोर्डिक जाति, डेनिश लोगों का था। ये वे ही डेनिश

लोग थे जो मुख्यतया दक्षिणी स्वीडन और होलेंड में बसे हुये थे, जो बड़े साहसी मल्लाह थे और जिन्होंने उस जमाने में ग्रीनलैंड और आइसलैंड की यात्रा की थी। इन लोगों ने इङ्गलैंड के कई भागों में अपना राज्य स्थापित किया। सन् १०१६ ई० में प्रसिद्ध डेनिश राजा केन्यूट (१०१७–१०३५ ई० राज्यकाल) का इङ्गलैंड, डेनमार्क और स्वीडन में राज्य था। किन्तु फिर एक तीसरी नोर्डिक जाति के इङ्गलैंड में आक्रमण प्रारम्भ हुए। नोर्डिक लोगों का यह तीसरा प्रवाह उन नोरमन लोगों का था जो कई शताब्दियों से फ्रांस में बसे हुए थे। फ्रांस के एक प्रदेश नोर्मेंडी के ड्यूक विलियम ने इङ्गलैंड पर आक्रमण किया (१०६६ ई०)। यह विलियम (१०६६–१०८७ ई० राज्यकाल) इतिहास में "इङ्गलैंड का विजेता" के नाम से प्रसिद्ध है। इङ्गलैंड में अब नोरमन लोगों का राज्य स्थापित हुआ। इनकी भाषा और संस्कृति फ्रेंच नोरमन थी। किन्तु डेढ़ सौ वर्षों में ये इङ्गलैंड के एन्गल्स् और सेक्सन्स अर्थात् अंग्रेज लोगों में इतने घुलमिल गये और इनका उनके साथ इतना सम्मिश्रण होगया कि नोरमनफ्रेंच भाषा और संस्कृति बिल्कुल भुलादी गई और इनकी जगह एंगलोसेक्सन भाषा (जिसका विकसित रूप आधुनिक अंग्रेजी भाषा है) और एंगलोसेक्सन रहन सहन इन्होंने ग्रहण किया।

हमने देखा कि इङ्गलैंड पर एंगलोसेक्सन, डेन्स नोरमन इत्यादि भिन्न भिन्न जाति के लोगों के आक्रमण हुए, किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि वास्तव में इन लोगों में सामाजिक और उपजातिगत (Racial) अन्तर नहीं के बराबर था।

उपरोक्त एंगलोसेक्सन, डेन्स, नोरमन लोग इङ्गलैंड आये, सैंकड़ों वर्ष साथ रहते रहते एक परम्परा, एक जाति का विकास हुआ। यह जाति अंग्रेज जाति थी। इस जाति के भिन्न भिन्न राज्यवंशों के राजा इङ्गलैंड में राज्य करते रहे। १३वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक इङ्गलैंड का इतिहास इसी बात का इतिहास है कि राजा बड़ा या प्रजा, राजा बड़ा या प्रजा के प्रतिनिधि बड़े। एंगलोसेक्सन लोगों के

जमाने से देश में यह एक रस्म चली आती थी कि राजा जाति के नेताओं को बिना पूछे कोई नया नियम नहीं बना सकते थे एवं बिना उनकी अनुमति के कोई नया कर भी नहीं लगा सकते थे। १३वीं शताब्दी में इङ्गलैंड का जोह्न (११६६–१२१६ ई० राज्यकाल) नामक एक शक्तिशाली राजा था। उसने बैरन्स (जो बड़े बड़े सामन्त होते थे) की अनुमति के बिना नियम बनाने चाहे और कुछ पैसा एकत्रित करना चाहा। बस इसी बात पर झगड़ा होगया। अन्त में राजा को झुकना पड़ा और उसे इतिहास के उस प्रसिद्ध पत्र पर जिसे "मेगनाकार्टा" कहते हैं अपनी स्वीकृति की सील लगानी पड़ी। यह सन् १२१५ ई० की घटना है। इसमें मुख्य बात यही थी कि राजा को भी किसी नियम तोड़ने का अधिकार नहीं है और न उसे बिना कौंसिल की अनुमति के नियम परिवर्तन करने का अधिकार है। यह मेगनाकार्टा इङ्गलैंड का वह प्रसिद्ध कानूनी पत्र है जिससे हमेशा के लिए यह स्थापना सिद्ध हुई कि देश के कानून के परे और ऊपर कोई भी व्यक्ति नहीं—चाहे वह छोटा हो चाहे बड़ा।

१३वीं शताब्दी में इङ्गलैंड के राजा लोग अपनी सलाहकार समिति में बैठने के लिये सामन्तों के अतिरिक्त नगरों के मध्य-वर्गीय व्यापारियों एवं छोटे जागीरदारों के प्रतिनिधियों को भी बुलाने लगे। किन्तु इन लोगों ने सामन्तों से पृथक बैठना ही अधिक अच्छा समझा और इस प्रकार धीरे धीरे राजा की जो कौंसिल थी और जिसमें केवल बैरन्स (Barons) (बड़े बड़े सामन्त) लोग सम्मिलित होते थे वह पार्लियामेण्ट (राष्ट्र सभा) के रूप में परिवर्तित हो गई और उस पार्लियामेण्ट के दो विभाग हो गये। एक हाउस ऑफ लोर्डस (House of Lords) जिसमें बड़े बड़े सामन्त बैठते थे और दूसरा हाउस ऑफ कॉमन्स (House of Commons) जिसमें साधारण लोग बैठते थे।

१४९२ में महादेश अमेरिका का पता लग चुका था, एवं धीरे २ अन्य कई छोटे बड़े द्वीपों का भी पता लग गया था। यरोप निवासी बडी बडी

समुद्र-यात्रायें करने लग गये थे और दूर देशों में उपनिवेश और व्यापार-सम्बन्ध कायम करने लग गये थे; यूरोपीय देशों में इन बातों में होड़ भी होने लगी थी। सन् १५८८ ई० में इङ्गलैंड के प्रसिद्ध सैनिक सर फ्रांसिस ड्रेकने, जिसने जहाज में दुनिया का चक्कर लगाया था, स्पेनिश जहाजी बेड़े को करारी हार दी और तभी से इङ्गलैंड समुद्र की रानी बन गया। नौ-शक्ति एवं व्यापारिक वृद्धि के फलस्वरूप १६-१७वीं शताब्दी में महारानी एलिजाबेथ (१५५८–१६०३ ई० राज्यकाल) के राज्यकाल में इङ्गलैंड एक बहुत ही धनिक और समृद्धिशाली देश बन चुका था। इसी जमाने में इङ्गलैंड का संसार प्रसिद्ध कवि और नाटककार शेक्सपियर हुआ।

उपरोक्त राजा और पार्लियामेंट की लड़ाई चलती रही, राजा को सन् १६२८ ई० में एक "अधिकार पत्र" (Petition of Rights) पर जिसमें पार्लियामेंट के अधिकार सुरक्षित किये गये थे अपने हस्ताक्षर करने पड़े किन्तु राजा ने इसकी परवाह नहीं की अतएव सन् १६२४ ई० में गृह युद्ध प्रारम्भ हुआ; राजा हारा, ओलिवर क्रोमवेल के नेतृत्व में पार्लियामेंट जीती और इङ्गलैंड प्रजातन्त्र राज्य घोषित हुआ। राजा चार्ल्स प्रथम को फांसी दी गई, ओलिवर क्रोमवेल देश का शासक बना। सन् १६५३ से १६५८ तक उसका शासन रहा किन्तु अधिक सफल नहीं; अतएव सन् १६६० ई० में राज्यशाही की फिर से स्थापना की गई और चार्ल्स द्वितीय को देश का राजा बनाया गया। किन्तु चार्ल्स द्वितीय और उसके बाद जेम्स द्वितीय रोमन केथोलिक मतावलम्बी थे—जब कि प्रजा प्रोटेस्टेंट, और साथ ही ये राजा मनमानी करते थे, पार्लियामेंट के महत्व को स्वीकार नहीं करते थे। फलस्वरूप फिर इङ्गलैंड में राज्य क्रांति हुई (१६८८) जिसे रक्त-हीन क्रांति एवं गौरव-पूर्ण राज्य क्रान्ति कहते हैं। प्रजा की मनोवृत्ति और तैयारी को जानकर जेम्स द्वितीय बिना युद्ध किये गद्दी छोड़कर भाग गया—और पार्लियामेंट ने एक प्रोटेस्टेंट राजा विलियम को गद्दी पर बैठाया। रक्तहीन राज्य-क्रान्ति से इङ्गलैंड में "राजा के दैवी अधिकार का सिद्धान्त" खत्म हुआ,

उसके स्थान पर देश में नियमानुमोदित वैधानिक शासन की स्थापना हुई। यह स्पष्ट रूप से स्थापित हो गया कि पार्लियामेंट ही देश के शासन में प्रधान अंग है। विलियम के शासनारूढ़ होने पर पार्लियामेंट ने उससे "अधिकार घोषणापत्र" (Bill of Rights) पर हस्ताक्षर करवा लिये–जिसके अनुसार राज्य का धन, सेना, तथा राजनियम सब पार्लियामेंट के आधीन होगये। पार्लियामेंट की प्रभुता दृढ़ रूप से स्थापित होगई। १६८६ से भिन्न भिन्न राजा राज्य करते रहे–किन्तु सन् १७१४ में हनोवर वंश के राज्य-काल से इङ्गलैंड के इतिहास की गति में आधुनिक नये तत्व पैदा हुए। १६८८ में पार्लियामेंट का अधिकार स्थापित हो ही चुका था–अतः अब देश के शासन का संचालन राजा द्वारा नहीं किंतु पार्लियामेंट के मन्त्री-मण्डल द्वारा होता था। शासन प्रबंध सब मंत्री मंडल के हाथ में आगया–राजा का काम परामर्श देना या देश का प्रथम 'व्यक्ति' (Gentleman) का स्थान सुशोभित करना रह गया–तभी से दुनिया के भिन्न भिन्न भागों में अंग्रेजों के उपनिवेश और धीरे धीरे उनका साम्राज्य स्थापित होने लगा। देश में सन् १७५० से यांत्रिक एवं औद्योगिक क्रान्तियां हुईं–जिनने देश को समृद्ध बना दिया–वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास में इङ्गलैंड यूरोप के सब देशों से आगे रहा; साम्राज्य विस्तार में भी वह प्रथम रहा। सन् १८१५ तक भारत के कुछ भाग, दक्षिण-अफ्रीका, आस्ट्रेलिया का पूर्वी किनारा, एवं कनाडा के कुछ भागों में इङ्गलैंड के उपनिवेश राज्य थे, सन् १८८० तक सम्पूर्ण भारत, सम्पूर्ण आस्ट्रेलिया, मिश्र, सूडान, सम्पूर्ण दक्षिण अफ्रीका, न्यूजीलैंड, सम्पूर्ण कनाडा, पच्छिमी द्वीप समूह, एवं अनेक छोटे छोटे टापू, ब्रिटिश साम्राज्य के आधीन होगये। १९वीं शताब्दी में सामाजिक सुधार और उत्थान, सामाजिक सुव्यवस्था, वैज्ञानिक उन्नति, व्यक्ति अधिकारों का प्रसार इत्यादि अनेक मानवीय काम हुए। २०वीं शती में इङ्गलैंड ने दो विश्व-युद्ध लड़े–दोनों में वह जीता–यद्यपि दूसरे युद्ध (१९३९–४५) में उसकी शक्ति का काफी ह्रास हुआ; भारत,

मिश्र, बर्मा, लंका स्वतन्त्र हुए। आज (१९५० ई०) समाजवादी मजदूर दलीय सरकार इङ्गलैंड में स्थापित है।

इटली

सन् ४७० ई० में 'इटली–रोम' में प्राचीन रोमन साम्राज्य एवं सभ्यता का अंत हुआ—उत्तर, उत्तर-पच्छिम से अपेक्षाकृत असभ्य गोथिक लोगों के आक्रमण हुए—और वे इटली में बस गये। उन्हींके कई सरदारों की इटली में इधर उधर सत्ता कायम हुई–पाँचवीं शती में प्राचीन रोमन साम्राज्य के अन्त-काल से १९वीं शती तक इटली भौगोलिक दृष्टि से तो एक इकाई (एक देश) बना रहा किन्तु राजनैतिक दृष्टि से वह कभी भी एक देश नहीं बन पाया। ५वीं से १९वीं शताब्दी तक मध्य इटली–यथा रोम और आसपास के प्रदेशों में तो रोमन पोप की सत्ता बनी रही,–किंतु उत्तर दक्षिण इटली कई छोटे छोटे राज्यों में बंटा रहा, जहां बहुधा विदेशी शासक (मुख्यतया आस्ट्रिया के शासक) शासन करते रहे।

५वीं शती से १२वीं शती तक इटली पर प्रायः अन्धकारमय युग का आवरण छाया रहा। १२वीं शती में उत्तरी इटली में पो नदी के मैदान में जो लोमवार्डी का मैदान कहलाता था, एक विशेष चहल-पहल प्रारम्भ हुई–इस प्रदेश में कई व्यापारिक नगरों का उदय और अभूत-पूर्व उत्थान हुआ जिनमें मुख्य थे—वेनिस, जिनोआ, पीसा, पैडुआ, फ्लोरेंस, मिलान इत्यादि। ये नगर उस काल की ज्ञात दुनिया में प्रसिद्ध व्यापारिक और धनी केन्द्र बन गये। पूर्वीय देशों का जैसे फारस, अरब, मिश्र, भारत और पच्छिमी यूरोप का समस्त व्यापार इन्हीं नगरों के द्वारा होता था। इन नगरों में स्वतन्त्र अपने अपने गण-राज्य या व्यापारिक राजाओं के राज्य स्थापित होगये—जहां कला-कौशल, ज्ञान विज्ञान की भी खूब उन्नति हुई–मानो वे प्राचीन रोमन सभ्यता के नगर राज्यों की पुनरावृत्ति कर रहे हों। १५वीं शती तक इन नगर राज्यों की खूब उन्नति हुई—जब नये सामुद्रिक मार्गों और नये देशों की खोज

से पूर्व और पच्छिम का व्यापार अन्य राष्ट्रों जैसे स्पेन, पुर्तगाल इत्यादि के हाथ में चला गया, और इन नगरों की समृद्धि और इनका महत्व लुप्त होने लगा। कुछ काल तक इन राज्यों की परम्परा चलती रही—नाम मात्र ये राज्य चलते रहे, अन्त में १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नेपोलियन ने इनको समाप्त किया। नेपोलियन की पराजय के बाद सन् १८१५ में वियेना की कांग्रेस में इटली कई राजनैतिक भागों में विभक्त होगया—उत्तर में लोम्बार्डी और विनेशिया के प्रदेशों में आस्ट्रिया का आधिपत्य स्थापित हुआ—वस्तुतः समस्त प्रायद्वीप पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व रहा; मध्य भाग में रोम नगर के चारों तरफ पोप का राज्य रहा; कई छोटी छोटी डचीज कायम हुई जो आस्ट्रिया के प्रभुत्व में थीं; सार्डेनिया और उत्तर पच्छिम इटली में देशवासी सार्डेनिया के राजा का राज्य स्थापित हुआ, और दक्षिण इटली और सिसली में दो अलग राज्य स्थापित हुए। मतलब यह है कि इटली में कोई राजनैतिक एकता न थी, भौगोलिक एकता चाहे हो। १६वीं शती में इटली में, वहां के देश-भक्त महान् व्यक्तियों—गैरीबाल्डी और मैजिनी के नेतृत्व में आस्ट्रिया के विरुद्ध स्वतन्त्रता संग्राम चले, और एक तीव्र आन्दोलन चला कि इटली के भिन्न भिन्न राज्य मिलकर एक संगठित राज्य कायम हो। ये आन्दोलन सफल हुए; सन् १८७० ई० में सार्डेनिया के इटालियन राजा के आधीन इटली का एकीकरण हुआ, और एक स्वतन्त्र राज्य कायम हुआ—वैधानिक राजतन्त्र। प्रथम महायुद्ध (१६१४–१८) के बाद इटली में राजतंत्र खत्म किया गया और वहां जनतंत्र गणराज्य स्थापित हुआ। द्वितीय महायुद्ध (१६३६–४५) के पूर्व मुसोलिनी की एकतन्त्रीय तानाशाही कुछ वर्षों तक कायम रही, किन्तु युद्ध में वह खत्म हुई और आज इटली एक गणराज्य है।

होलैंड (नीदरलैंड) और बैलजियम

जिस प्रकार यूरोप के अन्य भागों में ५-६ शताब्दियों में नोर्डिक आर्य लोगों की भिन्न भिन्न शाखाओं के लोग बस गये थे उसी प्रकार होलैंड,

बैलजियम में भी वे बस गये थे। कई शताब्दियों तक ये प्रदेश फ्रान्स या बरगेंडी के ड्यूक या स्पेन के शासक हेब्सबर्ग वंश के आधीन रहे। १६वीं शती मे ये प्रदेश स्पेन के हेब्सबर्ग सम्राट फिलिप द्वितीय के आधीन थे। फिलिप द्वितीय कट्टर रोमन कैथोलिक था, किन्तु ये प्रदेश धार्मिक सुधार की लहर में प्रोटेस्टेंट बन गये थे। फिलिप ने इस नये धर्म को इन प्रदेशों से उखाड़ फेंकना चाहा, फलतः उसके विरुद्ध स्वतन्त्रता के लिये विद्रोह होगया। ४० वर्ष तक यह कठिन स्वतन्त्रता संग्राम होता रहा; १५७९ ई० में इन प्रदेशों का उत्तरीय भाग (अर्थात् डच, होलैंड) तो स्वतन्त्र हो गया और १६४८ ई० की वेस्टफेलिया की संधि के अनुसार यह एक स्वतन्त्र राज्य मान्य भी कर लिया गया, किन्तु दक्षिणी भाग बैलजियम, स्पेन के सम्राट के आधीन रहा। यह हालत नेपोलियन काल तक चलती रही जब १९वीं शती के प्रारम्भ में नेपोलियन ने इन प्रदेशों को फ्रेन्च साम्राज्य का अंग बनाया। १८१५ में नेपोलियन की पराजय के बाद यूरोपीय राष्ट्रों की वियेना कांग्रेस की संधि के अनुसार होलैंड और बेलजियम दोनों को मिलाकर एक अलग नीदरलैंड राज्य कायम किया गया। सन् १८३९ ई० में बैलजियम, परस्पर एक सन्धि के अनुसार, होलैंड से पृथक होगया।

डेनमार्क, नोर्वे और स्वीडन

नोर्समैन नोर्डिक उपजाति के ही लोग थे जो ५-६ शताब्दियों में डेनमार्क, नोर्वे, स्वीडन इत्यादि उत्तरी प्रदेशों में बसे हुए थे। इन लोगों ने इन प्रदेशों में अपने स्वतन्त्र राज्य कायम किये। ऐसा अनुमान है कि लगभग दसवीं शती तक नोर्वे के छोटे छोटे ठिकाने मिलकर एक राजा के आधीन एक राज्य बन गये थे। ऐसी ही प्रगति स्वीडन और डेनमार्क में भी हुई होगी। ११वीं शती तक यहां के सब लोग ईसाई बन चुके थे। ११ वीं शताब्दी में डेनमार्क का राजा कन्यूट महान् नोर्वे, इङ्गलैंड, स्वीडन के दक्षिणी भाग का भी राजा था। सन् १३९७ ई० में नोर्वे, स्वीडन, डेनमार्क राज्यों को मिलाकर डेनमार्क राजा के नेतत्व

में एक संघ बना था जिसका नाम कलमर संघ था। सन् १५२२ ई० में स्वीडन ने तो इस संघ से पृथक होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लिया किन्तु नोर्वे लगभग ४०० वर्ष तक डेनमार्क राज्य का ही अंग बना रहा। सन् १८१५ में नेपोलियन युद्धों के बाद यूरोप के राष्ट्रों की वियेना कांग्रेस में निर्णित प्रबंध के अनुसार नोर्वे डेनमार्क से पृथक कर दिया गया और स्वीडन राज्य में मिला दिया गया। किन्तु नोर्वे के लोग इस व्यवस्था का विरोध करते रहे और अन्त में सन् १६०५ में वे स्वीडन से पृथक हुए और उन्होंने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। नोर्वे, स्वीडन, डेनमार्क—इन तीनों राज्यों में आज वैधानिक राजतन्त्र स्थापित है--और तीनों देश बहुत ही उन्नत, संस्कृत और समृद्धिवान हैं।

रूस

नोर्डिक लोगों के भिन्न भिन्न कबीलों के लोगों ने पांचवीं छठी शताब्दियों में यूरोप में फैलकर रोमन साम्राज्य का अन्त किया था। इन्हीं लोगों की एक जाति के लोग नोर्समैन आठवीं, नवीं शताब्दियों में रूस की तरफ बढ़े और उन्होंने दो नगर उपनिवेश बसाये--उत्तर में नोवगोरोड और दक्षिण में कीव। साथ ही साथ नोर्डिक लोगों की एक अन्य जाति के लोग जो स्लैव कहलाते थे, यूरोप के पूर्वीय भागों में फैल चुके थे। उन स्लैव लोगों के भी छोटे छोटे जमींदारी राज्य स्थापित हो गये थे। इनमें प्रमुख जमींदारी राज्य 'मास्को' था। १०वीं शताब्दी तक ये सब लोग ईसाई बन चुके थे। १३-१४वीं शताब्दियों में पूर्व से मंगोल लोगों के आक्रमण हुए और रूस पर (विशेषतया पूर्वी रूस पर) उनका आधिपत्य स्थापित हो गया। उनके आधीन भी ईसाई स्लैव लोगों की डचीज (सरदारी राज्य) चलती रहीं, और वे मंगोल सम्राट को कर अदा करते रहे। १५वीं शताब्दी में मास्को का महान् ड्यूक आइवन तृतीय (१४६२–१५०५ ई०) हुआ जिसने मंगोल सम्राट की आधीनता उतार फेंकी, और साथ ही साथ पूर्व में अपने राज्य का विस्तार किया और पच्छिम में नोवगोरोड और 'कीव' के प्रजातन्त्र राज्य भी अपने

राज्य में सम्मिलित किये। इस प्रकार उसने यूरोप में रूस की नींव डाली। मास्को के शासक ज़ार (सम्राट) कहलाने लगे। सन् १६८२ ई० में पीटर महान् (१६८२–१७२५) रूस का शासक बना। उस समय तक रूस बिल्कुल एक अविकसित देश था—उस पर मध्ययुगीय एशियाई प्रभाव अधिक और आधुनिक पच्छिमी प्रभाव कम। किन्तु, पीटर ने रूस का पच्छिमीकरण किया और १८वीं शताब्दी में रूस यूरोप का एक आधुनिक राष्ट्र बन गया। तभी से धीरे धीरे उसका विस्तार पूर्व की ओर होने लगा; १९वीं शती में वह एशिया के समस्त भूभाग साईबेरिया का अधिपति हो गया—पूर्व में प्रशान्त महासागर तक वह फैल गया। १९वीं शती के उत्तरार्ध में रूस का ज़ार एक विशाल साम्राज्य का शासक था। २०वीं शती में १९१७ में वहां साम्यवादी क्रांति हुई, और तब से आज तक वहां साम्यवादी एकतन्त्र कायम है।

स्पेन और पुर्तगाल

पांचवीं छठी शताब्दी में उत्तर से नोर्डिक उपजाति के गोथ लोग यूरोप के अन्य भागों की तरह स्पेन में भी धीरे धीरे बस रहे थे। ७वीं शताब्दी में इस प्रायद्वीप में अरब लोगों के हमले होने लगे। ८वीं शताब्दी तक उत्तर-पूर्व के एक छोटे से ईसाई राज्य को छोड़कर बाकी का समस्त प्रायद्वीप अरबों के आधीन था। १२वीं शती में जब पेलेस्टाइन में धार्मिक-युद्ध (Crusades) लड़े जा रहे थे उस समय ईसाई योद्धा स्पेन के भी उत्तर पच्छिम के छोटे से ईसाई राज्यों लीओन और केस्टिल की मदद के लिये, अरब लोगों को स्पेन से हटा देने के लिये, आते थे। धीरे धीरे ईसाई राज्य बढ़ रहे थे और अरब अधिकार क्षीण होता जाता था। १०९५ ई० में एक धार्मिक ईसाई योद्धा हेनरी ने ओपार्टो नगर के आसपास भूमि में स्वतन्त्र पुर्तगाल राज्य कायम किये। १३वीं १४वीं शताब्दी में अरब लोग दक्षिण की तरफ ढकेल दिये गये और स्पेन के अब दो प्रमुख ईसाई राज्य केसटाइल और एरागन अपना विस्तार करते रहे। सन् १४९२ ई० में अरब लोगों

को स्पेन मे सर्वथा निकाल दिया गया; और केसटाइल और एरागन के दोनों ईसाई राज्यों ने मिल कर एक स्पेनिश राज्य कायम किया इस प्रकार १५वीं शताब्दी में उस स्पेन राज्य का उदय हुआ जैसा आज हम उसे जानते हैं।

आस्ट्रिया

आस्ट्रिया प्रदेश के लोग अधिकतर जर्मन भाषा-भाषी हैं–जर्मन नोर्डिक उपजाति के ये लोग हैं। सन् १८०६ तक आस्ट्रिया पवित्र रोमन साम्राज्य का एक राज्य रहा। सन् १४३८ ई० से आस्ट्रिया के हेब्सबर्ग वंश के शासक ही पवित्र साम्राज्य के सम्राट चुने जाते रहे। १८०६ ई० में इन प्रदेशों में नेपोलियन की विजय के फलस्वरूप पवित्र रोमन साम्राज्य खत्म हुआ; आस्ट्रिया के शासक ने पवित्र साम्राज्य के सम्राट की अपनी उपाधि त्याग दी, तब से आस्ट्रिया का अपना एक अलग राज्य कायम रहा। उस समय उस राज्य में हंगरी के सब प्रदेश एवं इटली के उत्तरीय प्रदेश भी सम्मिलित थे। इटली के प्रदेश तो १८६६ ई० में स्वतन्त्र हो गये। हंगरी १६१६ ई० में अलग एक राज्य कायम हो गया। तब से प्राचीन विशाल आस्ट्रिया का हेब्सबर्ग राज्य एक छोटा सा राज्य रह गया। द्वितीय महायुद्ध (१६३६–४५) के बाद आज सन् १६५० में आस्ट्रिया पर अमेरिका, इङ्गलैण्ड, फ्रांस एवं रूस का सैनिक शासन है।

हंगरी

आधुनिक हंगेरियन लोग पुरानी मग्यर जाति के लोग हैं। मग्यर जाति मंगोल–तुर्की उपजाति की एक शाखा थी–और ये लोग यूराल-आल्टिक (मंगोल) भाषा परिवार की एक भाषा बोलते थे। मध्य एशिया से चलते हुए लगभग ५०० ई० में यूरोप के पूर्व में वोल्गा नदी के आसपास इन लोगों की हलचल प्रारम्भ हो गई थी एवं धीरे धीरे ६०० ई० तक हंगरी में स्थायी रूप से बस गये थे। १००० ई० तक ये सब ईसाई बन चुके थे। अब भी ये अपनी पुरानी मंगोल-तुर्की भाषा ही

बोलते हैं। हंगरी के अतिरिक्त एक और देश फिनलैंड को छोड़कर जहां पर भी पुरानी टर्की-फिनिश भाषा बोली जाती है, यूरोप के अन्य समस्त देशों में आर्यन-परिवार की भाषायें प्रचलित हैं।

हंगेरियन लोग स्वतन्त्र कई शताब्दियों से बसते रहे होंगे। १५वीं शताब्दी में उसमान तुर्क लोगों के हंगेरियन प्रदेशों पर हमले होने लगे, और हंगरी के अधिकतर प्रदेश तुर्क साम्राज्य के अंतर्गत हो गये। १८वीं शती के प्रारम्भ में प्रायः सारा का सारा हंगरियन प्रदेश पवित्र रोमन साम्राज्य के एक राज्य आस्ट्रिया के हेब्सबर्ग सम्राट ने जीत लिया, और हंगरी आस्ट्रियन राज्य का एक अङ्ग बन गया। प्रथम महायुद्ध के अन्त तक हंगेरियन प्रदेश आस्ट्रिया का अंग रहा। महायुद्ध में आस्ट्रिया की पराजय के बाद आस्ट्रियन साम्राज्य को विछिन्न कर दिया गया और हंगरी पृथक एक स्वतन्त्र राज्य कायम कर दिया गया। यूरोप में वस्तुतः हंगरी राज्य की स्वतन्त्र सत्ता प्रथम महायुद्ध के बाद सन् १९१९ से ही है।

जेकोस्लोवेकिया

प्रथम महायुद्ध में जर्मनी और आस्ट्रिया की पराजय के बाद, जब आस्ट्रिया के हेब्सबर्ग साम्राज्य को विछिन्न कर हंगरी अलग एक राज्य कायम किया गया, तभी आस्ट्रियन साम्राज्य के उत्तरी प्रदेशों को जिनमें अधिकतर स्लैव जाति के लोग बसे थे पृथक कर जेकोस्लोवेकिया एक नया राज्य कायम कर दिया गया।

पोलैंड

जब नोर्डिक स्लैव जाति के लोग पूर्व यूरोप में मास्को के जमींदारी राज्य में संगठित हो रहे थे प्रायः उसी समय १०वीं ११वीं शताब्दियों में स्लैव जाति के एक दूसरे लोग जो पोल कहलाते थे यूरोप के उस भू-भाग में संगठित हो रहे थे जो आज पोलैंड कहलाता है। १६वीं १७वीं शताब्दियों में मध्य यूरोप में पोल लोगों का राज्य काफी विस्तृत था किन्तु इन पोल लोगों के राज्य में कोई एक सुसंगठित केन्द्रीय शक्ति नहीं

थी अतः आस्ट्रिया, प्रशा आदि सुसंगठित राज्यों की निगाह पोलैंड पर बनी रहती थी। आस्ट्रिया, प्रशा अपनी शक्ति को बढ़ा रहे थे और अन्यत्र कहीं अवसर न पाकर पोलैंड के ही भू-भाग धीरे धीरे अपने राज्यों में मिला रहे थे। सन् १७७२, सन् १७९३, सन् १७९५ में पोलैंड का तीन बार विच्छेदन हुआ! यहां तक कि सन् १७९५ में पोलैंड यूरोप के पर्दे पर से सर्वथा मिट गया। प्रथम महायुद्ध के अन्त तक पोलैंड विलीन रहा। सन् १९१९ की वरसाई सन्धि में फिर से पोलैंड पृथक एक स्वतन्त्र जनतन्त्र राज्य कायम किया गया। द्वितीय महायुद्ध (१९३९–४५) में जर्मनी द्वारा फिर पोलैंड खत्म किया गया किन्तु सन १९४५ में जर्मनी की पराजय के बाद पोलैंड फिर एक स्वन्तत्र राज्य बना। सन् १९४७ में रूस का प्रभाव पोलैंड पर बढ़ने लगा और आज पोलैंड में रूस द्वारा अनुमोदित साम्यवादी सरकार कायम है।

टर्की

पच्छिमी एशिया–विशेषतः एशिया माइनर, टर्की, इराक, सीरिया, फिलस्तीन आदि प्रदेशों में लगभग १२वीं शती में सेलजुक तुर्क लोगों के साम्राज्य के पतन के बाद तुर्कों की एक अन्य जाति के लोगों की—उस्मान तुर्कों की सत्ता स्थापित हुई। १४वीं शती के मध्य में ये लोग डार्डनीलीज़ मुहाना पार कर गये और यूरोप में उन्होंने पैर जा जमाया। इस समय बाल्कन प्रायद्वीप में पूर्वीय पवित्र रोमन साम्राज्य शक्तिहीन था। तुर्क लोग आगे बढ़ते गये, १४वीं शती के अंत होते होते उन्होंने कस्तुनतुनिया को छोड़ समस्त बाल्कन प्रायद्वीप अपने आधीन कर लिया। सन् १४५३ ई० में कस्तुनतुनिया का भी पतन हो गया और इस प्रकार यूरोप में पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त हुआ। सन् १५२० ई० में टर्की साम्राज्य का विस्तार यूरोप में समस्त बाल्कन प्रायद्वीप तक एवं एशिया में ईरान, सीरीया, मिश्र, एशिया माइनर और ईराक तक था–इस साम्राज्य का शासक था सुल्तान सुलेमान "शानदार" (१५२०–६६ ई०)। इस सुल्तान के शासन-काल में टर्की अपनी उन्नति की उच्चतम

शिखर पर था। तुर्की सुल्तानों ने भूमध्यसागर और यूरोप की तरफ और भी बढ़ने के प्रयत्न किये किन्तु सन् १५७१ में वेनिस, आस्ट्रिया, एवं स्पेन के सम्मिलित जहाजी बेडों ने टर्की जहाजी बेड़े को लेपान्तो में परास्त किया। यह वही युद्ध था जिसमें डोन क्विक्सोट के लेखक सरवेन्टीज ने भाग लिया था–जिसके विषय में उसने कहा था–"ईसाई साम्राज्य ने उस्मान तुर्की का मद चूर कर दिया है"। वस्तुतः तभी से यूरोप में जिधर उस्मानी तुर्क तीव्र गति से बढ़ रहे थे और ऐसी कल्पना की जाने लगी थी कि वे समस्त यूरोप को पदाक्रांत कर डालेंगे टर्की की प्रगति रुक गई, और धीरे धीरे वहां टर्की साम्राज्य का ह्रास होने लगा। १७वीं शती के उत्तरार्ध में एक बार फिर टर्की शक्ति का उत्थान हुआ और उस्मानी तुर्क लोग यूरोप में बढ़ते बढ़ते वियना तक जा पहुंचे। उनकी शक्ति को रोकने के लिये आस्ट्रिया-वेनिस और पोलैंड के राज्यों का रोम के पोप की संरक्षता में एक पवित्र संघ (होली लीग) बना और इस संघ ने टर्की का विरोध किया। बाद में उत्तर से रूस के पीटर महान् ने भी टर्की साम्राज्य पर हमला कर दिया। अन्त में सन् १६९९ ई० में टर्की को कार्लोविट्ज (Treaty of Carlowitz) की संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े जिसके अनुसार टर्की का अपने साम्राज्य के कई भागों से विच्छेद हो गया। टर्की साम्राज्य का अङ्ग हंगरी, आस्ट्रिया को मिला और कुछ नगर रूस, पोलैंड व वेनिस को मिले। इस सन्धि काल के बाद से यूरोप में टर्की का प्रभाव निश्चित रूप से समाप्त होता है और टर्की साम्राज्य का पतन शुरू होता है। १९वीं शती के प्रारम्भ तक तो प्रायः समस्त बाल्कन प्रायद्वीप पर टर्की राज्य कायम था किंतु बाद में टर्की साम्राज्य के भिन्न भिन्न जातियों के लोग जैसे स्लैव, बुलगेरियन, सर्ब और ग्रीक, साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने लगे, और २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ होते होते कोन्सटेटिननोपल नगर और समीपस्थ भूमि को छोड़कर टर्की का यूरोप में कुछ नहीं रहा। प्रथम विश्व युद्ध (१९१४–१८) में यह भाग भी खत्म हो जाता किन्तु टर्की के एक

प्रसिद्ध योद्धा मुस्तफा कमालपाशा ने उसे बचाये रक्खा। आज यूरोप में प्राचीन विशाल टर्की साम्राज्य केवल कोन्सटेंटिननोपल और आस-पास की थोड़ी भूमि तक ही सीमित है। आज टर्की एक जनतन्त्र राज्य है।

बाल्कन प्रायद्वीप के देश

१३वीं १४वीं शताब्दी तक तो ये पूर्वीय रोमन साम्राज्य के अङ्ग रहे। १४वीं शताब्दी के अन्त में और १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उस्मान तुर्क लोग उधर आने लगे। १४५३ ई० तक समस्त बाल्कन प्रायद्वीप पर उन्होंने अपना राज्य कायम कर लिया। १९वीं शती में टर्की साम्राज्य विच्छिन्न होने लगा। १८६३ ई० में ग्रीस जिसने १८२१ से १८२९ तक स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी थी, एक स्वतन्त्र राज्य कायम हुआ। १८६१ में रुमानिया, १८८२ में सरबिया (यूगोस्लेविया), १८७८ में बलगेरिया और सन् १९१२ में अलबेनिया स्वतन्त्र राज्य कायम हुए।

फिनलैंड, अस्टोनिया, लेटविया, लिथूनिया
(१९१९-४५)

प्रथम महायुद्ध के बाद बाल्टिक सागर के किनारे ये छोटे छोटे ४ देश रूसी साम्राज्य से पृथक कर अलग राज्यों के रूप में कायम किये गये। द्वितीय महायुद्ध के बाद फिनलैंड तो अलग स्वतन्त्र राज्य रहा किन्तु अन्य ३ राज्य सोवियट रूस में सम्मिलित होगये।

आयरलैंड

नोर्डिक उपजाति के केल्ट लोग ईसा की पांचवीं छठी शताब्दियों के पहिले ही आयरलैंड में बस गये थे। उस समय नोर्डिक उपजाति की अन्य जातियां जैसे ट्यूटन, गोथ इत्यादि यूरोप के अन्य भागों में बस रही थीं। १२वीं शताब्दी में अंग्रेज लोगों ने इस द्वीप पर हमला करना शुरू किया। पहला हमला ११५४ में हुआ। धीरे धीरे वे आयरलैंड की

भूमि को जीतने लगे, और वहां बसने लगे। १७वीं शताब्दी तक एक छोटे से पच्छिमी भाग को छोड़कर सर्वत्र अंग्रेज लोग बस गये थे। वहां इङ्गलैंड का राज्य कायम हुआ। १८वीं १९वीं शताब्दियों में आइरिश लोगों में स्वतन्त्रता की लहर चली। कई विद्रोह हुए और अन्त में सन् १९२९ में आयरलैंड के एक छोटे से उत्तरी भाग अलस्टर को छोड़कर एक स्वतन्त्र आयरलैंड राज्य की स्थापना हुई। आयरलैंड के आइरिश लोग रोमन-कैथोलिक ईसाई हैं। अंग्रेजी से मिलती जुलती आइरिश भाषा बोलते हैं। अलस्टर के लोग प्रोटेस्टेंट हैं।

स्वीटजरलैंड

वे पहाड़ी प्रदेश जो आज स्वीटजरलैंड हैं, यूरोप में नोर्डिक लोगों के बस जाने के बाद ९वीं शताब्दी में स्थापित पवित्र साम्राज्य के अंग थे। सन् १२९१ ई० में आल्पस् पहाड़ी प्रदेशों में स्थित तीन छोटे छोटे प्रदेशों ने मिलकर सम्राट के विरुद्ध विद्रोह किया, और उन्होंने एक स्वतन्त्र लीग (स्विस संघ) स्थापित की। धीरे धीरे इस लीग में और छोटे छोटे प्रदेश मिलते गये, १६वीं शताब्दी के आते आते इसका विस्तार उतना ही होगया जितना आज स्वीटजरलैंड का है। सन् १६४८ ई० में वेस्ट-फेलिया की सन्धि के अनुसार यूरोप के राज्यों ने स्वीटजरलैंड की स्वतन्त्रता मान्य करली। स्वीटजरलैंड के स्विस लोग कोई एक उपजाति नहीं है, वे तो आसपास के देशों के यथा इटली, फ्रांस, और जर्मनी के लोग हैं जो अलग अलग जाति के होते हुए भी मध्य युग से एक स्वतन्त्र, सभ्य, विकसित और स्थायी गणराज्य बनाये हुए हैं।

आधुनिक चीन

चीन का यूरोप से सम्पर्क (१६४४ ई० से १९११ ई०)

सन् १६४४ ई० में फिर चीन के राज्य वंश ने पलटा खाया। चीन के उत्तर में जहां आजकल मंचूरिया है मंगोल और चीनी मिश्रित एक नई जाति का उदय हुआ जिसके लोग अपने आप को मंचु कहते थे। इन लोगों ने चीन पर आक्रमण किया, मिंग सम्राटों को परास्त किया और सन् १६४४ ई० में चीन में मंचु राज्य-वंश की स्थापना की। एक दृष्टि से तो ये लोग विजातीय और विदेशी थे किन्तु इन लोगों ने देश की शासन प्रणाली, देश के राज्य कर्मचारी-गण इत्यादि में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया। देश का शासन और जीवन पूर्ववत कायम रक्खा गया। किन्तु एक बात मंचु शासकों ने चीनी लोगों पर लादी। वह यह कि मंचु लोगों ने जो स्वयं सिर पर एक लम्बी चोटी रखते थे चीनीयों को भी विवश किया कि वे सिर पर लम्बी चोटी (Pig-tail) रखें। मंचु राज्य-वंश का जो चिन वंश भी कहलाता है सबसे प्रसिद्ध सम्राट "कांग-ही" हुआ, जिसने सन् १६६१ से १७२२ ई० तक ६१ वर्ष के एक लम्बे अर्से तक राज्य किया। यह सम्राट फ्रान्स के सम्राट लुई चौदहवें का समकालीन था जिसने फ्रान्स में भी ७२ वर्ष के लम्बे अर्से तक राज्य किया। कांग-ही के राज्य काल में ३ बहुत बड़े सांस्कृतिक कार्य हुए। (१) उसने चीनी भाषा का एक बहुत बड़ा शब्द-कोष संग्रह करवाया। (२) समस्त ज्ञान विज्ञान का एक सचित्र ज्ञान-कोष (Encyclopedia) संगृहीत करवाया। यह ज्ञान कोष अपने आप में मानों एक पुस्तकालय के समान था, इसकी १०० जिल्दें (Volumes) थीं।

(३) उसने समस्त चीन साहित्य में प्रयुक्त शब्दों और कहावतों का एक संग्रह तैयार करवाया। इस संग्रह में कवियों, इतिहासज्ञों एवं निबन्ध-लेखकों के तुलनात्मक उदाहरण प्रस्तुत किये गये। इसके काल में अनेक यूरोपीय व्यापारी एवं ईसाई पादरी चीन में व्यापार करने और अपने धर्म का प्रचार करने के हेतु से आये। चीनी सम्राट कांग-ही ने इन ईसाई-पादरी और व्यापारी लोगों की चहल-पहल और इनके कार्यों का परिचय पाने के लिए अपना एक उच्च कर्मचारी नियुक्त किया। इस कर्मचारी की रिपोर्ट पर से सम्राट ने यही निश्चय किया कि चीन को विदेशियों और विधर्मियों के चंगुल से बचाने के लिए यही उचित है कि उनके व्यापार और पादरियों को देश में नहीं फैलने दिया जाए। किन्तु उत्तर में रूस का यूरोपीय राज्य पूर्व की ओर बढ़ रहा था और रूस के सम्राट पीटर महान् के समय से एशियाई-साइबेरिया उसके आधीन था। चीनी लोगों से भी पेकिंग के उत्तर में अमूर नदी की घाटी में इन रूसी लोगों की मुठभेड़ हुई जिसमें रूसी लोग हार गये और सन् १६७९ ई० में दोनों देशों में एक संधि हुई जिसके अनुसार चीन और साइबेरिया की सरहद का निर्णय कर लिया गया और दोनों देशों में एक व्यापारिक समझौता भी हो गया। किसी यूरोपीय राष्ट्र के साथ चीन का यह प्रथम राजनैतिक संबन्ध था।

मंचु वंश का दूसरा सबसे बड़ा सम्राट चीन-लुंग हुआ जिसने सन् १७३६ से १७९६ तक राज्य किया। इसके राज्यकाल में दो महान् कार्य हुए:-(१) साहित्यिक कार्य—इस सम्राट ने समस्त जानने योग्य साहित्यिक कृतियों की एक विषद् सूची तैयार करवाई। इस सूची में केवल पुस्तकों का नाम ही संग्रहित नहीं था परन्तु प्रत्येक पुस्तक का परिचयात्मक वर्णन भी। अपनी प्रकार का यह एक अनोखा ही काम था। इसी काल में चीनी उपन्यास, गल्प और नाटक साहित्य का उद्भव और विकास हुआ, और अनेक उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाएं प्रकाश में आईं। कलापूर्ण मिट्टी के बर्तनों का एवं अन्य कलात्मक

उद्योगों की वस्तुओं का निर्यात् यूरोपीय देशों में बहुत बढ़ा। इङ्गलैण्ड के साथ वैसे तो चाय का व्यापार मंचु राज्य-काल के प्रारम्भ में ही होने लगा था किन्तु चीन-लुंग के राज्य-काल में इस व्यापार में बहुत वृद्धि हुई। चीन-लुंग ने अपने राज्य का भी बहुत विस्तार किया। उसके साम्राज्य में मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान सभी प्रदेश शामिल थे जिन पर सीधा केन्द्रीय शासन था। यद्यपि चीनी सम्राटों की यह नीति बनी रही कि यूरोपीय देशों के सम्पर्क से वे दूर ही रहे तथापि यूरोपीय देशों में एक यान्त्रिक और औद्योगिक क्रांति हो रही थी, उनकी शक्ति का विकास हो रहा था और उनको इस बात की आवश्यकता थी कि उनके यन्त्रों से बने हुए माल की बिक्री के लिये उनको कहीं बाजार हासिल हों, अतएव जबरदस्ती चीन से अपने सम्पर्क बढ़ाने के प्रयत्न उन्होंने जारी ही रक्खे।

यूरोप से सम्पर्क की कहानी

संसार प्रसिद्ध यात्री मार्को-पोलो १३वीं शताब्दी के आरम्भ में चीन में आया था। वह २० वर्ष से भी अधिक चीन में तत्कालीन यू-आन वंश के सम्राट की नौकरी में रहा। सन् १५८० में एक अन्य इटालियन यात्री पादरी मेटीओरीसाई (Matteo-Ricci) चीन में आया था जिसने चीन की राजधानी पेकिंग में सर्व-प्रथम रोमन केथोलिक गिरजा बनाया एवं गणित तथा ज्योतिष शास्त्र की कई पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। फिर धीरे धीरे यूरोप के देशों ने १७वीं और १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चीन से व्यापारिक सम्पर्क बढ़ाये। यूरोपीय लोग पहिले तो ईसाई धर्म सिखाने आये, फिर व्यापारी के रूप में आये और फिर व्यापार और साम्राज्य के लोभ में विजेता के रूप में। यह सब देखकर मंचु सम्राट ने १८वीं सदी के मध्य में यूरोपवासियों के लिये चीन का द्वार बन्द कर दिया। किन्तु जबरदस्ती वे आते रहे, मंचु राजाओं से अनेक युद्ध हुए, इनके फलस्वरूप यूरोपियन लोगों को व्यापार के लिये अनेक रिआयतें मिलीं, कई बन्दरगाह और भूमि-खण्ड मिले।

अंग्रेज व्यापारियों ने भारत से जहाज के जहाज अफीम भरकर चीन में लाना प्रारम्भ किया। चीन में कुछ लोग तो अफीम पहिले से ही खाते या पीते थे, अब यह व्यसन और भी अधिक बढ़ गया। चीनी राज्य ने अनेक प्रयत्न किये कि लोग इस व्यसन में न पड़ें किन्तु कुछ न हो सका। चीनी राज्य ने अंग्रेज व्यापारियों को भी अफीम का व्यापार बन्द करने के लिये कहा किंतु वे न माने। अन्त में सन् १८४० ई० में चीन और इङ्गलैण्ड के बीच युद्ध हुआ जिसे "अफीम यद्ध" कहते हैं। तीन वर्ष तक यह युद्ध होता रहा, अन्त में चीन की हार हुई। इस युद्ध के बाद विदेशियों के लिये चीन का दरवाजा जो १८वीं शताब्दी के मध्य से प्रायः बन्द था, खुल गया। इसी वर्ष अर्थात् सन् १८४२ से चीन आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय दुनिया की चहल-पहल का एक अंग बन गया। प्रसिद्ध नगर और बन्दरगाह शांघाई, हौंग-कांग एवं अन्य कई बस्तियां यूरोपियन लोगों के आधीन हो गई। देश के अन्तरंग भाग में कई स्थानों पर इन्होंने अपने बड़े बड़े औद्योगिक कारखाने खोले। ईसाई पादरियों ने अनेक स्थलों पर आधुनिक कालेज खोले जिनमें पाश्चात्य प्रणाली से अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती थी। सैंकड़ों चीनी नवयुवक पाश्चात्य देशों में शिक्षा पाने गये विशेपतया इङ्गलैण्ड, फ्रान्स और अमेरिका में जहां आधुनिक विचार-धारा से उनका सम्पर्क हुआ और उनमें राष्ट्रीय भावना जागृत हुई। इस समय चीन में ऐसी स्थिति थी कि मंचु राज्य-वंश के सम्राट का राज्य केवल नाम-मात्र था, चीन के समस्त मुख्य व्यापार और उद्योग पर यूरोपियन लोगों का आधिपत्य था। इस आर्थिक आधिपत्यका प्रभाव राजनैतिक शक्ति संचालन पर पड़ना अवश्यंभावी था। ऐसा लगता था मानों चीन के समस्त सामुद्रिक तट और मुख्य भूमि पर भी पाश्चात्य लोगों का आधिपत्य हो।

नव उत्थान काल

(जनतंत्र की स्थापना से आजतक १९१२-१९५०) बीसवीं सदी के आरंभ में चीन में तीन शक्तियां काम कर रही थीं। (१) यूरोपीय

लोगों का आर्थिक आधिपत्य। (२) वैधानिक दृष्टि से समस्त चीन पर मंचु सम्राट का शासन। यह शासन बिल्कुल ढीला पड़गया था। चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत भिन्न भिन्न प्रांतों के शासक अपने आपको सर्वथा स्वतंत्र मानने लगगये थे और अपने अपने प्रांतों में मनमाना शासन करते थे इन प्रांतीय शासकों की शक्ति भी कोई कम नहीं थी। देश इस प्रकार छिन्न-भिन्न अवस्था में था; किन्तु सम्राट तो बना हुआ ही था। (३) उपरोक्त प्रान्तीय शासकों (War Lords) की शक्ति जिनमें राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था। ऐसी परिस्थितियों में चीन के प्रसिद्ध नेता डा० सनयातसन के नेतृत्व में एक राष्ट्रवादी संगठन का उदय हुआ जो कोमिटांग (चीनी राष्ट्रवादी दल) के नाम से प्रसिद्ध था। इस दल के सदस्य चीन के अनेक शिक्षित नवयुवक थे। कारखानों में काम करने वाले मजदूर एवं मध्यवर्ग के लोग भी इसमें सम्मिलित थे। डा० सनयातसन ने शुद्ध राष्ट्र-प्रेम से प्रेरित होकर यह कल्पना की कि चीन में राष्ट्रीयता का उत्थान हो, जन साधारण के कल्याण के लिये एक स्वतंत्र जनतंत्र (Republic) राज्य की स्थापना हो—चीन के समस्त प्रांत एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत हों, एवं देश के समस्त निवासियों को काम और जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध हों। डा० सनयातसन के नेतृत्व में एक देशव्यापी आंदोलन प्रारंभ हुआ, कोमिटांग दल ने एक राष्ट्रीय सेना का संगठन किया और उसकी सहायता से पहिले तो चीन में स्थित यूरोपीयन लोगों की शक्ति का अन्त किया गया और फिर १९११ में मंचु वंश के अन्तिम सम्राट का अन्त करके चीन की राजधानी पेकिंग में स्वतंत्र चीन जनतंत्र की घोषणा की। चीन जनतंत्र का प्रथम राष्ट्रपति डा० सनयातसन स्वयं चुना गया। डा० सनयातसन के मुख्य सहयोगियों में चांगकाईशेक था जिसने कोमिटांग के आधीन राष्ट्रीय सेना का संचालन किया था। सन् १९२५ में डा० सनयातसन की मृत्यु हुई, और चांगकाईशेक चीन का राष्ट्रपति बना। डा० सन के उपरोक्त तीन प्रसिद्ध आदर्शों में से एक आदर्श की (यथा—चीन में जनतंत्र

स्थापित हो) तो प्राप्ति होगई, किंतु शेष दो काम, अर्थात् प्रान्तीय शासकों का अन्त होना और जनसाधारण की आर्थिक स्थिति अच्छी होना, अभी बाकी थे। प्रांतीय शासकों का अंत करने के लिये सन् १९२६ में चांगकाईशेक की विजय कूच प्रारम्भ हुई–सैनिक-विजय करता हुआ एक के बाद दूसरे प्रांतों को वह पदाक्रांत करता गया और इस प्रकार समस्त चीन को एक सूत्र में बांधने में वह बहुत हद तक सफल हुआ। किंतु चीन का एक तीसरा शत्रु और पैदा होगया था, और वह था जापानी साम्राज्य। चीन में एक और शक्ति या राजनैतिक दल का दौर दौरा प्रारंभ होगया था; यह था चीन का साम्यवादी दल (Communist Party), जिसके नेता थे माओत्सेतुन्ग। वास्तव में सन् १९२१ में जब चीन की अवस्था बहुत डावांडोल थी, उस समय डा० सनयातसन ने यूरोपीय देशों से मदद मांगी थी, जिससे कि वह प्रान्तीय शासकों (War Lords) को दबाकर एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित करने में सफल होसके। कोई भी यूरोपीय राष्ट्र यह नहीं चाहता था कि चीन एक शक्तिशाली राष्ट्र बनजाये, अतः कहीं से भी कुछ भी मदद नहीं आई। फिर डा० सनयातसन की दृष्टि रूस की ओर गई, रूस मदद करने को राजी हुआ, फलस्वरूप रूस के कई राजनैतिक सलहाकार चीन में आये जिन में बोरोडिन एवं एक भारतीय साम्यवादी युवक मानवेन्द्रनाथ राय प्रमुख थे। धीरे धीरे साम्यवादी रूस का प्रभाव राष्ट्रवादी दल (कोमिंतांग) के सदस्यों में फैलने लगा। दल के सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हुआ; मानवेन्द्रनाथ राय की सलाह से वामपक्षीय विचार के सदस्य कोमिंतांग से पृथक हुए और उन्होंने चीन की साम्यवादी पार्टी का निर्माण किया। इस प्रकार चीन में दो राजनैतिक दल होगये थे–एक तो राष्ट्रपती चांगकाईशेक के नेतृत्व में कोमिंतांग (राष्ट्रवादी) सरकारी दल और दूसरा माओत्से-तुंग का साम्यवादी दल। ये दोनों दल अपना ध्येय तो डा० सनयातसन के आदर्शों को ही मानते थे और यही घोषणा करते थे कि वे डा० सनयातसन के अधूरे

काम को पूरा करना चाहते हैं; किन्तु दोनों की कार्यप्रणाली में आधारभूत भेद था। चांगकाई शेक तो शुद्ध राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरूप राष्ट्रीय सैनिक शक्ति से प्रान्तीय शासकों को विध्वंस कर केन्द्रीय शासन को सुदृढ़ बना, जापानी साम्राज्यवाद से टक्कर ले, तत्पश्चात् जन साधारण की स्थिति सुधारना और सब को एक राष्ट्रीय सूत्र में बांधना—इस प्रकार की कल्पना करते थे। मास्को में साम्यवादी पाठ पढ़े हुए माओत्से-तुंग एक भिन्न प्रकार की कल्पना करते थे। जन साधारण द्वारा साम्यवादी क्रान्ति में ही उनका विश्वास था। चीन की साधारण जनता का त्राण, जापानी साम्राज्य-वाद से टक्कर लेना और समस्त चीनीयों को एक सूत्र में बांधना, वह एक ही रास्ते से संभव समझता था, और वह यह था कि सबसे पहिले देश में साम्यवादी क्रान्ति हो। इन्हीं दो भिन्न विचारधारा और कार्य-प्रणालियों को लेकर दोनों नेताओं में—चांगकाई शेक और माओत्सेतुंग में गहरा मतभेद और मन मुटाव था, जो इतना बढ़ा कि चांगकाई शेक को यह जचने लगा कि प्रान्तीय शासकों के साथ साथ यदि देश के साम्यवादियों को समूल नष्ट नहीं किया गया तो देश में एक केन्द्रीय राज्य स्थापित होना और देश का एक शक्तिशाली समृद्ध राष्ट्र बनना ही असम्भव था। इसी विचार से परिचालित होकर उसने साम्यवादियों के विरुद्ध भी एक जिहाद बोल दिया और माओत्से-तुंग और उसकी फौजों को हराकर उनको ठेठ उत्तर पच्छिम के प्रान्तों में खदेड़ दिया। माओत्से-तुंग का अपनी फौजों, एवं सिपाहियों के समस्त परिवार और सामान को लेकर किआंगशी प्रान्त से उत्तर पच्छिम शेंसी प्रान्त में ६००० मील के रास्ते को पैदल पार करके कूच कर जाना, एक आश्चर्यजनक महत्वपूर्ण घटना है, इतिहास में यह "चीनी साम्यवादियों की कूच" के नाम से प्रसिद्ध है। इस घटना के बाद ऐसा प्रतीत होने लगा मानो साम्यवादी हमेशा के लिये दबा दिये गये थे। किन्तु धीरे धीरे उत्तर के प्रान्तों में वे अपनी शक्ति संग्रह कर रहे थे। इधर चांगकाई शेक जब समस्त चीन को एक राष्ट्रीय सूत्र में बाँधने की ओर प्रगति कर

रहा था, उसी समय सन १९३७ में जापानी साम्राज्यवाद का पंजा चीन पर पड़ा। इसके पहले सन् १९२१ में वाशिंगटन (अमेरिका) में ९ राष्ट्रों की (अमेरिका, इंगलैंड, फ्रांस, हौलेंड, बेलजियम, डेनमार्क, चीन, जापान) में एक बैठक हुई थी जिसमें इन नौ राष्ट्रों ने एक संधि पत्र पर हस्ताक्षर किये थे कि चीन पर कोई देश अपना राज्य स्थापित करने का प्रयत्न न करेगा, गोकि सब देशों को वहां व्यापार करने का समान अधिकार होगा। जापान ने इस संधि को कोई महत्त्व नहीं दिया। जापान के हाथ में मंचूरिया पहिले से ही था; फिर सन् १९३७ से प्रारम्भ कर उसने द्वितीय महायुद्ध काल में (१९३९–४५) प्रायः समस्त चीन पर अपना आधिपत्य जमा लिया। जापान के इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिये माओत्से तुंग की साम्यवादी पार्टी और फौजें चीन की राष्ट्रीय सरकार के साथ एक होगई थीं। समस्त चीन मार्शल चांगकाईशेक के नेतृत्व में जापान का मुकाबला करने लगा था। किंतु जापान की संगठित, सुव्यवस्थित, बढ़ती हुई शक्ति के सामने ये लोग ठहर नहीं सके और चीन जापानी साम्राज्य का एक अंग हो गया। किन्तु तुरन्त बाद, सन् १९४५ में द्वितीय महायुद्ध ने फिर पलटा खाया, जापान और दूसरे धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, इटली) की हार हुई और मित्र राष्ट्रों की विजय। चीन में फिर से मार्शल चांगकाईशेक के अधिनायकत्व में राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना हुई किन्तु दुर्भाग्य से साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों का फिर वही पुराना झगड़ा प्रारम्भ हो गया और समस्त चीन एक घोर और विनाशकारी गृह युद्ध के पचड़े में फंस गया। सन् १९४९ के आखिर तक गृह युद्ध चलता रहा; आखिर राष्ट्रीय सरकार की हार हुई। मार्शल चांगकाईशेक ने चीन से भागकर फारमूसा द्वीप में शरण ली और चीन में साम्यवादी नेता माओत्से तुंग के अधिनायकत्व में सरकार की स्थापना हुई। वही साम्यवादी सरकार आज चीन में स्थित है। इस चीनी साम्यवादी सरकार के नेता माओत्से तुंग ने १४ फरवरी १९५० के दिन साम्यवादी

रूस के साथ एक संधि पत्र पर हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार मंचूरिया और मंगोलिया पर (जिन पर रूस का प्रभाव था) चीन का सर्वाधिकार रहेगा, रूस चीन को औद्योगिक उन्नति के लिये कर्ज देगा जिससे वह रूस से मशीनरी इत्यादि खरीद सके; और किसी भी एक देश पर वाह्य आक्रमण के समय दोनों एक दूसरे को आर्थिक और सैनिक सहायता देंगे। नव स्थापित चीनी साम्यवादी सरकार के सामने इस समय अनेक जटिल समस्यायें हैं—देश में अव्यवस्था, करोड़ो लोगों की गरीबी, अशिक्षा, इत्यादि। साम्यवादी सरकार इन समस्याओं का निराकरण करने के लिये गंभीरता और कड़ाई से आगे बढ़ती हुई दिखाई देती है। ऐसे समाचार हैं कि साम्यवादी सरकार आने के पूर्व चीन के राजकाज में बड़ी शिथिलता थी, कुशलता और अनुशासन का अभाव था, खूब घूसखोरी चलती थी, चोर बाजार खूब होता था, और कुछ प्रान्तीय योद्धा सरदार अपनी सेनाओं के बल पर अभी तक स्वतन्त्र बने हुए थे। १९४९ ई० के अन्तिम महीनों में साम्यवादी सरकार स्थापित होने के बाद, एक मात्र साम्यवादी अधिनायक माओत्से-तुंग ने अपने सुगठित साम्यवादी दल की सहायता से इतनी कड़ाई और कठोर अनुशासन से काम लिया कि केवल कुछ ही महीनों में राजकाज की शिथिलता दूर हो गई, घूसखोरी और चोर बाजारी करने की किसी की हिम्मत न रही, और प्रान्तीय योद्धा सरदारों को ऐसी सफाई से खत्म कर दिया गया कि मानो कभी वे इतिहास के परदे पर थे ही नहीं; उनकी सेनायें सब केन्द्रीय साम्यवादी सेना संगठन में मिलाली गईं। इसके अतिरिक्त सब जमीदारों को खत्म कर दिया गया उनकी जमीनें किसानों में बांट दी गई, और अर्थ और युद्ध नियंत्रण-संबंधी कुछ ऐसे कदम उठाये गये जिससे अन्न वस्त्र के मूल्य गिरें और जन साधारण के मन का भार कम हुआ। चीन इस प्रयत्न में संलग्न है कि उसकी स्वतन्त्रता, नव-स्थापित साम्यवादी व्यवस्था सुरक्षित रहे, इसीलिये माओत्से-तुंग एक अभूतपूर्व शक्तिशाली सेना का

संगठन कर रहा है। कहते हैं आज वहां ५० लाख सैनिकों की एक विशाल सेना तैयार है जो दुनिया की सबसे बड़ी जन सेना है। प्रत्येक सैनिक को साम्यवादी सिद्धांतों की शिक्षा दी जाती है, और साम्यवाद की नई संस्कृति के अनुरूप उसका मानस बनाया जाता है। चीन यह समझता है कि सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि उसके पड़ोसी देश उसके मित्र हों, और यदि कोई देश 'साम्यवाद चीन' विरोधी भावना रखता है तो उस पर अपना प्रभाव स्थापित किया जाये। कोरिया देश में जब पूंजीवादी अमेरीका का हस्तक्षेप हुआ तो इस ख़याल से कि यदि कोरिया में अमरीका की या अमरीका से प्रभावित किसी सरकार की स्थापना हो गई तो उत्तर की ओर से वह हमेशा के लिये एक ख़तरा बना रहेगा, तब उसने झट अपनी सेनायें कोरिया में भेजदीं, और आज कोरिया के युद्ध क्षेत्र में चीन की साम्यवादी सेनायें अमरीका, इङ्गलैंड और आस्ट्रेलिया की सम्मिलित फौजों से टक्कर लेरही हैं और उनको पीछे खदेड़ती हुई जारही हैं। इसी ख़याल से दिसम्बर ५० के प्रारम्भ में चीन की कुछ साम्यवादी सेनाओं ने तिब्बत पर आक्रमण किया, एवं वहां अपनी संरक्षता में एक तिब्बती लामा सरकार की स्थापना की। फार्मूसा द्वीप, हिंद चीन, मलाया और बरमा की ओर भी चीन की दृष्टि है।

पूर्वी दुनिया में आज सन् १९५६ में चीन एक विशाल साम्यवादी शक्ति के रूप में लोक कल्याणकारी एक नई सभ्यता का प्रतीक बनकर खड़ा है।

---

(४८)

चीन का इतिहास

एक सिंहावलोकन

हमने अति प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक चीन के इतिहास की एक बहुत ही संक्षिप्त रूपरेखा खींचने का प्रयत्न किया है। चीन का राजनैतिक इतिहास भिन्न भिन्न राज वंशों के सम्राटों की कहानी है। एक एक राजवंश कई कई सौ वर्षों तक चलता रहता है। बार बार प्रांतीय शासक केन्द्रीय सम्राट के कमजोर पड़जाने पर, स्वतन्त्र हो जाते हैं, स्वयं अपने प्रांत के एकाधिपत्य शासक बन बैठते हैं। फिर कोई विशेष कुशल सम्राट आता है, भिन्न भिन्न प्रान्तों को फिर सुगठित एवं सुदृढ़ केन्द्रीय शासन के आधीन कर लेता है। कभी कभी कोई प्रांतीय शासक ही केन्द्रीय शासन व्यवस्था अपने हाथ में ले लेता है, स्वयं सम्राट बन जाता है, और इस प्रकार एक नये ही राजवंश की स्थापना करता है। इस प्रकार चीन के प्रथम सम्राट ह्वांगटी "पीत-सम्राट" से लेकर जिसके राजवंश की स्थापना २६६७ ई० पू० में हुई, आधुनिक मंचु राजवंश की सन् १६११ में समाप्ति तक, जब चीन में आधुनिक प्रकार की एक जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था स्थापित हुई, चीन का राजनैतिक इतिहास स्वयं चीनी राष्ट्र और चीनी मानस की तरह मंथर गति से चलता रहता है। यूरोप में प्राचीन ग्रीक और रोमन साम्राज्यों का अंत होजाता है और उन साम्राज्यों के अन्त के साथ साथ ग्रीक और रोमन सभ्यताओं का भी अन्त होजाता है; ग्रीक और रोमन विचारधारा, दर्शन, काव्य और कला सब भुला दी जाती हैं, शताब्दियों तक लुप्त हो जाती हैं, प्राचीन ग्रीक और रोमन "मानव" हमेशा के लिए लुप्त हो जाता है। किंतु

चीनी सभ्यता की धारा, चीनी जन साधारण के जीवन की ओट में सतत बहती रहती है। चीन के बड़े बड़े सम्राटों का बार बार अन्त होता है, विशाल चीनी साम्राज्य भी बार बार विध्वस्त होकर टुकड़े टुकड़े हो जाता है, फिर बनता है और फिर बिगड़ता है किन्तु चीनी जन समुदाय के जीवन की लहर मंथर गति से मानों एक सी बहती रहती है। कनफ्यू-सियस और बुद्ध की विचारधारा उसके अन्तस में समाई रहती है, सुन्दर सुन्दर चित्र बनते रहते हैं, सुन्दर सुन्दर चीनी के बर्तन और उन पर अनेक रंगों की चित्रकारी होती रहती है, कविता और साहित्य का निर्माण होता रहता है; चाय की प्याली परिवार का कवित्वमय केन्द्र बनी रहती है; चीन और चीन के लोगों के जीवन से सौन्दर्य और कला का आधार कभी विलग नहीं होता; चीनी मानव की यही एक आकर्षक सुषमा है; वह इतना संस्कृत है कि उसका मिजाज कभी बिगड़ता नहीं।

यह "पुरातन चीनी मानव," आज १९५६ में, अपने पुरातन व्यक्तित्व को छोड़ आधार भूत एक नये व्यक्तित्व, नई भावना, नई संस्कृति का आवाहन् कर रहा है, एक नई 'मानवता' की अवतारणा कर रहा है।

(४९)

जापान का इतिहास

(प्रारम्भिक काल से आज तक)

जापान, जिसका कि चीन द्वारा दिया हुआ नाम है—डाईनिपन =Dai Nippon=उदययान सूर्य की भूमि, छोटे बड़े मिलाकर ४०७२ ज्वालामुखी द्वीपों का बना एक अद्भुत द्वीप समूह है। द्वितीय महायुद्ध (१९३९–४५) के पहिले केवल यही एक एशियाई देश था जो आर्थिक

तथा राजनैतिक दोनों दृष्टि से पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र था, जिस पर किसी प्रकार का यूरोपीय प्रभुत्व नहीं था। यहां का एकाधिपत्य शासक जापानी सम्राट हिरोहितो था, जिसको विदेशी लोग मिकाडो (स्वर्ग का द्वार) कहकर पुकारते थे। यह छोटा सा देश, जहां छोटे छोटे कद के आदमी बसते हैं,—जिसका स्वतन्त्र प्राचीन कोई गौरवमय इतिहास नहीं, न अपनी स्वतन्त्र जिसकी कोई संस्कृति, न संसार की सभ्यता को कोई देन, २०वीं सदी में सहसा इतना उन्नत होकर खड़ा हुआ मानों संसार के सबसे बड़े महाद्वीप ऐशिया का नेतृत्व करने चला हो। सचमुच २०वीं सदी के आरम्भ में इसने अपनी शक्ति और अपने अभूतपूर्व विकास से संसार को चकित कर दिया, और उसको चकित कर संसार की आधुनिक हलचल में, मानव की आधुनिक कहानी में, इसने अपना स्थान निर्माण कर लिया। अतः इस देश के इतिहास और उसके विकास की मुख्य रेखायें जान लेना, अपनी कहानी को समझने के लिये आवश्यक है।

आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर वास्तविक मानव के उद्भव होने के बाद, कब वह सर्व प्रथम जापान में जाकर बसा कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। वहां प्राचीन अथवा नव पाषाण युग के अवशेष चिन्ह नहीं मिले हैं; ईसा की प्रायः तीसरी शताब्दी के पहिले जापान के किसी भी ऐतिहासिक तथ्य का पता नहीं लगता। लगभग ११०० ई० पू० में अनेक चीनी लोग चीन छोड़कर चीन के उत्तर पूर्व में उस भाग में जाकर बस गये थे जो कोरिया कहलाता है। वहां उन्होंने अपने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, और उसका विकास किया। कालान्तर में कोरिया में रहनेवालों में से अनेक चीनी लोग समुद्र पार करके जापान में जाकर बस गये। जापान के दक्षिण पूर्व में स्थित 'पूर्वीय द्वीप समूहों' के प्राचीन मलायन निवासियों में से भी अनेक लोग जापान में आकर बसे, और चीन के आये हुए लोगों से उनका सम्मिश्रण होगया। यह घटना ईसा के कई शताब्दियों पूर्व की होगी। एक बार अनेक समूह आकर बस गये होंगे, फिर उनका सम्पर्क

अपने आदि देशों से टूट गया होगा। इस प्रकार जापानी लोग मुख्यता मंगोल उपजाति के लोग हैं (क्योंकि चीनी मंगोल उपजाति के ही माने जाते हैं) जिनमें मलायन लोगों का सम्मिश्रण है। इन्हीं लोगों से जापान का इतिहास बना।

जापानियों की भी अपने उद्भव और राज्य के विषय में एक पौराणिक कथा है—ऐसी ही कथा जैसी प्रत्येक देश और जाति ने अपने पुरातन उद्भव के विषय में रच रक्खी है। इस कथा के अनुसार "सूर्य-देवी" जापानियों के प्रमुख आराध्य ईश्वर हैं। सूर्य देवी ने अपने ही वंश की "जिम्मू" नामक संतान को जापान में सम्राट बनाकर भेजा और उसी से (६६० ई० पू० से) जापानी सम्राटों की वंशावली चली। आधुनिक जापान में नगाया नगर के निकट उपरोक्त "सूर्य देवी" का प्रसिद्ध मन्दिर है जहां विशेष अवसरों पर जापान के सम्राट एवं मंत्रीगण पूजा करने के लिये जाते हैं। यही मन्दिर जापानी राष्ट्र का प्रतीक है—और जापानी सम्राट स्वयं "जापानी सृष्टि" का प्रमुख देव-पुरुष।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जापानी पौराणिक परम्परा तो जापान का सभ्य सामाजिक राजकीय इतिहास ई० पू० ७वीं शताब्दी तक ले जाती है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो हमें ईसा के बाद की दूसरी तीसरी शताब्दी तक वहां पर किसी भी प्रकार का राज्य संगठन नहीं दिखाई देता। वास्तव में ईसा के बाद पांचवीं शताब्दी तक जापानी लोग (वे चीनी और मलायन लोग जो प्रागैतिहासिक काल में जापान में बस गये थे) अन्धकार पूर्ण और असभ्य अवस्था में ही पाये जाते हैं। ईसा की ६ठी शताब्दी में जापान पर तत्कालीन चीनी लोगों का आक्रमण हुआ। यह कोई राजनैतिक अथवा सैनिक आक्रमण नहीं था। हम इसे सांस्कृतिक आक्रमण कह सकते हैं। इस आक्रमण ने जापान को, वहां के जीवन और समाज को मूलतः परिवर्तित कर दिया। सभ्यता के प्रकाश की प्रथम किरणों का उदय हुआ। एक लिखित भाषा का

प्रचार हुआ। भाषा वही जापानी रही जो उपरोक्त आदि निवासियों में विकसित होगई होगी, किन्तु उसका लिखित रूप चीनी चित्र-लिपि बनी। चीन से ही जापान में बुद्ध धर्म का प्रचार हुआ; चीन से ही जापान ने कनफ्यूसियम धर्म, चित्रकला, मिट्टी के बर्तन बनाने की कला, रेशम पैदा करना और उसके कपड़े बनाने की कला, पुष्पों की सजावट और उद्यान कला, चाय पैदा करना और चाय पीने की कला—इत्यादि बातें सीखीं। सम्भव है इस चीनी सम्पर्क के बिना जापान अकेला अपने द्वीपों में बसा हुआ, सभ्य नहीं हो पाता।

बुद्ध धर्म के आने के पहले जापानियों का स्वयं अपना एक प्राचीन धर्म था जिसे "शिण्टो" धर्म कहते हैं। अपने प्रारम्भिक रूप में यह धर्म एक प्रकार से प्रकृति पूजा और पूर्वजों की पूजा का धर्म था; यह एक आदिकालीन (Primitive) प्रकार का ही धर्म था। दार्शनिक दृष्टि से यह कोई विकसित धर्म नहीं था। आत्मा, परमात्मा, जीव और जीव के भविष्य के विषय में इस धर्म में किसी भी प्रकार का चिन्तन नहीं था। इस धर्म के मुख्य तत्व ये थे:—सम्राट की पूजा, जो कि स्वयं आदि 'सूर्य देवी" का वंशज है; पूर्वजों की पूजा; एवं देश के लिये जिसका कि प्रतीक स्वयं सम्राट है, बलिदान। आधुनिक काल में शिंटो धर्म में ये ही तत्व प्रमुख रहे हैं। युद्ध भूमि पर लड़ता हुआ जो कोई भी सैनिक अपने प्राण दे देता, उसकी गिनती जापान के देवताओं में होने लग जाती और उस वीर (देवता) के वंशज उसकी पूजा और सम्मान करते रहते। ईसा की छठी शताब्दी में जब बुद्ध धर्म जापना में आया तब उसमें और वहां के आदि धर्म शिंटो में कुछ विरोध हुआ, किंतु धीरे धीरे बुद्ध धर्म समस्त देश में फैल गया, और परस्पर इन दोनों धर्मों में ऐसी स्थिति बन गई कि व्यक्तिगत धर्म के साथ साथ सम्राटों की संरक्षता में शिंटो धर्म राष्ट्रीय धर्म बना रहा और प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह बौद्ध हो, ईसाई हो या अन्य धर्मावलम्बी, अपना राष्ट्रीय शिण्टो धर्म का भी अनुयायी बना रहा; उसी प्रकार जैसे चीन में चाहे

कोई बौद्ध हो, ईसाई हो, मुसलमान हो, एवं चाहे कनफ्यूसियस धर्माव-लम्बी हो, किन्तु पूर्वजों की धार्मिक पूजा का समारोह तो सभी में चलता ही रहता है। आधुनिक काल में बुद्धिवादी—एवं धार्मिक झंझटों से ऊपर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले अनेक व्यक्ति जापान में पैदा हुए किन्तु इस बात में कि "शिंटो" धार्मिक मान्यताओं में जनसाधारण का विश्वास बना रहे, उन्हें राष्ट्री राजनैतिक शक्ति का एक अटूट स्रोत दिखाई दिया, एतदर्थ आधुनिक काल में उन लोगों (शिक्षित वैज्ञानिक) ने भी "शिण्टो" मत को बहुत प्रोत्साहित किया। इसी शिण्टो धार्मिक भावना से प्रभावित होकर अनेक जापानी नवयुवक खुशी खुशी देश के सम्मान और समृद्धि के लिये अपने प्राणों की बलि चढ़ाते रहते हैं। देश के सम्मान में ही सम्राट का सम्मान निहित है,—सम्राट जोकि जापानियों के आदि ईश्वर "सूर्यदेवी" का पुत्र है।

जैसा कि प्रायः सब देशों के प्राचीन इतिहासों में देखा जाता है जापान में भी अपने अपने विशिष्ट पूर्वजों में विश्वास रखने वाले लोगों के जातिगत अनेक समूह (Clans) रहते थे। जापानी इतिहास के प्रारम्भिक काल में अपना अपना प्रभुत्व कायम करने के लिये इन जाति-गत समूहों में युद्ध और झगड़े होते रहते थे। ऐसा **अनुमान है** कि ईस्वी सन् २०० तक जापना का एक सम्राट के **अधिनायकत्व** में संगठन हो चुका था और यहां की प्रथम साम्राज्ञी जिम्पो नामकी एक महिला थी। जो कुछ हो, यहां का विश्वसनीय लिखित इतिहास तो ५३६ ई० से ही मिलता है।

जापान में सम्राट का व्यक्तित्व सर्वोपरि रहा है; वह समस्त राष्ट्र और देश का प्रतीक माना जाता रहा है। राष्ट्र की दृष्टि में समस्त आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक शक्तियों का केन्द्र भी सम्राट माना जाता रहा है। किन्तु इतना होने पर भी जापानी इतिहास की यह एक विशेषता रही है कि समस्त राजकीय शक्ति वस्तुतः सम्राट के हाथों में न रह कर और किन्हीं हाथों में केन्द्रित रही है। ५३६ ई०

से, जब से जापान का तिथि वार इतिहास मिलता है, जापान का प्रमुख राजनैतिक प्रश्न यही रहा है कि जापान में कौन वे लोग हैं जो सम्राट को चला रहे हैं और जिनके हाथों में शक्ति केन्द्रीयभूत है। इस दृष्टि से जापानी इतिहास को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

१. महान परिवारों का प्रभुत्व (५३६-११९२ ई०)
२. शोगुनों का एक तांत्रिक प्रभुत्व (११९२-१८६८ ई०)
३. सम्राट की संरक्षता में वैधानिक राजतंत्र (१८६८ ई०)

जापान का इतिहास इन्हीं तीन काल खंडो के अनुसार अध्ययन करेंगे।

१. जापान-महान परिवारों का प्रभुत्व (५३६-११९२ ई०)

वह प्रसिद्ध जापानी परिवार जिसके हाथ में राजकीय सत्ता रही 'शोगा' नामका परिवार था। इस परिवार का सबसे प्रमुख व्यक्ति 'शोटूकू ताइसी' था, जो कि जापानी इतिहास का एक महान व्यक्ति माना जाता है। इसने धीरे धीरे विभिन्न विभिन्न जातिगत समूहों को हराया और देश के सम्राट के आधीन उन सबका संगठन किया। चीन के महात्मा कनफ्यूसियस की शिक्षाओं से प्रभावित होकर नैतिक आधार पर राज्य का सगठन करने का उसने प्रयास किया। 'शोटूकी ताइसी' की मृत्यु के बाद सम्राटों को चलाने वाले शोगा परिवार का प्रभुत्व भी समाप्त हुआ। अब जापान के इतिहास में "काकाटोमी नो कामटोरि" नामक एक अन्य महान व्यक्ति का आगमन हुआ।। इसने फ्यूजीवारा परिवार की स्थापना की। चीनी राजकीय ढंग का अध्ययन करके इसने जापान के राजकीय संगठन में अनेक उचित परिवर्तन किये, एवं जातिगत समूहों को और भी अधिक दबाकर राज्य की केन्द्रीय शक्ति को अधिक संगठित और महत्वशाली बनाया। इन फ्यूजीवारा परिवार के शासक लोगों ने किसान लोगों से भूमि कर एकत्रित करने के लिए एक जमींदार वर्ग का निर्माण किया। ये जमींदार लोग "ढाईमीओरस" कहलाते थे, छोटी छोटी फौंज रखते थे, अपनी फौजी शक्ति के बल पर

भूमि-कर एकत्रित करते थे, उसमें से मुख्य भाग स्वयं रख कर शेष शासकों को दे देते थे।

धीरे धीरे इन "ढाईमी ओरस" (जमींदार) लोगों की शक्ति का ह्रास होने लगा और उनमें यह घमंड आगया कि वे शासक परिवारों को भी बदल सकते हैं और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं।

इस काल में जापान की राजधानी कोयटो थी। देश में दो प्रमुख 'ढाईमीओरस' परिवार 'ताहिरा' और "मीनामोती" थे। इन दोनों जमींदार परिवारों ने शासक परिवार फ्यूजीवारा का अन्त करने में सम्राट को मदद दी। इस प्रकार फ्यूजीवारा परिवार का अन्त हुआ। किन्तु इसका अन्त होने पर उपरोक्त दोनों जमींदार परिवारों में प्रभुत्व के लिये झगड़े हुए और अनेक लड़ाइयां हुईं। अन्त में 'मीनामोती' परिवार की विजय हुई और उस परिवार के प्रमुख व्यक्ति योरीतोमो को जापानी सम्राट में "शोगुन" की पदवी से विभूषित किया। इस पदवी का अर्थ था—"जङ्गली लोगों पर विजय प्राप्त करने वाले सरदार।" यह घटना ११६२ ई० में हुई और तभी से जापान में सम्राट के नाममात्र अधिनायकत्व में "शोगुन" लोगों का राज्य प्रारम्भ हुआ।

२. जापान—शोगुनों का प्रभुत्व (११६२-१८६८)

उपरोक्त शोगुनों की "पदवी" वंशानुगत थी। इस प्रकार—एक शोगुन की मृत्यु के बाद उसी का पुत्र शोगुन की पदवी धारण करके राजकार्य सम्भालता था। राजकीय वास्तविक शक्ति उसीके हाथों में रहती थी यद्यपि वह राजकार्य सम्राट के नाम से एवं सम्राट के आधीन रहकर ही करता था। जापान का प्रथम शोगुन शासक "योरीतोमो" था। उसके एवं उसके वंश के शोगुन लोगों का राज्य सन् १३३३ ई० तक रहा। इस काल में देश में शान्ति रही अतएव देश खूब समृद्ध भी बना। मुख्यतः चावल की खेती होती थी, सामुद्रिक किनारों पर मछलियां पकड़ी जाती थीं, जोकि भोजन का एक प्रमुख अंग थी। घरों पर स्त्रियां रेशम के कीड़े पालती थीं, रेशम पैदा करती थीं और रेशमी कपड़

बुनती थीं। चावल की खेती के अलावा रेशम का उत्पादन ही देश का प्रमुख उद्योग था जो चीन से आया था, इसके अतिरिक्त चीन से ही सीखी हुई कला के अनुसार सुन्दर सुन्दर चित्रकारी वाले मिट्टी के बर्तन भी बनाये जाते थे। नावें और जहाजें भी थीं, जिनमें आसपास के देशों से व्यापार होता था।

ऐसा अनुमान है कि सन् ११६१ में एक बौद्ध भिक्षु चाय के बीज जापान में लाया और तभी से जापान में चाय की भी खेती होने लगी और जापानी बड़े समारोह के साथ चाय पीने लगे। किंतु देश के प्रमुख धनी और सत्तावान घरानों में लड़ाई झगड़े चलते ही रहते थे—इसी उद्देश्य से कि राज सत्ता उनके हाथ में हो। इसी प्रकार सम्राट और शोगुन में भी विरोध चलता रहता था कि वास्तविक राजसत्ता किसके हाथ में रहे। उन्हीं झगड़ों में प्रथम शोगुन परिवार का अंत हुआ। सन् १३३८ ई० में "असीकागा" नामक शोगुन राज्य की स्थापना हुई। इस वंश के शोगुन लोगों का राज्य १६०३ ई० तक रहा। पारस्परिक युद्ध चलते ही रहते थे, एवं १६०३ ई० में उपरोक्त शोगुन वंश का अन्त होकर "टोकुगावा" नामक वंश के शोगुन राज्य की स्थापना हुई जिसने जापान के आधुनिक काल में १८६८ ई० तक राज्य संचालन किया।

जापान—यूरोप से सम्पर्क

उपरोक्त (टोकुगावा) शोगुन वंश के राज्यकाल में जापान का यूरोपीय देशों से सम्पर्क हुआ। सन् १५४२ ई० में कुछ पुर्तगाली जहाजें जो चीन के साथ व्यापार करने के लिये आई होंगी, बहकर जापानी किनारे पर लग गईं, तब तक यूरोप जापान से बिल्कुल अनभिज्ञ था और जापान यूरोप से बिल्कुल अनभिज्ञ। उपरोक्त घटना के बाद तो स्पेन के, इङ्गलेंड के, फ्रांस के एवं होलैंड के अनेक व्यापारी और ईसाई पादरी जापान में आने लगे। इन्हीं यूरोपीय व्यापारियों के साथ जापान में सबसे पहिले बंदूकों का आगमन हुआ। पहिले तो जापानियों ने इन

पाश्चात्य ईसाई पादरी और व्यापारियों को अपने देश में बसने के लिये और व्यापार करने के लिये आज्ञा देदी, किन्तु उन्होंने देखा कि स्पेन के लोगों ने जो फिलीपाइन द्वीप में व्यापार करने के लिये आये थे, उस द्वीप पर अपना आधिपत्य ही जमा लिया था। जापान के एक प्रसिद्ध राजनैतिक पुरुष हिदेयोशी को भान हुआ कि ये यूरोपीय लोग तो भले मानुस नहीं हैं। धर्म के नाम पर आते हैं किन्तु जिस देश में वे जाते हैं धीरे धीरे उसी को हथियाने का प्रयत्न करते हैं। जापानी सम्राट और शासक लोगों को भी यह भान कराया गया। अतएव जापानी चेते और सम्राट ने एक के बाद दूसरा फरमान निकाला कि जापान में जितने भी विदेशी हैं वे सब जापान छोड़कर चले जायें; कोई भी विदेशी जापान की भूमि पर न उतरे; कोई जापानी भी विदेशों में न जाये। सब विदेशियों को यहां तक कि चीनियों को भी जापान छोड़कर जाना पड़ा; विदेशी आवागमन सब बंद होगया, और इस प्रकार बाहरी दुनिया के लिये जापान के दरवाजे बिल्कुल बंद होगये। सन् १६३७ ई० से १८५३ तक, २०० वर्षों से भी अधिक जापान अपने में ही सीमित, अन्य देशों से यहां तक कि अपने पड़ोसी देश चीन और कोरिया से भी बिल्कुल सम्पर्क-विहीन, एक बंद घर की तरह पड़ा रहा।

जापान—सामाजिक दशा (५३६–१८६८ ई० तक)

अब तक के वर्णित जापान के इतिहास से इतना तो भान हुआ होगा क जापान के इतिहास के आरम्भ काल से लेकर लगभग १३०० वर्षों तक जापान की कहानी मात्र, विभिन्न धनी, शक्तिशाली सामंती एवं सैनिक परिवारों में परस्पर झगड़े और युद्ध की कहानी रही। देश अधिकांशतः गृह-युद्धों से पीड़ित और अन्धकार पूर्ण रहा। धन और शक्ति-लोलुप सामंती परिवार देश के बहुसंख्यक जन-समुदाय किसानों से तलवार के बल पर मन चाहा धन कर के रूप में लेते रहे, किसान वर्ग में से ही सिपाही एकत्रित करते रहे और आपस में लड़ते रहे; उन्हीं के प्रभाव में सम्राट का शासन चलता रहा।

यद्यपि चीन से लेखन कला, छपाई (Block printing= लकड़ी के ब्लोकों से छपाई) और चित्रकला जापान में इसके इतिहास के प्रायः प्रारंभिक काल में ही आ गई थीं, किंतु ये सब बातें जन साधारण से बिल्कुल दूर रहीं, केवल राजकीय एवं सामंती परिवारों में ही शिक्षा और कला का प्रसार हो पाया। तत्कालीन समाज में मुख्यतः ३ वर्ग माने जा सकते हैं। १. उच्चवर्ग (जिसमें राजकीय परिवार, राजकीय शासक वर्ग और सामंती लोग थे)। २. कृषि वर्ग ३. सैनिक वर्ग।

यह बात ध्यान में लाने योग्य है कि चीन की तरह यहां मंडारिन (शिक्षित संस्कृत) लोगों का वर्ग नहीं था, एवं जहां चीन में पृथक सैनिक वर्ग नहीं था, यहां जापान में ऐसे वर्ग का निर्माण हो चुका था। साधारण वर्ग के लोग खेती करते थे, पूर्वजों में विश्वास बनाये रखते थे, और सम्राटों को सर्वोपरि देवीय पुरुष मानते रहते थे। इसी विश्वास में उनका जीवन चलता रहता था।

६ठी शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक उपरोक्त १३०० वर्षों के काल में किसी विशेष कला, दर्शन और विज्ञान की उन्नति देश में नहीं हुई और न कोई बड़ा धार्मिक महात्मा, विचारक या कवि या दार्शनिक पैदा हुआ जो संसार की संस्कृति में अपना योग दे सकता।

हां जापानी लोगों के चरित्र और मानस का विकास चीनी लोगों की अपेक्षा एक भिन्न दिशा में हुआ। चीनी लोग तो बहुत ही बुद्धिसम्मत सहिष्णु (Reasonable) लोग हैं, प्रकृति और समाज में बिना ऐंठ के, सरलता से, सहजभाव से चलते हुए, जीवन की घटनाओं के प्रति एक विनोदात्मक समरसपूर्ण (Humorous harmonious) दृष्टि बनाये रखते हैं, किन्तु जापानी लोग किसी भी काम के पीछे अंधा होकर पड़ने वाले, कृत संकल्प और कड़े लोग हैं। वे तार्किक ढङ्ग से बहस नहीं कर सकते और न वे सहन कर सकते किसी भी काम में शिस्त और अनुशासन की ढिलाई। जीवन और नैतिकता की गहन

समस्यायें उनको परेशान नहीं करतीं और न व्यक्तिगत जीवन में नैतिकता की महानता को वे समझते। बल्कि वे इस बात की ओर अधिक जागरूक हैं कि व्यक्ति समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन करता है या नहीं। अपेक्षाकृत वह व्यक्तिवादी कम समष्टिवादी अधिक है। मिल जुलकर काम करने की कला में वे बड़े दक्ष और उत्साही हैं। राष्ट्र और देश के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को मिटाने वाले—यहां तक इस बात का भान होने पर कि राष्ट्र के प्रति उन्होंने अपना कर्तव्य अच्छी तरह से नहीं निभाया या कि उन्होंने ऐसा कोई काम किया जो राष्ट्र की इज्जत के अनुकूल न था, तो वे सहर्ष अपने हृदय में छुरा भोंक लें, और इस प्रकार अपने जीवन को समाप्त कर डालें—इसे वे "हाराकरी" कहते हैं। इस प्रकार जापानी मानस का विकास धीरे-धीरे हुआ।

३. जापान–आधुनिक काल (१८६८–१९५०)

टोकुगावा शोगुन के राज्यकाल में सन् १६३७ में जापान ने जो अपना दरवाजा बन्द कर दिया था वह १८५३ ई० तक बन्द रहा। फिर १८५३ ई० में कोमोडोरपैरी नामक एक अमेरिकन जहाजी अफसर ने जापान के दरवाजे खटखटाये। उसके तुरन्त बाद ही अमेरिका ने जापान के सामने मांग पेश की कि अमेरिका के नागरिकों को जापान में दाखिल होने का और व्यापार करने का अधिकार होना चाहिये। किन्तु जापान ने कुछ नहीं सुना। फिर सन् १८६३ ई० में इङ्गलैण्ड, अमेरिका एवं अन्य यूरोपीय देशों के जहाजी बेड़ों ने मिलकर जापान के सामुद्रिक तट के नगरों पर भीषण गोलाबारी की, जिससे मजबूर होकर जापान को पाश्चात्य देशों के लिये अपने घर के दरवाजे खोलने पड़े। किन्तु मजबूर होकर ऐसा करने में एक तीव्र बदले की भावना उनके मन में घर कर गई।

उस समय जापान में टोकुगावा शोगुन का राज्य था। इस शोगुन शासक की अवस्था बहुत ही बिगड़ी हुई, और कमजोर थी। दो अन्य

जातिगत परिवारों ने, यथा 'सतसुमाश' और 'चोरसुस' ने, मिलकर टोकुगावा परिवार को उखाड़ फेंका और सम्राट को वास्तविकतः जापान की राजगद्दी पर शासनारूढ़ किया। शोगुन शासन-प्रणाली का अन्त हुआ और सम्राट समस्त जापानी शक्ति का प्रतीक बना। यह घटना सन् १८६८ ई० की है जो जापानी इतिहास में मेजी पुनर्स्थापन (Megi Restoration) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समय जो सम्राट शासनारूढ़ हुआ उसका नाम मुतमुहितो था और वह मेजी नाम से प्रसिद्ध था।

सन् १८६८ ई० में मेजी पुनर्स्थापन के बाद जापान का इतिहास मानो मूलतः बदल गया। इतिहास की गति तीव्र हुई और समस्त जापानी राष्ट्र पच्छिम के प्रति एक बदले और विरोध की भावना से उत्तेजित हो आगे क़दम बढ़ाने लगा। अभूतपूर्व तेज इसकी रफ्तार हुई और उसी शस्त्र से जिससे यूरोपीय देशों ने इसको चिढ़ाया था, इसने यूरोप को परास्त करने का संकल्प किया। समस्त देश ने मिलकर यान्त्रिक आधार पर तुरन्त औद्योगीकरण किया, आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लेस एक बहादुर फौज खड़ी की, बड़े बड़े आधुनिक जहाज बनाये और एक विचक्षण नौसेना तैयार की। जितनी औद्योगिक उन्नति यूरोप १०० वर्षों में भी नहीं कर पाया था उतनी उन्नति जापान ने बहुत ही कुशल ढङ्ग से केवल ३०-३५ वर्षों में करली। संसार के इतिहास में किसी देश ने इतने कम समय में इतनी उन्नति नहीं की।

जापान अब तैयार था। सशक्त हो कर खड़ा था, मध्य-युग के अंधियारे से निकलकर आधुनिक युग के प्रशस्त पथ पर यूरोपीय देशों की भांति उसने भी अब आर्थिक विजय के लिये कूच प्रारंभ की। सन् १८९४–९५ में पहला चीन-जापान युद्ध हुआ। चीन को अपना फारमूसा द्वीप जापान को सौंपना पड़ा और कोरिया पर से अपने अधिकारों को तिलाञ्जली देनी पड़ी। सन् १९०४–५ यूरोप के विशाल देश रूस से इस छोटे से द्वीप जापान की लड़ाई हुई। जापान ने रूस को परास्त

किया। दुनिया में जापानी शक्ति का सिक्का जमा और कोरिया जापान के आधीन हुआ। फिर जापान के प्रधान मंत्री जनरल तनाका ने अपने देश और सम्राट को जचाया कि विश्व में जापान की पताका फहराने के लिये पहिले आवश्यक है कि जापान मंचूरिया एवं मंगोलिया पर विजय प्राप्त करे। एतदर्थ सन् १६३१ ई० में मुकदन (Mukden) घटना हुई जिसके फलस्वरूप मंचूरिया और मंगोलिया पर शनैः शनैः जापान का आधिपत्य स्थापित हुआ। फिर सन् १६३६ में संसार व्यापी द्वितीय महायुद्ध हुआ; जब कि जर्मनी तो तीव्र गति से यूरोप को पदाक्रांत कर रहा था, जापान पूर्व में नई व्यवस्था (New Order) स्थापित करने में संलग्न हुआ। समस्त सुदूर पूर्वीय देश एक के बाद दूसरे जापानी साम्राज्य के अन्तर्गत आने लगे; जापान ने फिलीपाइन द्वीप से अमेरिका को खदेड़ा; हिंदेशिया (सुमात्रा, जावा, बोर्नियो इत्यादि) से डच लोगों को; मलाया और बर्मा से ब्रिटेन को, और फिर अंत में विशाल देश चीन पर अपना अधिकार जमाया। अभूतपूर्व यह विजय थी और अभूतपूर्व किसी साम्राज्य का विस्तार।

किंतु सन् १६४६ में युद्ध ने पलटा खाया। नवीनतम आविष्कृत एक प्रलंयकारी शस्त्र अमेरिका के हाथ में लग गया था,—वह शस्त्र था अणुबम। संसार के इतिहास में सर्व प्रथम इन महाविनाशकारी बमों का प्रयोग जापान के दो नगरों—हिरोशिमा और नागासाकी पर हुआ—सैकड़ों मीलों तक तरु, पल्लव, जीव, मानव सब साफ हो गये; लाखों जापानी मानव अचानक विनष्ट हो गये। इस घटना ने जापान की पीठ तोड़ दी और अपने हथियार डालकर उसे मित्र राष्ट्रों (ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, रूस) से संधि करने के लिये विवश होना पड़ा। सन् १६४६ में मित्र राष्ट्रों की तरफ से अमेरिका के सेनापति जनरल मैकार्थर की अध्यक्षता में जापान में अंतरिम सैनिक राज्य स्थापित हुआ—उस समय तक के लिये जब तक जापान के साथ कोई स्थायी संधि नहीं हो जाती और जापानी स्वयं मित्र राष्ट्रों की इच्छा और

जनतांत्रिक आदर्शों के अनुकूल अपना प्रबंध स्वयं करने के लिये तैयार नहीं हो जाते। अभी तक ऐसी न तो कोई स्थायी संधि हो पाई है, और न ऐसा कोई प्रबंध। ४ वर्षों से जनरल मैकार्थर का सैनिक राज्य जापान में चल रहा है और उसकी संरक्षता में जापान में इस प्रकार की शिक्षा के प्रचलन का प्रयास हो रहा है कि जापानी मानस किसी प्रकार जनत्रांतिक बन पाये।

(५०)

मलाया, हिन्देशिया, स्याम, हिन्दचीन का इतिहास

(प्रारम्भ से आज तक)

मलाया, हिंदचीन, और हिंदेशिया के विशाल द्वीपों का मानव के आधुनिक इतिहास में बहुत महत्व है। अतएव इन देशों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित होजाना बहुत आवश्यक है। इन देशों के इतिहास को हम ५ भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

१. प्राचीनकाल—सौर-पाषाणी सभ्यता का युग–आज से लगभग १०–१२ हजार वर्ष पूर्व से ईसाकाल से प्रारम्भ तक।

२. हिन्दू एवं बौद्ध साम्राज्यकाल—लगभग (१००–१४०० ई०)

३. मलक्का मुसलमान साम्राज्यकाल–लगभग १४००–१५११ई०)

४. यूरोपीय साम्राज्यकाल-- (१५११–१९४५ ई०)

५. आधनिक राष्ट्रीयता का युग (१९४६ से)

१. प्राचीनकाल

(सौर-पाषाणी सभ्यता युग आज से १०–१२ हजार वर्ष पूर्व से ईसाकाल के प्रारम्भ तक)

आज से लगभग दस बारह हजार वर्ष पूर्व सौर पाषाणी सभ्यता पच्छिम में ठेठ स्पेन से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैली हुई थी यथा, भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेश, मिश्र, उत्तर अफ्रीका, एशिया माइनर, मेसोपोटेमिया (इराक़), ईरान, संभवतः अरब, सिन्धु प्रदेश, दक्षिण भारत, चीन के तटवर्ती प्रदेश और फिर दक्षिण पूर्वीय एशिया के प्रदेश जैसेः–हिंदचीन, मलाया-प्रायद्वीप, मलक्का, सुमात्रा एवं जावा द्वीप। अब तक स्यात् न्यूजीलैंड और आस्टेलिया में मानव नहीं बसे थे। उपरोक्त देशों में फैली हुई सौर-पाषाणी सभ्यता काष्र्णीय लोगों की (गोरे काले मिश्रित वर्ण वाले लोगों की) सभ्यता थी। ईसा के १०–१२ हजार या इससे भी अधिक वर्ष पूर्व उपरोक्त सभ्यता वाले देशों में अपनी ही एक विचित्र दुनिया थी, मानो उस प्राचीन युग में यदि संसार में कहीं भी कुछ मानवीय चहल पहल, हलचल थी तो इन्हीं देशों और इन्हीं काष्र्णीय लोगों में।

तो दक्षिण पूर्वीय एशिया में आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, न्यूगिनी द्वीपों को छोड़कर समस्त मलेशिया, हिंदचीन, एवं हिंदेशिया (पूर्वीय द्वीप समूह) के देशों का इतिहास उपरोक्त सौरपाषाणी कालीन काष्र्णीय लोगों की सभ्यता से प्रारम्भ होता है। याद होगा कि ये काष्र्णीय लोग आर्य, मंगोल, निग्रो लोगों से भिन्न थे। उस प्राचीन, आदिकालीन मानव जाति के प्रमुख अंग ये काष्र्णीय लोग थे, जिन्होंने कृषि, पशुपालन, देव पूजा, बलि, जादू टोणा वाली सभ्यता की चहल पहल इस दुनिया में मानव के अवतरण के बाद सबसे प्रथम प्रारम्भ की थी। सौर पाषाणी सभ्यता के युग के बाद मलाया, हिंदचीन, स्याम और उपरोक्त पूर्वीय द्वीप समूह का इतिहास ईसा काल से आरम्भ तक प्रायः अन्धकार पूर्ण

रहता है। जिस प्रकार मिश्र और मेसोपोटेमिया में, दक्षिण भारत और सिंध-प्रान्त में सौरपाषाणी सभ्यता के आधार पर पृथक पृथक सुसंगठित सभ्यताओं का विकास हुआ, ऐसा कोई भी विकास एशिया के दक्षिण पूर्वीय देशों में नहीं हुआ। संभव है इन देशों का सम्पर्क अन्य विकासमान सभ्य देशों से टूट गया हो, अतएव इनका विकास रुक गया हो।

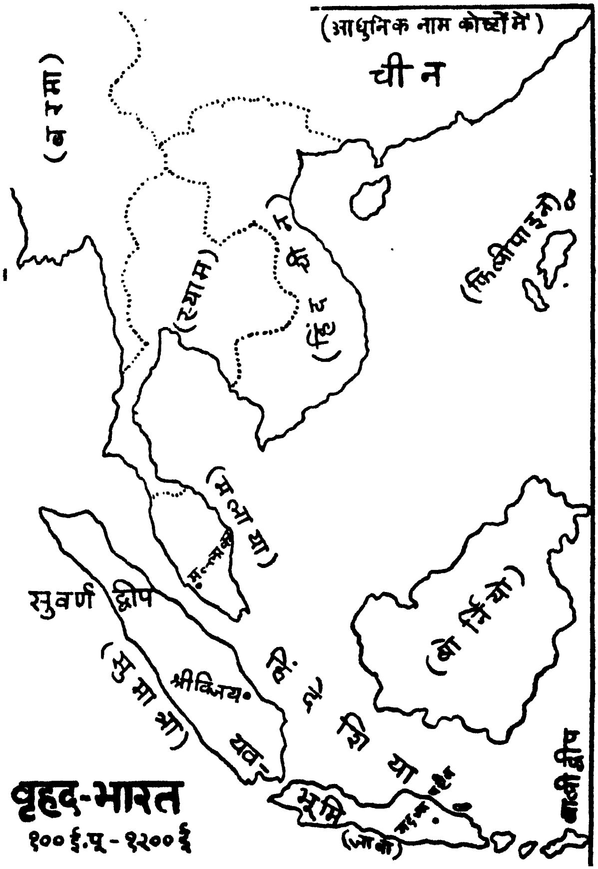
आज जो लोग इन देशों के निवासी हैं वे मंगोल रेस के लोग हैं जो चीन के शायद यूवान प्रान्त से आकर इन के देशों में फैल गए थे। बाद में अनेक जन भारतीय वहां पहुंचे एवं चीनी एवं भारतीय मिश्रण से वहां की ही एक विशेष जाति और संस्कृति बनी।

२. हिंदू-बौद्ध साम्राज्य काल (१००–१४०० ई०)

ईसा काल के प्रारम्भ तक अनेक शक्तिशाली हिंदू राज्य दक्षिणी भारत में स्थापित हो चुके थे। दक्षिण भारत के सामुद्रिक किनारों पर रहने वाले हिन्दू लोग कुशल नाविक थे और कुशल व्यापारी। दूर दूर देशों तक उनका व्यापार चलता था। ये ही हिन्दू व्यापारी लोग ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी में बहुत बड़ी संख्या में पूर्वीय द्वीप समूहों की ओर बढ़े, वहां जाकर वे रहने लगे और अपने बड़े बड़े उपनिवेश बसा लिये। फिर धीरे धीरे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और अनेक उपनिवेश बौद्ध उपनिवेश हो गये।

(अ) हिन्द चीन में साम्राज्य—यहां भारत से आगंतुक हिन्दू व्यापारियों की पहिले तो छोटी छोटी बस्तियां बसीं और फिर वहां छोटे छोटे हिन्दू राज्य स्थापित हो गये। बड़े बडे सुन्दर नगरों, भवनों और मन्दिरों का निर्माण हुआ। ईसा की तीसरी शताब्दी में हम पान्डुरगम नगर का विकास होता हुआ पाते हैं। पांचवीं शताब्दी में कम्बोज नामक विशाल नगरी समृद्धवान थी। ईसा की ९वीं शताब्दी में जयवर्मन नामक सम्राट के अधिनायकत्व में कम्बोडिया साम्राज्य स्थापित हुआ हम पाते हैं। जयवर्मन स्यात् बौद्ध था। उसने अंगकोर नामक एक सुन्दर विशाल नगरी बसाई जो उसके साम्राज्य की राजधानी

भी थी। पूर्वीय देशों में इस नगरी के सौन्दर्य और समृद्धि की बहुत प्रशंसा थी। अनेक विशाल सौन्दर्य पूर्ण भवन और मन्दिर बने हुए थे। वे सब दक्षिण भारत की भवन निर्माण कला के नमूने थे, और



स्यात् भारतीय शिल्पकारों ने ही आकर इन भवनों का निर्माण किया था। इसी नगर के पास एक विशालकाय मंदिर का निर्माण हुआ था

जिसका नाम अंगकोरवाट था, और जिसके अद्भुत विशाल अवशेष अब भी स्थित हैं। ३ मील के घेरे का यह मंदिर है—काले पत्थर का, जिसके चारों ओर चौड़ी खाई है। मंदिर की दीवारों पर सुन्दर खुदाई का काम है जिसमें रामायण तथा महाभारत की कथाओं के चित्र अंकित हैं। मंदिर में पहिले बुद्ध भगवान की मूर्ति थी—किंतु बाद में विष्णु भगवान की प्रतिष्ठापना कर दी गई थी। दर्शकों के लिए यह मंदिर अब भी एक चमत्कार की बात है। चार सौ वर्षों तक इस साम्राज्य का विकास होता रहा किन्तु फिर उत्तर से चीनी लोगों का दबाव इस पर पड़ा और साथ ही साथ एक दुर्भाग्य पूर्ण प्राकृतिक घटना हुई। मेंकोंग नदी में जिसके किनारे अंगकोर नगर वसा हुआ था भयंकर बाढ़ें आईं, उपजाऊ भूमि में चारों ओर पानी फैल गया और उसने नगर और भूमि सबको विनष्ट कर दिया। इन कारणों से कम्बोडिया साम्राज्य का अन्त हुआ—और उसके स्थान पर छोटे छोटे राज्य रह गये।

(च) **श्रीविजय साम्राज्य**—ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत के पल्लव वंशीय हिन्दू लोग सुमात्रा द्वीप में आकर रहने लगे और वहां पर उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये। धीरे धीरे ये बस्तियां बढ़ती गई, बड़ी होती गई और अन्त में वहां एक राज्य की स्थापना हुई जिसकी राजधानी श्रीविजय थी। श्रीविजय बहुत बड़ा नगर था जो सुमात्रा के पहाड़ी प्रदेशों में बसा हुआ था। ईसा की पांचवीं या छठी शताब्दी बौद्ध में धर्म का प्रचार हुआ और तब से वहां के लोगों का प्रमुख धर्म बौद्ध धर्म ही रहा। ईसा की दूसरी शताब्दी से प्रारम्भ होकर श्रीविजय राज्य दिनों दिन उन्नति करता रहा और धीरे धीरे यह एक विशाल साम्राज्य बन गया जिसमें समस्त सुमात्रा द्वीप, बोर्नियो, सिलीबीज, और फिलीपाइन द्वीप, मलाया प्रायद्वीप, लंका, आधा जावा और चीन के दक्षिण में केंटन के पास एक बन्दरगाह सम्मिलित थे। प्रायः १४वीं शताब्दी के अन्त तक इस साम्राज्य की स्थिति बनी रही।

(स) मदजापहीत साम्राज्य—इन्हीं पूर्वीय प्रदेशों में जावा द्वीप के पूर्वीय भाग में एक तीसरा राज्य स्थापित था जिसकी राजधानी मदजापहीत (Madjapahit) थी, और जो बाद में मदजापहीत साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पहिले यह केवल पूर्वीय जावा में स्थित एक छोटा सा हिन्दू राज्य था, किन्तु धीरे धीरे यहाँ के शासक अपने राज्य का विस्तार करते रहे। इस राज्य का समकालीन पूर्व कथित विशाल श्रीविजय साम्राज्य था जिसके साथ इस छोटे से राज्य के झगड़े होते रहते थे, किन्तु किसी तरह यह छोटा सा राज्य अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखता था। श्रीविजय और मदजापहीत राज्यों के झगड़ों का मुख्य कारण व्यापारिक होड़ और वैमनस्य था; उसी प्रकार का वैमनस्य और होड़ जैसी १८वीं और १९वीं शताब्दी में यूरोप के विकसित होते हुए व्यापारिक देशों में यथा, स्पेन, पुर्तगाल, हौलैंड इङ्गलैंड और फ्रांस में।

जब श्रीविजय और मदजापहीत में यह वैमनस्य चल रहा था—एक घटना हुई। उस समय चीन में मंगोल सम्राट कुबलेखां का राज्य था। समस्त एशिया में कुबलेखां की धाक थी। उसने कुछ राजदूत और कर्मचारी मदजापहीत के शासक के पास भेजे कि वह चीन के सम्राट को अपना संरक्षक माने और प्रति वर्ष उसे कुछ भेंट दिया करे। मदजापहीत ने इन दूतों का तिरस्कार किया, फलतः चीनी फौजों का आक्रमण जावा पर हुआ। चीनी फौजों के पास लड़ने के नये शस्त्र बारूद की बन्दूकें तो थीं, किन्तु उनकी जल सेना पर्याप्त नहीं थी, अतएव जावा को, जहां समुद्र पार करके पहुंचना पड़ता था, वे परास्त नहीं कर सके, यद्यपि जावा को नुकसान काफी उठाना पड़ा। किन्तु एक लाभ हुआ—मदजापहीत के शासक बारूद के अस्त्रशस्त्रों से परिचित होगये। इन्हीं नये शस्त्रों का प्रयोग इन्होंने श्रीविजय साम्राज्य के विरुद्ध किया, और अन्त में सन् १३७७ ई० में श्रीविजय को परास्त कर, उस विशाल साम्राज्य का अन्त किया। श्रीविजय के स्थान पर मदजापहीत अब एक समृद्ध महान् साम्राज्य था। इस समय महारानी सुहिता उस साम्राज्य की साम्राज्ञी थी।

राज्य का संगठन बहुत कुशल और अनुशासन पूर्ण था। राज्य कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये पृथक पृथक कई राजकीय विभाग थे, जैसे व्यापार विभाग, उपनिवेश विभाग, लोक हितकारी एवं स्वास्थ्य विभाग, युद्ध विभाग, इत्यादी। भूमिकर, तटकर, एवं अन्य राजकीय आमदनी वसूल करने की सुगठित, सुव्यवस्थित प्रणाली थी। निर्यात और आयात व्यापार का भी सुन्दर प्रबन्ध था।

किन्तु, यह साम्राज्य भी अधिक वर्षों तक नहीं टिक सका। चीन के आक्रमण होते रहे–गृह युद्ध हुए, और साम्राज्य कई स्वतंत्र छोटे छोटे राज्यों में विभक्त होगया, और अन्त में १५वीं शताब्दी में मलक्का के अरबी सुल्तानों का आधिपत्य इस दक्षिणी पूर्वीय दुनिया पर होगया। इसका विवरण आगे है।

भारतीय उपनिवेशों की विशेपतायें

दक्षिण पूर्वीय दुनिया के उपरोक्त भारतीय उपनिवेश (सुमात्रा, जावा, हिंदचीन इत्यादि) जिनकी स्थापना ईसा काल के प्रारंभ में हुई थी मुख्यतया व्यापार प्रधान थे। इन लोगों के बड़े बड़े जहाज चलते थे जो चीन, दक्षिणी भारत एवं अरब से व्यापार करते थे। जिन भारतीयों ने इन उपनिवेशों को बसाया था; और अन्य जो समय समय पर यहां आकर बसते जाते थे, उनका अपने पितृ देश भारत से राजनैतिक संबन्ध नहीं रहता था।

इन भारतीय औपनिवेशिक राज्यों में सुन्दर सुन्दर नगरों की स्थापना हुई, बौद्ध एवं हिंदू मंदिरों का निर्माण हुआ जिनकी विशालता और कला का सौन्दर्य अब भी जावा और सुमात्रा के कई सैंकड़ों वर्ष पुराने अवशिष्ट मंदिरों में देखने को मिलता है। जावा का विशाल बोरोबदूर हिन्दू मन्दिर और उसके भित्ति चित्र प्राचीन कला के भव्य स्मारक हैं। यह विशाल काय पत्थर का मंदिर, उसकी दीवारों में अंकित रामायण महाभारत की कथाओं के चित्र और वहां के भित्ति चित्र एक अद्भुत सौंदर्य प्रस्तुत करते हैं जो आज भी एक चमत्कार की

वस्तु बने हुए हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में सुमात्रा का स्वर्ण द्वीप (सुवर्ण द्वीप) और जावा का जवाली द्वीप (यव द्वीप) नाम से उल्लेख आता है। चीनी सभ्यता और कला का भी प्रभाव इन देशों पर पड़ा था; हिंदचीन, स्याम और बर्मा में विशेषकर चीनी प्रभाव है, एवं सुमात्रा जावा, बोर्नियो इत्यादि द्वीपों में मुख्यतया भारतीय प्रभाव। अपनी ही किसी स्वतन्त्र कला, दर्शन या काव्य का विकास ये लोग नहीं कर पाये। ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी से प्रारंभ होकर १४वीं शताब्दी के अंत तक इन भारतीय औपनिवेशिक हिंदू तथा बौद्ध राज्यों की समृद्धि तथा गौरवपूर्ण स्थिति बनी रही। यह वह काल था जब यूरोप के अनेक देश असभ्यावस्था में पड़े थे और वहां (प्राचीन रोमन साम्राज्य को छोड़) सुसंगठित एवं विकसित सामाजिक एवं राजकीय संगठन प्रायः नहीं था।

३. मलका मुसलमानी साम्राज्य (१४००-१५११ ई०)

अरब लोगों का व्यापारिक सम्पर्क मलाया प्रायद्वीप और हिंदेशिया द्वीपों से बहुत प्राचीन काल से ही था, जब इस्लाम धर्म का जन्म भी नहीं हुआ था। बहुत से सेमेटिक अरब लोग इन देशों में आकर बस भी गये थे। फिर १४वीं शताब्दी में अनेक मुसलमान धर्म-प्रचारक मलाया और हिंदेशिया में आये, वहां उन्होंने अपने धर्म का प्रचार करना आरंभ किया और इस कार्य में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली। १४वीं शताब्दी में मलाया और हिंदेशिया की स्थिति डांवाडोल थी। श्रीविजय और मदजापहीत राज्यों में परस्पर युद्ध चल रहे थे, उनकी शक्ति क्षीण हो रही थी; दोनों साम्राज्य खत्म हो चुके थे और उनकी जगह अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति स्थिर नहीं थी। ऐसी परिस्थितियों में अनेक लोग उन राज्यों से निकल कर मलाया प्रायद्वीप में आये और वहां पर मलक्का नाम की एक नगरी स्थापित की। सन् १४०० ई० में मलक्का एक विशाल नगर बन चुका था। इस नगरी के शासक बौद्ध-धर्मी थे और वहां की प्रजा भी बौद्ध-

धर्मी, किंतु १४वी शताब्दी में अनेक लोग मुसलमान हो चुके थे। धीरे धीरे यहां के शासक भी मुसलमान हो गये और इस प्रकार १५वीं शताब्दी के प्रारंभ में दक्षिण पूर्व में एक अरबी मुसलमानी राज्य का विकास हुआ।

किन्तु स्याम के बौद्ध शासक एवं मदजापहीत के हिन्दू शासक इस नव विकसित मलक्का राज्य को चैन से नहीं बैठने देते थे। इसी काल में चीन के मिंग वंशीय सम्राट का ध्यान इधर गया, वह नहीं चाहता था कि स्याम या मदजापहीत राज्य उत्थान करलें और अपनी शक्ति बढ़ालें—अतएव उसने अपनी नौसेना के सेनापति चेंगहो को हिन्देशिया की ओर भेजा—वहां के शक्तिशाली राजाओं की शक्ति मिटा देने को, और चीन की विशाल शक्ति का उन्हें भान कराने को। इस परिस्थिति का मलक्का राज्य ने लाभ उठाया और चेंगहो की नौसेना की संरक्षता में वह धीरे धीरे अपना विस्तार करता गया, और अपनी शक्ति को बढ़ाता गया, यहां तक कि जावा द्वीप को इसने अपने आधीन कर लिया और फिर सन् १४७८ ई० में मदजापहीत को भी परास्त किया। इस प्रकार मलक्का मुसलमान साम्राज्य की स्थापना हुई। इस साम्राज्य के शासक एवं राजकर्मचारी मुसलमान रहे, अतः बड़े नगरों के भी अनेक लोग मुसलमान होगये, किन्तु जन साधारण में तो उनके प्राचीन धार्मिक विश्वास एवं उनकी सामाजिक मान्यतायें वैसी की वैसी चलती रहीं।

पूर्वकालीन श्रीविजय और मदजापहीत साम्राज्यों की तरह स्यात् मलक्का साम्राज्य भी विकास कर जाता, सुसंगठित होजाता और सैकड़ों वर्षों तक कायम रहता, किन्तु इस काल तक (१५वीं शती) संसार के इतिहास में एक नई शक्ति-धारा का प्रवाह प्रारम्भ हो चुका था। यह नई शक्ति थी तब तक अन्धकार में पड़े हुए यूरोपीय लोगों की। इन लोगों की सहासी सामुद्रिक यात्रायें प्रारम्भ हुई; नये नये द्वीपों, नये नये सामुद्रिक मार्गों और महादेशों की खोज हुई और इन नवज्ञात द्वीपों और देशों पर अपनी सुसंगठित नौ-शक्ति एवं बारुदी अस्त्रशस्त्रों के बल पर

व्यापारिक एवं राजनैतिक प्रभुत्व की स्थापना की। ऐसा ही प्रवाह मलाया, हिन्देशिया एवं समस्त पूर्वीय देशों की ओर तीव्र गति से आया—सन् १५११ ई० में पुर्तगाली लोगों ने मलक्का पर अपना कब्जा किया; इस प्रकार मलक्का साम्राज्य का अन्त हुआ। धीरे धीरे समस्त द्वीप एक के बाद दूसरे किसी न किसी यूरोपीयन शक्ति के आधीन होते गये, और इन पूर्वीय देशों और द्वीपों में यूरोपीयन साम्राज्यवाद का इतिहास प्रारम्भ हुआ। जब ये यूरोपीयन लोग इन देशों में आये, उस समय सामान्यतया इन देशों में अनेक लोगों की सभ्यता का स्तर सौर-पाषाणी था, यद्यपि हिन्दू और बौद्ध साम्राज्य काल में सुव्यवस्थित राज्य स्थापित थे, स्थापत्य-कला का विकास हुआ था—किन्तु विशाल दृष्टिकोण और आधुनिक नव-प्रकाश की किरणें अभी उनको छू नहीं पाई थीं—इतिहास की नव-प्रवाहमान धारा को समझने की उनमें क्षमता नहीं थी।

४. यूरोपीय साम्राज्य काल (१५११–१९४५ ई०)

एवं

५. आधुनिक राष्ट्रीयता का युग (१९४६–१९५० ई०)

हिन्दचीन—प्रायः १४वीं शताब्दी तक इस देश में हिन्दू कम्बोडिया साम्राज्य रहा, इस साम्राज्य के छिन्न भिन्न होजाने के बाद यह देश चीन सम्राट के आधीन हुआ, तदनंतर १९वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में यूरोपीय देश फ्रांस का यहां आधिपत्य स्थापित हुआ। तब से द्वितीय महा-युद्ध तक हिंदचीन फ्रांसीसी साम्राज्य का पूर्व में एक प्रमुख अंग बनारहा। द्वितीय महायुद्ध के बाद देश में स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये एक क्रांति की लहर वहां के लोगों में व्याप्त हुई, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के वश फ्रांस की संरक्षता में हिंदचीन के पुराने राज्यवंश के राजा बाओदाई के शासनत्व मे सन् १९४९ में स्वराज्य की स्थापना हुई। इस राज्य की राजनीति पर अमरीकी कूटनीति का पूरा प्रभाव है। किन्तु देश का एक

अन्य नेता होचिनमीन जो राष्ट्रीय साम्यवादी है और जिसे जनसाधारण का सहयोग प्राप्त है देश के लिये पूर्ण स्वतंत्रता हासिल करने के प्रयास में लगा हुआ है, और फलस्वरूप देश में एक प्रकार का गृह-युद्ध सा छिड़ा हुआ है —एक ओर है फ्रांस की संरक्षता में बाओदाई की राष्ट्रीय सरकार, दूसरी ओर रूस की शह प्राप्त होचिनमीन की गुरिल्ला फौजें। होचिनमीन के अधिकार में देश का प्रमुख भाग है।

मलाया—मुसलमान सुल्तान को परास्त कर सन् १५११ में पुर्तगाली लोगों ने क़ब्जा किया। सन् १६४१ में मलाया डच लोगों के हाथों में गया, फिर लगभग १५० वर्षों बाद सन् १७९५ ई० में यह ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बना। तब से आज तक (१९५०) यह ब्रिटेन के ही आधीन है। वास्तव में समस्त मलाया प्रायद्वीप के तीन राजनैतिक खंड हैं—(१) सींगापुर और उसके आसपास के टापू जिन पर सीधा अंग्रेजों का अधिकार है। (२) मलाया राज्यों का संघ। इस संघ में छोटे छोटे राज्य हैं, जिनके शासनकर्त्ता प्राचीन मलक्का-राज्य के शासकों के वंशज सुल्तान हैं, किंतु ये सब सुल्तान हैं वास्तव में अंग्रेज हाईकमिश्नर के आधीन। (३) ऐसे मलाया राज्य जो संघ में शामिल नहीं हैं, इन राज्यों से सुल्तान अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र हैं।

फिलीपाइन द्वीप—यूरोपीयन देशों को इन द्वीपों का पता सबसे पहिले सन् १५२१ ई० में पुर्तगालवासी प्रसिद्ध नाविक फरदीनैंद मेजेलिन की खोज से लगा। मेजेलिन स्पेनिश जहाजी बेड़े को लेकर सामुद्रिक रास्ते से दुनिया का चक्कर लगा रहा था, तभी उसे इन द्वीपों का पता लगा था। १४वीं शती तक तो यहां श्रीविजय हिंदू साम्राज्य था। श्रीविजय साम्राज्य के विशृंखल होने के पश्चात यहां की स्थिति डांवाडोल रही, ऐसी स्थिति में सन् १५६५ ई० में यहां स्पेन का साम्राज्य स्थापित हुआ। स्पेन से अनेक ईसाई धर्म प्रचारक भी फिलीपाइन में आये–प्रायः सारी प्रजा ने धीरे धीरे ईसाई धर्म ग्रहण करलिया। फिलीपन लोग मुख्यतः मलायन उपजाति के लोग हैं (स्यात् सौर

पापाणी युग के गोरे काले मिश्रित वर्ण के लोग) । हिंदू और मुसलमान तत्व का सम्मिश्रण उनमें प्रायः नहीं होपाया था, जैसा सुमात्रा, जावा, मलाया आदि में होगया था। हजारों स्पेनिश लोग यहां आकर बस गये थे,—वे अब फिलीपाइन के ही वासी होगये थे और वहीं के जीवन में घुल मिल गये थे। प्रायः ३०० वर्षों तक स्पेन का आर्थिक शोषण यहां चलता रहा, बड़े बड़े स्पेनिश ज़मींदार यहां बने, राजकीय शक्ति इन्हीं स्पेनिश-जमींदारों एवं ईसाई गिरजाओं के हाथों में केन्द्रित थी, स्पेन के सम्राट का स्पेन की राजधानी मेडरिड से तो नाममात्र का अंकुश था। फिलीपाइन निवासियों ने स्पेनिश राज्य के विरुद्ध विद्रोह भी किया, विद्रोहियों का नेता था अग्विनाल्डो। इसी समय, उधर यूरोप में अमेरिका और स्पेन का युद्ध छिड़ गया, अतएव फिलीपाइन द्वीप पर भी अमेरिका का हमला हुआ। स्पेन की पराजय हुई, फिलीपाइन द्वीप में स्पेनिश साम्राज्य का अंत हुआ, और १९०१ में अमेरिकन साम्राज्य की स्थापना। फिलीपाइन नेता अग्विनाल्डो का विद्रोह अमेरिका के विरुद्ध भी होता रहा, किन्तु वह पकड़ा गया और विद्रोह समाप्त होगया।

अमेरिका के आधीन फिलीपाइन द्वीपों का आर्थिक विकास हुआ और साथ ही साथ जनतांत्रिक शासन प्रणाली का भी। स्वतंत्रता के लिये राष्ट्रीय आंदोलन चलते रहे, जिनका प्रमुख नेता था मैन्यूल क्वीजोन। धीरे धीरे अमेरिका इन द्वीपों को स्वायत्त शासन के अधिकार देता रहा। अंत में सन् १९३४ में अमेरिका ने एक बिल पास किया (टाईडिंग्स मैक्डफ बिल), जिसके अनुसार फिलीपाइन को स्वराज्य मिला और यह आश्वासन कि १९४६ में पूर्ण स्वतंत्रता देदी जायेगी। किंतु १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ होगया, फिलीपाइन पर जापान का अधिकार होगया। फिर १९४५ में जापान की युद्ध में पराजय हुई, और पूर्ववत फिलीपाइन पर अमेरिका का अधिकार। किंतु उपरोक्त १९३४ में दिये गये आश्वासन के अनुसार सन् १९४६ में फिलीपाइन पूर्ण स्वतंत्र घोषित कर दिया गया, और सब अमेरिकन अधिकारी वहां

से हटा लिये गय। अब वह एक स्वतंत्र जनतंत्रात्मक राज्य है, और अमेरिका के समान अध्यक्षात्मक जनतंत्रीय वहाँ की शासन प्रणाली। आज सन् १९५० में क्विरोनो (Quirono) वहाँ का राष्ट्रपति है और जनरल रोम्यूलो जो संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली का प्रेसीडेन्ट रह चुका है, वहाँ का विदेश मंत्री।

हिंदेशिया—(सुमात्रा, जावा, सीलीबीज, बोर्नियो द्वीप इत्यादि) ईसा के पहिली या दूसरी शताब्दी से प्रारम्भ होकर १४वीं शताब्दी तक इन द्वीपों में दो महान् साम्राज्य रहे—श्रीविजय बौद्ध साम्राज्य एवं मदजापहीत हिन्दू साम्राज्य। फिर १५वीं शती में इन द्वीपों में मलक्का के मुसलमानी सुल्तानों का राज्य कायम हुआ। थोड़े से वर्ष ही यह साम्राज्य चल पाया। सन् १५११ में पुर्तगाली लोगों ने मलक्का साम्राज्य का अंत किया और तब से समस्त पूर्वीय द्वीप समूहों का व्यापार और उनकी राजनैतिक सत्ता पुर्तगाल के हाथों में रही। किन्तु यूरोप में पुर्तगाल, स्पेन, और होलैंड के डच लोगों में अनेक झगड़े और युद्ध हुए,—स्पेन और पुर्तगाल की हार हुई, फलस्वरूप हिन्देशिया से पुर्तगाली लोगों को हटना पड़ा और १७वीं शती के मध्य तक, केवल उत्तरीय बोर्नियो को छोड़कर समस्त हिंदेशिया द्वीपों पर डच लोगों का साम्राज्य स्थापित हो गया। तब से द्वितीय महायुद्ध के काल तक डच लोगों का साम्राज्य वहां रहा; द्वितीय महायुद्ध में सन् १९४१–४२ के आस पास समस्त दक्षिण पूर्वीय एशिया जापानी साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया; किन्तु १९४६ में जापान के परास्त हो जाने के बाद फिर डच लोगों का आधिपत्य समस्त द्वीपों पर जैसे पहिले था वैसा स्थापित हो गया।

किन्तु एशिया में क्रान्ति की चिंगारियां लग चुकी थीं। राष्ट्रीयता की तीव्र लहर एशिया के समस्त देशों में उद्वेलित हो उठी थी—इस राष्ट्रीयता की क्रांतिमयी शक्ति के सामने यूरोपीय साम्राज्य वादियों का डटना असंभव सा हो गया। हिंदेशिया के जन साधारण डच राज्य की

सुसंगठित सेना के सामने गोरिल्ला ढंग की लड़ाई लड़ने लगे, जहां कहीं मौका पाते चुटपुट डच लोगों पर हमला कर देते और फिर पहाड़ों में एवं घने जंगलों में छिप जाते। इस तरह की लड़ाई से डच सेनायें तङ्ग थीं—उधर हिंदेशिया के शिक्षित नेता लोगों को स्वतन्त्रता की लड़ाई के लिए प्रेरित करते रहते थे और राष्ट्र संघ में अपने देश की स्वतन्त्रता की मांग को न्यायोचित सिद्ध करते रहते थे—संसार के देशों पर इसका प्रभाव पड़ा; भारत के नेता पं० जवाहरलाल नेहरू ने दुनिया के सामने एशिया की स्वतन्त्रता का जयघोष किया। अतएव कई गोलमेज परिषदों के बाद अन्त में डच सरकार और हिंदेशिया के राष्ट्रीय नेताओं की होलैण्ड की राजधानी हेग में एक परिषद एकत्रित हुई, और यह तय हुआ कि सम्पूर्ण अधिकार हिंदेशिया के प्रतिनिधियों को सौंप दिये जायें। इस प्रकार २७ दिसम्बर '१९४९ के दिन स्वतन्त्र सार्वभौम शक्ति सम्पन्न संयुक्त हिंदेशिया जनराज्य का जन्म हुआ।

आज हिन्देशिया के सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, सीलीबीज एवं अन्य छोटे मोटे २००० द्वीपों में एक स्वतन्त्र संघ राज्य है। इस गणराज्य के राष्ट्रपति हैं शिवकरनों और प्रधान मंत्री हैं डा० मुहम्मद हट्टा (१९५० ई०)। लगभग ८ करोड़ मानवों की बस्ती वाले ये महान द्वीप आज स्वतन्त्र हैं; गरम मसाले, रबड़, टिन, कुनीन, पैट्रोल, चावल, चाय, चीनी, तम्बाकू की घनी उपज के रूप में धन धान्य से पूर्ण,—विकास की अपने में अपूर्व क्षमता लिए हुए।

स्याम (थाइलैंड)—आधुनिक स्याम का जन प्रायः मंगोलियन जाति की परम्परा में है जिसमें भारतीय हिन्दू (आर्य) जाति का भी कुछ सम्मिश्रण हो चुका था। उसकी संस्कृति भी चीनी और भारतीय संस्कृति के मेल से अपनी ही एक विशेष संस्कृति बनी है। स्याम की भाषा 'थाई' है जिसमें अधिकतर शब्द भारतीय संस्कृत भाषा के हैं। इसकी लिपि चित्र-लिपि है। बौद्ध यहां का राष्ट्रधर्म है, किंतु लोगों में प्रचलित कथा कहानियां हिन्दू ग्रंथ रामायण और महाभारत की हैं, एवं मंदिरों के अन्दर मूर्त्तियां

चाहे तथागत (बुद्ध) की हों, किंतु उनकी दीवारों पर अंकित है रामायण और महाभारत की घटनाएं। वहां के विश्वविद्यालय में संस्कृत, पाली भाषाओं का एवं बौद्ध और हिन्दू दर्शन का अध्ययन होता है। वहाँ के स्त्री-पुरुष सामाजिक दृष्टि से बिल्कुल समान हैं; स्त्रियां हाट, बाजार, दफ्तर, शिक्षा, कृषि, गृह एवं कुटीर उद्योग इत्यादि सब प्रकार के कामों में पुरुष के साथ साथ समान भाव से संलग्न हैं; शिक्षालयों में सहशिक्षा है, एव लड़के लड़की का विवाह दोनों की स्वेच्छा से होता है, परित्याग भी स्वेच्छा से एवं सम्पत्ति पर स्त्री पुरुष का समान अधिकार। चावल, फल, मांस, मदिरा वहां के मुख्य भोजन और पेय है; सामूहिक संगीत एवं लोक-नृत्य होते रहते हैं; जीवन इस प्रकार प्रफुल्ल और प्रायः चिंता-रहित है। देश प्रारंभ से ही आज तक स्थानीय राजाओं की राज्य-परम्परा में स्वतंत्र रहा है। पड़ौसी देश हिंदचीन में भी ऐसा ही सामाजिक जीवन है, किन्तु १९वीं सदी से फ्रांसीसी गुलामी की वजह से वहां के लोग अत्यंत गरीब और उदास रहे हैं। सन् १९४६ से वहाँ का जन मुक्त होने की उत्कंठा से उत्थित हुआ है।

इस प्रकार हमने देखा :—दक्षिण पूर्वीय एशिया का प्रारंभिक सौर-पाषाणी सभ्यता का मानव समय समय पर कई जातियों के मेल से बनता हुआ, पहिली शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक हिन्दू और बौद्ध साम्राज्यों में से; फिर १५वीं शताब्दी में मुसलमानी साम्राज्य में से, और फिर १६वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी के मध्यकाल तक यूरोपीय साम्राज्य में से गुजरता हुआ, आज सन् १९५० में स्वतन्त्र होकर खड़ा हुआ है, और इस स्थिति में है कि समस्त मानव जाति के विकास में स्वतन्त्र अपना कुछ सहयोग दे सके।

(५१)

आधुनिक भारत

मुगल राज्य काल (१५२६–१७०७ ई०) लगभग २०० वर्ष

[बाबर से औरंगजेब तक। उसके पश्चात मुगल साम्राज्य की परम्परा चाहे १८५७ ई० तक चलती रही, किन्तु नाम मात्र]

भारत में १२०६ ई० से जो परम्परा इस्लामी राज्य की चली उसका अंतिम केन्द्रीय शासक इब्राहिम लोदी था। सन् १५२६ ई० में एक मुगल सरदार (ये मुगल कौन थे–इसका विवरण यथा स्थान हो चुका है–देखिये अध्याय ३८) जिसका नाम बाबर था भारत पर चढ़ आया; पानीपत की लड़ाई में उसने इब्राहिम लोदी को परास्त किया और इस प्रकार १५२६ ई० में भारत में मुगल साम्राज्य की नींव पड़ी। आज से लगभग ४०० वर्ष पूर्व मुगल राज्य की स्थापना काल से ही भारतीय इतिहास का वर्तमान युग माना जाता है। लगभग १६वीं शती के आरंभ से ही यूरोप और चीन में भी वर्तमान युग की शुरुआत मानी जाती है।

भारत में मुगल साम्राज्य के प्रथम २०० वर्षों का काल यथा स्थापना काल से सन् १७०७ तक–बाबर, हुमायुं, अकबर, जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब का राज्य-काल–शक्तिशाली साम्राज्य के उत्थान और देश में वैभव और समृद्धि का युग माना जाता है। इन सम्राटों में भी केवल सम्राट अकबर का ऐसा व्यक्तित्व है, जिसकी गणना विश्व इतिहास के महान् सम्राटों में हो सकती है। अकबर जब शासनारूढ़ हुआ तो उस समय मुगल राज्य केवल दिल्ली और आगरा और समीपस्थ प्रदेशों तक सीमित था। पच्छिम में–राजपूताने में राजपूत राजाओं के

राज्य थे जिनमें प्रमुख थे मेवाड़, मारवाड़, बीकानेर, और जयपुर,—पूर्वीय प्रान्तों में पठान काल के स्वतन्त्र पठान शासक थे और दक्षिण में कई स्वतन्त्र हिन्दू और मुसलमान राज्य। किन्तु अकबर ने अपनी मानसिक, बौद्धिक योग्यता और युद्ध कौशल से सुदूर दक्षिण के कुछ प्रांतों को छोड़कर समस्त भारत को विजय कर एक राज्य सूत्र में बांध दिया। समस्त मुसलमानी काल में यह एक सम्राट था जो यह समझ सका था कि भारत हिन्दुओं का देश है अतएव हिन्दुओं से मिलकर, उनके साथ एकात्म होकर ही यहां पर कोई राज्य चल सकता है। अतएव उसने राजपूत राजाओं से कौटुम्बिक संबन्ध स्थापित किये—जयपुर नरेश की कन्या से विवाह किया,—विशिष्ट राजपूतों को प्रान्तों का शासक नियुक्त किया, राजा मानसिंह को अपना सेनापति बनाया—उसी ने काबुल कंधार, बंगाल, दक्षिण के प्रांतों को परास्त कर मुगल साम्राज्य का अंग बनाया। अकबर एवं अन्य मुगल सम्राटों द्वारा हिंदू राजपूत राजाओं पर विजय के इस इतिहास में मेवाड़ के राणा प्रतापसिंह का अपनी स्वतन्त्रता के लिये मृत्यु पर्यन्त युद्ध करते रहना—मुगलों की आधीनता स्वीकार नहीं करना—हिंदू जाति के इतिहास की एक रोमाञ्चकारी गौरवमय गाथा है। स्वयं अकबर को—वह अकबर जिसके साम्राज्य के बराबर १६वीं शती उत्तरार्ध में संसार में और कोई राज्य नहीं था—प्रताप की वीरता का लोहा मानना पड़ा, और उसके एक सेनापति अबुर्रहीम खानखाना ने तो प्रताप को यह लिखकर भेजा—"पतो (प्रताप) ने धन और देश त्याग दिया, किन्तु अपना सिर नहीं झुकाया। भारतवर्ष के समस्त राजाओं में केवल उसने अपनी जाति का मान स्थिर रखा है।"

भारतीय इतिहास के समस्त इस्लामी काल में केवल अकबर को हम एक राष्ट्रीय राजा कह सकते हैं। वह विचारशील व्यक्ति था, धर्म के मूलतत्वों को पाने की उसकी उत्कट इच्छा थी—अतएव अन्ध-विश्वास पर आधारित धार्मिक कट्टरता का वह विरोधी था। उसके राज्य काल

में पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी। आगरा शहर के पास फतहपुर सीकरी में उसने एक इबादतखाना (प्रार्थना गृह) बनवाया जहां उस काल के सभी प्रमुख धर्मों के यथा हिन्दू, जैन, पारसी, मुसलमान एवं ईसाई शास्त्रज्ञ एकत्रित होते थे और अपने अपने धर्म की विशेषताओं की चर्चा करते थे—ध्येय यही था कि विचार द्वारा सत्य-तत्व तक पहुंचा जाए। इस्लाम के उस धार्मिक कट्टरता के काल में एक इस्लामी बादशाह के इस धर्म समन्वयात्मक कार्य के पीछे कितने साहस और आत्मबल की आवश्यकता हुई होगी—इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। धार्मिक अनुदारता के उस जमाने में अकबर का यह समन्वयात्मक कार्य जिस पर अनेक अंशों तक राष्ट्रीय एकता एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भी आधारित होती है—सफल नहीं हो सका, किन्तु इससे यह आभास अवश्य मिलता है कि अकबर का मानस कितना विकसित था और उसमें कितनी दूरदर्शिता थी।

अकबर का राज्य (१५५६–१६०५ ई०) आधुनिक ढङ्ग से सुव्यवस्थित था—प्रजा उसमें प्रसन्न और सुखी थी। उसके राज्य काल में कला, संगीत और साहित्य की खूब उन्नति हुई। वेद, रामायण, महाभारत के फारसी में अनुवाद हुए। फारसी में अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये—जिनमें अकबर के एक राजदरबारी अद्वितीय विद्वान अबुलफजल द्वारा रचित "आइने-अकबरी" एक प्रमुख ग्रन्थ है। १६वीं शती के आरम्भ में ग्वालियर में एक संगीत विद्यालय की स्थापना हुई, उसी विद्यालय के प्रसिद्ध गायक तानसेन अकबर के दरबार के विशिष्ट सदस्य बने। चित्र कला में भारतीय शैली और ईरानी शैली के सामंजस्य से एक नई शैली का विकास हुआ। अकबर के ही राज्य-काल में आगरे के प्रसिद्ध लाल किले का निर्माण हुआ तथा फतहपुर सीकरी के सुन्दर महल बने एवं वृन्दावन में अनेक भव्य और विशाल हिन्दू मन्दिर। किन्तु इन सब बातों से परे और ऊपर एक घटना हुई—हिन्दी में अद्वितीय संत साहित्य की उद्भावना। उस साहित्य ने उस युग के जनजन के हृदय को तो वशीभूत

किया ही—किन्तु इतनी शताब्दियों बाद आज भी वह साहित्य जनजन के हृदय में आनन्दमय रस का उद्रेक करता रहता है—और युग युग तक करता रहेगा। इस साहित्य के सृष्टा थे तुलसीदास (१५३२–१६३२ ई०) और सूरदास (१४७८–१५८३)। तुलसी की 'रामायण', सूर का 'सूरसागर' विश्व साहित्य के अनमोल ग्रन्थ हैं। यही काल इङ्गलैंड के इतिहास का भी गौरवपूर्ण और समृद्ध युग था—जब वहां की शासनकर्त्री रानी एलिजाबेथ थी—और उस देश ने पैदा किया था विश्वकवि और नाट्यकार शेक्सपीयर। इसी काल में पूर्ण उल्लेखित गुरु नानक (१४६९–१५३८ ई०) की परम्परा में ५वें गुरू अर्जुनदेव ने गुरुओं की वाणियों तथा अन्य संत कवियों के वचनों का संकलन पंजाबी भाषा में एक ग्रन्थ रूप में तैयार किया जो पंजाब की वीर जाति सिक्खों का "गुरु ग्रन्थ साहब" के नाम से धर्म ग्रन्थ बना। इसी काल के कुछ बाद महाराष्ट्र में महान् भक्त कवि तुकाराम (१६०९–१६५० ई०) और भक्त महापुरुष समर्थ रामदास (१६०८–१६८१ ई०) का उद्भव हुआ।

अकबर के बाद उसका पुत्र जहांगीर (१६०५–२७) मुगल सम्राट हुआ। यूरोपीय जातियों का पदार्पण भारत में होने लगा था और उन्होंने अपनी कई व्यापारिक कोठियां समुद्र तटीय प्रदेशों में बनाली थीं, इसका उल्लेख पहले हो ही चुका है। जहांगीर राज्यकाल में इङ्गलैंड के तत्कालीन राजा जेम्स प्रथम का दूत जिसका नाम सर टामस रो था भारत आया—और वह मुगल सम्राट जहांगीर से सन् १६१५ में अजमेर में मिला। सर टामस रो ने सम्राट से अपनी जाति (अंग्रेजों) के लिये भारत में व्यापार करने का परवाना लिया, और साथ ही अपनी बस्तियों में अपने कानून के अनुसार स्वयं शासन करने का अधिकार भी प्राप्त किया। फलतः अंग्रेजों ने सूरत में अपनी व्यापारिक कोठी खोली और धीरे धीरे उन्होंने अपने व्यापार और सत्ता का विस्तार प्रारम्भ किया।

जहांगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहां (१६२७–५८) शासनारूढ़ हुआ। यह स्थापत्य, चित्रकला, और संगीत की समृद्धि का युग था।

शाहजहां ने अपनी साध्वी रानी मुमताजमहल की स्मृति में यमुना नदी के किनारे आगरे में भव्य इमारत "ताजमहल" का निर्माण किया। संगमरमर में अंकित मानो यह मानव हृदय की कविता है—मानव प्रेम का प्रतीक। संसार के भवनों में यह एक अद्भुत कृति मानी जाती है। शाहजहां के राज्यकाल में मुगल साम्राज्य का वैभव अपनी चरम सीमा तक निखर उठा था। उस वैभव को देखकर—विदेशी चकित होते थे—यूरोपीय देशों में तबतक इतनी समृद्धि और इतने वैभव का नितान्त अभाव था—यद्यपि वे अब जागृत हो चुके थे और ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में तीव्र गति से आगे बढ़ने लगे थे।

शाहजहां के बाद उसका पुत्र औरंगजेब (१६५८–१७०७) अपने भाइयों को कत्ल करके, सम्राट बना। राज्य-प्रबन्ध और विस्तार में, एवं देश की दो जातियों हिन्दू और मुसलमानों में एकदेशीयता की भावना उत्पन्न करने में जिस उदार नीति का बर्तना अकबर और उसके बाद दो और सम्राटों ने किया था,—औरंगजेब ने वह सब बदल दिया। इस्लामियत के कट्टरपन में उसने हिन्दुओं पर कुफ्र ढाहा और उनके धर्म पर आघात करना शुरू किया, एतदर्थ यद्यपि वह पराक्रमी, संयमी और कर्तव्यपरायण शासक था—और यद्यपि उसने मुगल साम्राज्य की सीमायें ठेठ दक्षिण तक बढ़ा दीं, तदपि उसने इस विशाल और समृद्ध साम्राज्य के विनाश के बीज अपनी नीति से बो दिये—अनेक अपने विरोधी पैदा कर लिये—जिनमें दक्षिण के मुसलमान राज्य भी थे;—यहां तक कि यह साम्राज्य उसके आंखों के सामने ही बोदा और दिवालिया हो गया। साथ ही साथ इस काल में महाराष्ट्र में हिन्दुत्व की भावना से प्रेरित एक अपूर्व शक्ति का जन्म हुआ—वह मराठा शक्ति थी, और उसका प्रवर्त्तक था महाराज शिवाजी। इस शक्ति ने तो मुगल साम्राज्य को चूर्ण कर दिया। सन् १७०७ में मराठों से लड़ते लड़ते उनको परास्त करने की अपनी प्रबल इच्छा को पूरा किये बिना ही, जब औरंगजेब इस संसार से चल बसा—तभी से मानो मुगल साम्राज्य का पतन हो

गया। देश अनेक स्वतन्त्र प्रान्तों में विभक्त हो गया। नाम मात्र को सम्राटों की परम्परा और वंशावली तो १५० वर्षों तक यथा १८५७ तक चलती रही–किन्तु केवल नाम मात्र;—देश में कई स्वतन्त्र राज्य होते हुए भी वास्तविक शक्ति और सत्ता सन् १८१८ तक तो मराठों में निहित रही और फिर अंग्रेज जिन्होंने १८वीं शती के आरम्भ से ही इस देश में धीरे धीरे जमना प्रारम्भ कर दिया था इस विशाल देश के अधिपति बने।

मराठा राज्य काल (१७०७–१८१८)

हिन्दू मराठा शक्ति के जन्म दाता महाराष्ट्र प्रदेश में उत्पन्न छत्रपति शिवाजी (१६२७–८०) थे, जिसमें हिन्दुत्व के गहन संस्कार उनके बाल्यकाल में ही उनकी माता ने महाभारत, रामायण, राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन की कथायें सुना सुना कर प्रतिष्ठित कर दिये थे। धीरे धीरे महाराष्ट्र में शिवाजी ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। औरंगजेब उस समय भारत का सम्राट था–दक्षिण में औरंगजेब और शिवाजी की ठन गई—किन्तु औरंगजेब अपनी असंख्य सेना और विशाल सम्राट के बल पर भी इस अदम्य सिपाही के पौरुष को दबा नहीं सका, और गोरिल्ला रण नीति से महाराष्ट्र में छोटा सा स्वतन्त्र और सुव्यवस्थित राज्य जो इसने स्थापित किया था–उसको मुगल सम्राट अपने साम्राज्य में विलीन नहीं कर सका। १६८० ई० में शिवाजी के देहावासन के बाद शिवाजी के उत्तराधिकारी सुसंगठित मराठे निकटवर्ती मुगल प्रदेशों पर आक्रमण कर करके अपने राज्य का विस्तार करते रहे, औरंगजेब वर्षों तक मराठों से जम कर लड़ता रहा–लाखों मुगल सैनिकों की क्षति हुई–दिल्ली का ख़जाना ख़त्म हुआ–किन्तु मराठे परास्त नहीं हुए–। मराठों को जीतने की अपनी अपूर्ण इच्छा को लेकर ही औरंगजेब की १७०७ ई० में मृत्यु हो गई–उसकी मृत्यु के बाद कोई योग्य मुगल सम्राट नहीं हुआ—अतः मराठों की शक्ति में अभिवृद्धि होती रही–यहां तक कि लगभग सन् १७८०–९० तक भारत-

वर्ष का मध्य भाग उत्तर में चंबल नदी से दक्षिण में कृष्णा नदी तक मराठों के आधीन हो गया—५ बड़े बड़े मराठा राज्य स्थापित हुए जो एक महाराष्ट्र संघ में सम्मिलित थे। (१) सितारा में शिवाजी के उत्तराधिकारियों का राज्य—उनके ब्राह्मण मंत्री पेशवाओं की संरक्षता में (२) गुजरात में गायकवाड़ का राज्य जिसकी राजधानी बड़ौदा थी (३) मालवा और इन्दौर में होल्कर (४) ग्वालियर में सिंधिया वंश (५) मध्य भारत तथा नागपुर में 'भोंसला वंश'।

मराठे अपने राज्यों के आसपास अन्य स्वतन्त्र राज्यों में भी चारों ओर चक्कर लगाते थे—तथा जबरदस्ती उनसे कर (चौथ) एकत्रित करते थे। वास्तव में इस समय समस्त भारत में मराठों की तूती बोल रही थी। मराठों के हृदय में मुगलों को निकालकर दिल्ली में अपना राज्य स्थापित करने की बड़ी प्रबल इच्छा थी। मुगलों की शक्ति तो प्राय: क्षीण भी कर दी गई थी—किन्तु उस समय भारतीय इतिहास से परे की एक घटना हो गई। उस समय ईरान का शासक अहमदशाह अब्दाली था—उत्तरी भारत पर लूटमार के लिये इसके आक्रमण हुआ करते थे। अब्दाली द्वारा विजित पंजाब प्रान्त में उसी का पुत्र शासक नियुक्त था—मराठों ने इसको मार डाला—फलस्वरूप अहमदशाह अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एकत्रित कर (लगभग ६० हजार सैनिक) मराठों से प्रतिकार के लिये भारत पर चढ़ आया—मराठे भी तैयार थे। पानीपत के मैदान में भयङ्कर युद्ध हुआ—और यद्यपि अब्दाली की बहुत क्षति हुई किन्तु अन्त में वह जीत गया। वह चाहता तो भारत में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर सकता था किन्तु वह केवल प्रतिकार के लिये आया था उसकी सेना में भी विद्रोह होने लगा था, अत: विजय के बाद केवल लूटमार करके वह लौट गया। मुगलों की शक्ति का तो सर्वथा ह्रास हो ही चुका था—किन्तु इस युद्ध के बाद मराठों की शक्ति भी क्षीण हो गई। फलस्वरूप यूरोप की व्यापारिक जातियों को जिन्होंने भारत में अपना पैर तो पहले से ही जमाना शुरू कर दिया था, स्थान स्थान पर

अपना प्रभाव जमाने का मौका मिला—बंगाल में अंग्रेजों ने धाक जमा ली और दक्षिण में फ्रांसीसियों ने। उत्तर भारत (पंजाब) में स्वतन्त्र सिक्खों ने अपने अपने छोटे छोटे राज्य स्थापित करना शुरू कर दिया और इधर राजपूत, जाट इत्यादि भी स्वतन्त्र छोटे छोटे राज्य स्थापित करने में सफल हुए।

किंतु मराठे फिर उत्थित हुए। १० वर्ष में ही उन्होंने अपनी शक्ति का संचय किया और अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। फिर एक बार वे दिल्ली आ पहुंचे और उनकी शक्ति का सम्मान भारत करने लगा। भारत में सम्पूर्ण प्रभुत्व के लिये इस समय तक यूरोपीय अंग्रेज जाति की शक्ति खूब बढ़ चुकी थी—बंगाल, बिहार में, तथा मद्रास में वहाँ की प्रादेशिक शक्तियों को एक दूसरे से भिड़ाकर उसने धीरे धीरे अपना राज्य कायम कर लिया था, सम्पूर्ण भारत में अपना एकाधिपत्य साम्राज्य विस्तार कर लेने की उसकी महत्वाकांक्षा थी। भारत में इस समय मुख्यतया दो शक्तियां थीं—मराठे और अंग्रेज। दोनों शक्तियों की टक्कर हुई। निरंतर ३० वर्ष पर्यन्त संग्राम चला, अंग्रेजों ने यहां भी भेदनीति अपनाई। जैसा ऊपर कहा जाचुका है ५ भिन्न भिन्न मराठा राज्य थे जो एक संघ में संगठित थे—किन्तु इस संघ का बंधन दृढ़ नहीं था। १८१७–१८ ई० में अंतिम युद्ध हुआ—अंत में मराठों की हार हुई—अंग्रेजों ने मराठा शक्ति का अन्त करदिया—अतः भारत के समस्त मध्य भाग पर अंग्रेजों की सत्ता की तूती बोलने लगी। भारत में एक बार जो आशा उदय हुई थी कि हिंदू मराठा समस्त विदेशी शक्तियों की महत्ता हटा भारत में एक केन्द्रीय साम्राज्य स्थापित करेंगे—उसका हमेशा के लिये अन्त होगया—सन् १८१८ में मराठों की हार के बाद केवल अंग्रेज ही भारत में एक शक्ति बची और उसने समस्त भारत पर अपना अधिकार कर लिया।

१८वीं शती का भारतीय समाज

इसे हम हिन्दू पुनरुत्थान काल मान सकते हैं। १५वीं १६वीं सदियों में रामानन्द, कबीर, नानक, सूफी सन्त और फिर चैतन्य, मीरा,

तुलसी, सूर, समर्थ रामदास, तुकाराम की वाणियों में जो धार्मिक उत्थान की भावना निहित थी–उसी के आधार पर हिन्दू पुनरुत्थान युग आया था–और १८वीं शती में महाराष्ट्र, बृज, पंजाब और नेपाल में एक राजनैतिक सचेष्टता, हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने की, प्रकट हुई थी—और फलस्वरूप दिल्ली साम्राज्य पर मराठों द्वारा हिन्दू साम्राज्य स्थापित होने को भी था–किंतु अंग्रेज बीच में पड़ चुके थे।

साहित्य और कला:—१८वीं शती में दिल्ली, मेरठ (उत्तर पांचाल) में खड़ी बोली (आधुनिक हिन्दी और उर्दू की आधार बोली) का विकास हो चुका था, और दिल्ली साम्राज्य के सहारे वह प्रायः समस्त भारत में समझी जाने लगी थी। अभी यह केवल बोली के ही रूप में थी–इसमें किसी साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था—हां फारसी लिपि में लिखित खड़ी बोली में जिसको उर्दू का नाम मिला था, कवितायें लिखी जाने लगीं थीं। अन्य देशीय (प्रान्तीय) भाषाओं में मराठी को छोड़ किसी में भी गद्य साहित्य की रचना प्रारम्भ नहीं हुई थी। जहां जहां मराठों का राज्य पहुंचा था; वहां वहां हिन्दू मन्दिरों का पुनरुत्थान हुआ—एवं अनेक नये मन्दिरों का निर्माण भी। इस काल का काशी का विश्वनाथ मदिर, उज्जेन का महाकाल मंदिर, अमृतसर का सिक्खों का गुरुद्वारा एवं जयपुर की वेधशालायें उल्लेखनीय हैं।

जनता का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन:—कृषक, कारीगर और व्यापारी जनता प्रायः खुशहाल और सुखी थी, यद्यपि राजविप्लव होते रहते थे। मराठा पेशवा की राजधानी पूना बड़ी धनी और फलती फूलती नगरी थी। गांवों में पंचायतें कायम थीं। महाराष्ट्र और बुन्देलखण्ड में स्त्रियां वीर थीं। प्रत्येक मराठा और बुन्देली युवती को घुड़सवारी का अच्छा अभ्यास रहता था। किन्तु अन्य प्रान्तों में स्त्रियों की दशा गिरी हुई थी। धार्मिक एवं सामाजिक संकीर्णता की वजह से हिन्दू और मुसलमानों के जीवन में अभी तक एक अस्वाभाविक अन्तर बना हुआ था–जो अब तक भी है।

भारतीय जीवन में एक बार पुनरुत्थान की लहर उठी थी किन्तु वह सफल नहीं हो पाई। इसके कई कारण थे। भारत में राष्ट्रीय भावना एवं राष्ट्रीय संगठन का अभाव था। अंग्रेज जाति की प्रगति का आधार ही राष्ट्रीयता एवं सुदृढ़ राष्ट्रीय संगठन था। राष्ट्रीयता की भावना महाराष्ट्र में पर्याप्त जागृत थी–किन्तु उसमें उचित विस्तार नहीं हो पाया था,–वह देशव्यापी तो कभी नहीं हो पाई। राष्ट्रीयता की चेतना धुंधली थी। दूसरा कारण था भारतीयों में जागरूकता और जिज्ञासा का नितान्त अभाव–एवं सामाजिक बौद्धिक संकीर्णता का साम्राज्य। यद्यपि वे यूरोपीयन जाति के सम्पर्क में आ चुके थे, तथापि दुनिया में चारों तरफ क्या हो रहा है यह जानने की उनमें चेतना ही पैदा नहीं होती थी–दुनिया की बात तो छोड़ो उन्हें यही जानने की उत्सुकता नहीं रहती थी कि उन्हीं के देश के कोने कोने में क्या हो रहा है। विदेशियों को इस देश का अधिक ज्ञान था बजाय इस देश के रहने वाले स्वयं पंडित ज्ञानियों को,–साधारण जन की बात तो छोड़ दो। यूरोप में व्यवसायिक क्रांति हो चुकी थी–अनेक आश्चर्यजनक मशीनों का, उत्पादन के यान्त्रिक साधनों का, आधुनिक जहाज-रानी, तोप, बन्दूकों का, एवं पुस्तकों की छपाई का आविष्कार हो चुका था,–स्वयं तो इस कार्य क्षमता की ओर प्रवृत्त होने की बात तो जाने दें, उनमें दूसरों द्वारा इन आविष्कृत चीजों को अपनाने की भी उद्भावना नहीं होती थी–यह नहीं कि भारत में होशियार कारीगर न हों–एक से एक होशियार कारीगर थे–नये काम को नकल करने की भी उनकी क्षमता थी–किन्तु संगठित रूप से कुछ कर गुजरने की किसी में भी लहर पैदा नहीं हुई थी–वास्तव में लोग अजब शिथिल, जिज्ञासाहीन और दृष्टि-शून्य थे–महानिद्रा में सोए हुए।

भारत–अंग्रेज राज्य काल

(१८१८–१९४७ लगभग १२५ वर्ष)

पश्चिम से सम्पर्कः—१५वीं शती के उत्तरार्ध में यूरोप में नव-जागृति की लहर उठी। उसके पूर्व यूरोप मध्य-युग के प्रायः अंधकारमय

युग में विलीन था। उसने तब तक (प्राचीन ग्रीस और रोम को छोड़कर जिनकी सभ्यता विलीन हो चुकी थी) न उस समृद्धि न उस उत्थान, ज्ञान, विज्ञान के दर्शन किए थे जिसको भारत अपने इतिहास के गुप्त-युग (५–६ शताब्दी) में एवं चीन तांग राज्य काल में देख चुका था। किन्तु गुप्त युग के बाद भारत में धीरे धीरे जीवन और विचारधारा में स्फूर्ति और मौलिकता का ह्रास होता गया, धीरे धीरे संकीर्णता, स्थिरता और जड़ता आने लगी। वस्तुतः भारत के गुप्त युग के बाद लगभग १००० वर्षों तक समस्त संसार मानों गति हीन सा था; उसे ज्ञान विज्ञान में जो कुछ गुप्त युग तक ज्ञान हो चुका था उसके आगे उसने कुछ भी नई उद्भावना एवं प्रगति नहीं की थी। एक हजार वर्षो की सुषुप्ति के बाद ज्ञान विज्ञान में नई अन्वेषणाओं तथा प्रगति का तार केवल यूरोप के नव जागृत समाज ने १५वीं–१६वीं शताब्दी में पकड़ा शेष सब देश अपने पुराने वैभव की स्मृति में निश्चित सो गए–विश्व और प्रकृति की ओर से आंखें मूंदकर–मानों जो कुछ ज्ञान उनके पुरखा संपादन कर चुके थे, उसके आगे न तो कुछ जानने को था, न कुछ करने को। संकीर्णता, साहस-विहीनता, एवं सीमित दृष्टि उनके जीवन की विशेषताएं बन गईं। धार्मिक सुधारकों द्वारा भावात्मक उत्थान की लहर अवश्य कभी कभी आई–किंतु अपने दायरे से बाहर निकलकर क्रियात्मक भूमि पर कुछ कर गुजरने की स्फूर्ति नहीं।

अस्तु जैसा अन्यत्र उल्लिखित हो चुका है १४६२ ई० में नाविक कोलम्बस ने नई दुनिया अमेरिका का पता लगाया और १४६८ ई० में पुर्तगीज नाविक वास्कोडगामा ने अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत का नया सामुद्रिक राह ढूंढ निकाला उसने–भारत के बन्दरगाह कालीकट में अपना बेड़ा जमाया, और उस प्रदेश के शासक से पुर्तगालियों के लिए व्यापार करने की आज्ञा लेली। वर्तमान युग में यूरोपीय देशों के लोगों से भारत का यह प्रथम सम्पर्क था। वैसे तो भारत का यूरोप से व्यापार प्राचीन काल से ही होता आया था। अति प्राचीन काल में

भारतीय व्यापारी भारत के पच्छिमी किनारे से फारस की खाड़ी होते हुए मेसोपोटेमिया और एशिया माइनर तक व्यापारिक सामान ले जाते थे और फिर वहां से ग्रीस और रोम। सालवाहन और गुप्त काल में व्यापारिक सामान अरब-सागर से मिश्र देश के उत्तर में रूम सागर होता हुआ रोम, वेनिस, और जेनोआ को जाता था। उसी काल में एक तीसरा मार्ग था जो मध्य एशिया होकर काला सागर होता हुआ कुस्तुनतुनिया जाता था। किन्तु ७वीं ८वीं शती में अरबों के उत्थान के बाद–फारस की खाड़ी और अरब सागर के सामुद्रिक रास्तों पर अरबी बेड़ों ने अपना अधिकार कर लिया, अतः भारत और यूरोप का सीधा सम्पर्क नहीं रहा–अरबों के माध्यम द्वारा ही सम्भव था। १०वीं ११वीं शती में मध्य एशिया के मार्गों पर तुर्कों का अधिकार होगया–अतः उस रास्ते से भी भारत और यूरोप का सीधा सम्पर्क नहीं रहा था। इस प्रकार १५वीं १६वीं शती में चाहे भारत यूरोप से परिचित था–किन्तु अनेक वर्षों से उनका इस देश से कोई सीधा सम्पर्क नहीं। यह सीधा सम्पर्क स्थापित हुआ उपरोक्त घटना से जब १४९८ ई० में वास्कोडगामा ने भारत का नया सामुद्रिक रास्ता ढूंढ निकाला। तभी से यूरोपीय व्यापारियों का, साहसी नाविकों का, भारत में तांता सा बंध गया जिसने यहां के इतिहास की गति ही मूलतः बदल दी। सबसे पहिले वास्कोडगामा के देशवासी पुर्तगीज़ ही आए–व्यापारिक कोठियां कई बन्दरगाहों पर उन्होंने स्थापित कीं–गोआ, डामन, ड्यू पर अपना अधिकार स्थापित किया जो आज तक है–और भारत में एक साम्राज्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षा वे रखने लगे। मुंबई पर भी उन्होंने अपना अधिकार कर लिया था–किन्तु पुर्तगाल के बादशाह ने यह बन्दर अंग्रेज बादशाह चार्ल्स द्वितीय को अपनी पुत्री के दहेज़ में दे दिया था। पुर्तगालियों की देखा देखी यूरोप की अन्य जातियां—यथा हौलेंड के डच, फ्रांस की फ्रेंच और इङ्गलेंड की अंग्रेज जाति भी भारत में व्यापार के लिये आईं, केवल भारत में ही नहीं किन्तु समस्त पूर्वीय

देशों में यथा लंका, मलाया, प्रायद्वीप, पूर्वी द्वीप समूह, चीन। जापान में ये जातियां अपना व्यापार और धीरे धीरे अपना साम्राज्य जमाने के लिए अग्रसर हुईं। सब ही जब धन कमाने और राज्य सत्ता कायम करने निकले तो परस्पर विरोध होना स्वाभाविक था—इन जातियों में इन्हीं के देशों में एवं उन पूर्वीय देशों में जहां जाकर इनके व्यापारी बस गए थे, अनेक वर्षों तक अनेक युद्ध हुए;—अन्त में ये जातियां पूर्वीय देशों में—कोई कहीं और कोई कहीं—अपना स्थायी राज्य कायम करने में सफल हुईं। भारत में डच, फ्रांसिसीयों और अंग्रेजों की परस्पर कशमकश के बाद—अन्त में अंग्रेजों का साम्राज्य स्थापित हुआ।

अंग्रेजी राज्य—सब से पहिला अंग्रेज जिसने भारत भूमि पर पदार्पण किया टामस स्टीफेन्स था। १५७९ ई० में वह गोवा जसुइट विश्व-विद्यालय का रेक्टर नियुक्त किया गया था। यहां से उसने भारतीय भूमि, धनधान्य, समृद्धि और जीवन के विषय में अनेक पत्र अपने पिता के पास भेजे थे, उनका इङ्गलैण्ड की जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा, फलस्वरूप कई अंग्रेजों ने व्यक्तिगत रूप से भारत की यात्रा की और इस देश की कुछ जानकारी हासिल की। इन्हीं बातों से प्रभावित होकर ३१ दिसंबर सन् १६०० के दिन इङ्गलैण्ड में लंदन के कुछ व्यापारियों ने महारानी एलिजाबेथ की आज्ञा से पूर्वीय देशों से व्यापार करने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना की। कम्पनी का भारत से सर्वप्रथम व्यापारिक सम्पर्क १६१५ ई० में हुआ जब इङ्गलैण्ड के तत्कालीन राजा जेम्स प्रथम का दूत सर टामस रो भारत सम्राट जहांगीर से अजमेर में मिला, और उसने स्वीकृति ली अपनी जाति के लिए भारत में व्यापार करने की एवं अपनी बस्तियों में अपने ही कानूनों के अनुसार व्यवस्था करने की। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने शनैः शनैः भारत में अपना व्यापार और अपनी बस्तियाँ फैलाईं। इसी कम्पनी की पहली कोठी सूरत में स्थापित हुई, सन् १६४० में अंग्रेजों ने चन्द्रगिरी के राज्य से मद्रास खरीदा और वहां सेंट जार्ज नामक किला बनाया और

सन् १६६२ ई० में कंपनी ने बम्बई टापू अपने बादशाह चार्ल्स द्वितीय से जो उसे पुर्तगाली बादशाह द्वारा दहेज में मिला था १० पौंड वार्षिक कर पर लेलिया, थोड़े ही काल में कंपनी का व्यापार अहमदाबाद, सूरत, बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, बंबई आदि प्रमुख स्थानों में फैल गया।

सन् १७०७ में मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत के राजकीय संगठन में विशृंखलता आगई। अनेक स्वतन्त्र राज्य खड़े होगये—देश में अशांति छागई—अंग्रेजों ने इस अशांति का लाभ उठाया—और धीरे धीरे कम्पनी अपना व्यापार ही नहीं किन्तु अपनी राजसत्ता भी बढ़ाने लगी—उनका तरीका यही था कि एक प्रादेशिक शासक को दूसरे प्रादेशिक शासक से लड़वा देना—स्वयं किसी एक पक्ष की मदद कर देना—और विजित राज्य पर अपनी व्यवस्था और अधिकार स्थापित करलेना। इस प्रकार सन् १७५७ ई० में बंगाल के अमीर को प्लासी के युद्ध में परास्त किया, सन् १७६४ में अवध के नवाब को बक्सर के युद्ध में परास्त किया, सन् १७६५ में मुगल सम्राट शाहआलम से बंगाल की दीवानी हासिल की। इस प्रकार भारत में अङ्गरेजी राज्य की नींव की स्थापना हुई। भारत में एक ऐसी शक्ति का जो अंग्रेजों की बढ़ती हुई सुसंगठित और सुव्यवस्थित शक्ति से टक्कर लेती, विकास हो चुका था—और वह थी मराठा शक्ति। किन्तु इस शक्ति की भी अंत में सन् १८१८ ई० की अंग्रेजों के साथ लड़ाई में पराजय हुई—और वह सर्वथा ह्रास को प्राप्त हुई। इस प्रकार मराठों की पराजय के बाद १८१८ ई० में अंग्रेजी सत्ता और शक्ति भारत में निर्विरोध, निशंक शेष रह गई। अतः भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की अविरोध और स्थायी स्थापना हम १८१८ ई० से ही मानते हैं—जब तक सीधे या उनके संरक्षण में भारत के प्रायः सभी भागों पर उनका आधिपत्य होचुका था। इस प्रकार भारतीय अंग्रेजी राज्य के काल को हम ३ भागों में विभक्त करसकते हैं। (१) १७६५–१८१८ अंग्रेजी राज्य की नींव की स्थापना होकर कम्पनी द्वारा साम्राज्य विस्तार का युग। (२) १८१८ से १८५७

तक अंग्रेजी साम्राज्य का वह युग जब देश के समस्त अंग्रेजी प्रांतों की राजकीय व्यवस्था ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में रही। सन् १८५७ ई० में भारत में अंग्रेजों के खिलाफ एक देशव्यापी विद्रोह हुआ–जिसके नेता अत्याचार पीड़ित राजा तथा नवाब थे और जिसमें भारतीय सैनिकों ने उनका साथ दिया था। अंग्रेजों के जान माल की भारी क्षति हुई किंतु अंत में उनकी विजय हुई। गदर समाप्त होते ही पार्लियामेण्ट ने कम्पनी से देश का राज्याधिकार छीनकर अपने हाथ में लेलिया।
(३) १८५८ से १९४७ तक नवभारत का शासन भार इङ्गलैंड के बादशाह के नाम पर इङ्गलैंड की पार्लियामेंट ने संभाला–और वहां का सम्राट भारत का (Emperor) महाराजाधिराज कहलाया। ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत का शासन भारत में वायसराय (गर्वनर जनरल) एवं वायसराय के आधीन प्रांतों में गवर्नर नियुक्त करके करने लगी।

अंग्रेजी राज्य का भारतीय जीवन पर प्रभाव—प्राचीन देश भारत में १७वीं शताब्दी के आरम्भ में ५००० मील दूर से व्यापारियों के रूप में अंग्रेजों का आना, देश में अपने व्यापार की अभिवृद्धि करना और साथ ही शनैः शनैः राजकीय सत्ता स्थापित करते जाना–यहां तक कि १९वीं शती के आने आते (१८१८ से) समस्त भारत में एकाधिपत्य साम्राज्य स्थापित कर लेना—यह भारत के इतिहास की एक अपूर्व घटना है। इससे पूर्व भी भारत में साम्राज्य स्थापित हुए थे–प्राचीन काल में अशोक का साम्राज्य, मध्यकाल में तुर्कों का साम्राज्य–आधुनिक काल के प्रारम्भ में अकबर तथा मुगलों का राज्य–किन्तु यह एक तथ्य है कि किसी भी साम्राज्य में इतनी राजकीय (शासनात्मक), संगठनात्मक, एवं व्यवस्थात्मक एकता नहीं आई थी जितनी ब्रिटिश राज्यकाल में। इसके दो सबब थे–पहिला तो यातायात और आवागमन के आधुनिक वैज्ञानिक साधनों में यथा–रेल, तार, डाक, टेलीफोन में अभूतपूर्व वृद्धि और उनका कुशल संगठन और प्रबन्ध। शासन में एकता स्थापित करने में यह एक साधन था जो पूर्ववर्ती साम्राज्यों को उपलब्ध नहीं था,

क्योंकि रेल, तार, डाक संबन्धी वैज्ञानिक आविष्कार १९वीं सदीसे पहिले संसार में हो ही नहीं पाये थे। दूसरा सबब था अंग्रेज शासकों में बड़े बड़े संगठन करने और व्यवस्था बैठाने की अपूर्व शक्ति और कार्य कुशलता जिसमें शिथिलता और आलस्य का लेश मात्र न हो, और सर्वोपरि बात थी उनके चरित्र में अनशासन की भावना–और जातीय (देश) प्रेम।

अंग्रेजी राज्य में प्राचीन और शिथिल भारत पर सर्वथा एक नई सभ्यता, नई भावना और एक नये दृष्टिकोण की चोट पड़ी। मानवता के पूर्वीय और पच्छिमी छोर एक दूसरे के सम्पर्क में आये– यदि ऐसा न होता तो शायद यह मानवता के विकास में ही बाधा होती।

अंग्रेजी राज्य काल में भारतीय सामाजिक जीवन की कहानी एक सतत परिवर्तन की कहानी है–चाहे परिवर्तन की वह गति इतनी तेज नहीं रही जितनी होनी चाहिए थी।

भाषा, साहित्य एवं धर्म : प्राचीन हिन्दू काल में शासन और साहित्य की भाषा संस्कृत थी–प्रायः ११वीं १२वीं शती तक राज्य-शासन एवं मान्य साहिय की भाषा संस्कृत रही यद्यपि प्राकृत और पाली भाषायें जन साधारण की भाषायें रहीं। मुसलमानी मध्य काल एवं मुगल साम्राज्य काल से (१३वीं शती से १८वीं शती तक) राज्य-शासन की भाषा फारसी–किंतु जन साधारण की बोलचाल की भाषा प्राकृत से ही उद्भूत पहिले अपभ्रंश और फिर देशी भाषाएं रहीं— यथा बंगाली, मराठी, गुजराती, हिन्दी इत्यादि। अंग्रेजी राज्य काल में शासन एव उच्च शिक्षा की भाषा अंग्रजी हुई। वैसे तो अंग्रेज भारत में व्यापार करने आए थे, किन्तु ऐतिहासिक परिस्थितियां अनुकूल होने के कारण उनका राज्य यहां स्थापित होगया, और एक बार राज्य स्थापित होने पर तो, अपने आर्थिक लाभ के लिए हर हालत में उसे कायम रखना उनका मुख्य उद्देश्य बनगया, किन्तु फिर भी ब्रिटिश पार्लियामेंट के, जिसका नियंत्रण कम्पनी पर रहता था, अनेक सदस्य सुसंस्कृत थे,

मानव-जाति में ज्ञान की अभिवृद्धि और प्रसार हो ऐसी विशालता उनकी दृष्टि को छूगई थी। उनके प्रभाव में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने १८१३ ई० में कम्पनी को आदेश दिया कि वह एक लाख रुपया भारतीय साहित्य के पुनरुत्थान एवं सुधार के लिए, भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन देने के लिए, एवं भारत में अंग्रेजी राज्य के आधीन लोगों में विज्ञान की शिक्षा की शुरुआत और विकास के लिए खर्च करे। फलतः १८१५ ई० में कलकत्ता में हिन्दू कॉलेज की स्थापना हुई, १८१८ ई० में सीरामपुर कॉलेज की नींव डाली गई; इसी वर्ष एक अंग्रेजी समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। देश का यह सर्व प्रथम समाचार पत्र था, १८७७ ई० के आते आते तो अंग्रेजी एवं देशी भाषाओं को मिलाकर १०० से भी अधिक समाचारपत्र निकलने लगे थे। इंगलैण्ड में सर्वप्रथम दैनिक पत्र १७०२ ई० में प्रारंभ किया गया था—इसका नाम 'दी डली कूरैण्ट" (The Daily Courant) था। लॉर्ड डलहौजी के राज्य-काल (१८२७–१८३४ ई०) में कई अन्य अंग्रेजी विद्यालय खोले गए। किन्तु फिर भी शासकों के सामने यह प्रश्न समस्या के रूप में खड़ा ही रहा कि शिक्षा में पूर्वीय विद्याओं का प्राधान्य हो या अंग्रेजी भाषा एवं पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का। कई वर्षों तक इस प्रश्न पर वादविवाद होते रहे, अन्त में लॉर्ड मैकाले की प्रेरणा से, जो एक अत्यंत मेधावी व्यक्ति थे, १८३५ ई० में यह निर्णय हुआ कि शिक्षा का आधार अंग्रेजी भाषा एवं पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान हो। फलतः अनेक ऐंग्लोवर्नाक्यूलर स्कूल खोले गए और अन्त में १८५७ ई० में लंदन विश्व-विद्यालय के आधार पर कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में विश्व-विद्यालयों की स्थापना की गई। प्राचीन काल में तक्षशिला (ई० पू० लगभग ७वीं शताब्दी से ईस्वी सन् की पहली-दूसरी शताब्दी तक) एवं नालंदा (ईस्वी सन् की चौथी-पांचवीं शताब्दियाँ) विश्व-विद्यालयों की परम्परा नष्ट होजाने के बाद, आधुनिक काल में अपनी ही विशेषताओं एवं आधुनिक दृष्टिकोण को लिए हुए भारत में ये सर्वप्रथम विश्व-विद्यालय थे।

यूरोप में सर्व प्रथम विश्व-विद्यालयों की स्थापना १२—१३वीं शताब्दियों में हुई थी—११५८ ई० (?) में इटली के बोलोगना विश्व-विद्यालय की; १२५३ ई० में सोरबोन (पैरिस) विश्व-विद्यालय की, एवं १२वीं ही शताब्दी में इंग्लैण्ड के प्राचीनतम विश्व-विद्यालय ग्रोक्सफोर्ड की; १३ वीं शताब्दी के ग्रारंभ १२९० ई० में केम्ब्रिज की। १५०० ई० तक यूरोप में ७९ विश्व-विद्यालय स्थापित हो चुके थे। भारत में फिर १८८७ ई० में इलाहबाद (प्रयाग) विश्व-विद्यालय १९१६ में बनारस (काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय), एवं १९२२ ई० में दिल्ली विश्व-विद्यालय की स्थापना हुई। १९५५ ई० में भारत में विश्व-विद्यालयों की संख्या ३३ तक होगई। ज्यों ज्यों संसार में ज्ञान-विज्ञान की ग्रभिवृद्धि होती गई त्यों त्यों भिन्न भिन्न विषयों एवं नवीनतम ज्ञान का समावेश विश्व-विद्यालयों की पढ़ाई में होता गया। साथ ही साथ ज्यों ज्यों पाश्चात्य लोग प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्पर्क में ग्राने लगे त्यों त्यों उसका ग्रनुवाद जर्मन, ग्रंग्रेजी, फ्रेंच भाषाग्रों में होने लगा, यहां तक कि उन लोगों में वैदिक ग्रौर संस्कृत या ग्रन्य भारतीय भाषाग्रों के ग्रनेक धुरन्धर विद्वान हुए जिनकी समता स्वयं भारतीय पंडित नहीं कर सकते ग्रनेक प्राचीन धार्मिक दार्शनिक ग्रन्थों का सम्पादन जर्मनी के मैक्समूलर ग्रौर विंटरनीटज प्रभृति विद्वानों ने किया। भारतीय ग्रपने प्राचीन साहित्य भंडार को भूल चुके थे उसका भी पुनरुद्धार यूरोपीय जातियों ने ही किया—ग्रौर उसी से भारतीयों की भी ग्रॉखें खुलीं ग्रौर किसी प्रकार ग्रालस्य निद्रा से उठ कर उन्होंने ग्रपने प्राचीन ज्ञान को टटोलना ग्रौर संभालना प्रारम्भ किया।

प्राचीन साहित्य, धर्म ग्रौर दर्शन शास्त्र के प्रकाश में ग्राने के बाद उसका प्रभाव ग्रनेक यूरोपीय ग्रमेरिकन कवियों ग्रौर चिंतकों पर पड़ा, ग्रौर उसी भारतीय दार्शनिक भावना की ग्रभिव्यक्ति उनके काव्य ग्रौर ग्रन्य साहित्य में हुई—जैसे जर्मनी के १९वीं शती के महाकवि ग्रौर दार्शनिक गेटे; ग्रमेरिका के हैनरी थोरो, इमरसन एवं वाल्ट ह्विटमैन;

इंगलैंड के कार्लाइल, यीट्स जॉर्ज विलियम रसल प्रभृति के साहित्य में। २० वीं शती में तो यह आदान-प्रदान विचार और भावनाओं का परस्पर प्रभाव और भी अधिक हुआ। १९वीं शती के मध्य तक भारत की प्रान्तीय भाषाओं में केवल पद्य की रचना होती थी—गद्य में ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, भूगोल, इत्यादि का पूर्ण अभाव था—इस ओर लोगों की प्रवृत्ति हुई—१९वीं शती के मध्य से गद्य-साहित्य का भी विकास आरम्भ हुआ—सन् १९२० के बाद जाकर कहीं ऐसी परिस्थिति हो पाई कि देशी भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की कुछ पुस्तकें मिलने लगीं—तत्पश्चात् तो तीव्रगति से उन्नति हुई। किन्तु अब भी (१९५० ई०) ऐसी स्थिति है कि उच्च कोटि का राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान इत्यादि का अध्ययन देशी भाषाओं में नहीं हो सकता इसके लिये यूरोपीय भाषाओं की शरण लेनी पड़ती है।

पाश्चात्य भाषा, शैली, साहित्य, विचार एवं भावनाओं का भारतीय भाषाओं पर पूरा पूरा प्रभाव पड़ा, और उस प्रभाव के फल-स्वरूप २०वीं शती के आरम्भ होने के बाद प्राय: द्वितीय शतक से नव-विचार, नव-भावना, नव-अभिव्यंजना के साथ देशी भाषाओं का साहित्य प्रस्फुटित हुआ—बंगाल में कवीन्द्र रवीन्द्र (१८६१–१९४१ ई०) हुए—जिन्हें साहित्य का नोवेल पुरस्कार मिला और जो विश्व-साहित्यकों में एक अनुपम विभूति माने जाने लगे; दक्षिण में कवि भारती हुए,—और पंजाब में मुहम्मद इकबाल। हिंदी में भी कई विभूतियां हुई—प्रेमचंद, (१८८०–१९३३) प्रसाद (१८८९–१९३७ ई०) महादेवी वर्मा (१९०७ ई०) जिनकी गणना विश्व-साहित्यिकों में हो सकती है। धार्मिक, दार्शनिक क्षेत्र में बंगाल में राजा राममोहन राय (१७७४–१८३३ ई०) और ब्रह्म समाज ने, समस्त उत्तर भारत में महर्षि दयानन्द (१८२४–८३) और आर्य समाज ने क्रांति पैदा की, और अपने प्राचीन सत्य रूप का भारतीयों को दर्शन करवाया; आध्यात्मिक क्षेत्र में रामकृष्ण परमहंस (१८३३–१९०२), एवं उनके विश्व-विख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द,

(१८६३–१९०२) रामतीर्थ (१८७३–१९०६), महर्षिरमण का संदेश केवल भारत ही नहीं किन्तु समस्त विश्व में प्रसारित हुआ; वैज्ञानिक क्षेत्र में भी जगदीशचन्द्र बसु (१८५८–१९३७) प्रफुलचंद्रराय (१८६१–१९४४) श्री चन्द्र शेखर रमण (१८८८–) ने कई उद्‌भावनायें कीं और आज योगीराज अरविंद (१८७२–१९५०) की ओर विश्व आकृष्ट है, और उत्कंठित है समझने को उनका विश्व कल्याण एवं मानव-विकास का मार्ग।

भारत के सामाजिक जीवन में परिवर्तन:—इतिहास में ऐसा पाया गया है कि धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं और विश्वासों में क्रांति, एवं परम्परागत संस्थाओं में परिवर्तन किसी आंतरिक प्रेरणा, उपदेश या चाहने से इतना नहीं होता जितना रहनसहन की भौतिक परिस्थितियों एवं जीवन निर्वाह के आधार बदलजाने से अपनेआप होजाता है। पश्चिम से सम्पर्क में आने के बाद भारत में वैज्ञानिक साधनों का एवं मशीन-उद्योगों का प्रसार होने लगा जिससे यहाँ की रहन-सहन की भौतिक परिस्थितियाँ एवं जीविका के आधार धीरे धीरे बदलने लगे, अतः यहाँ की परम्परागत सामाजिक-संस्थाओं में विघटन होने लगा, एवं सामाजिक मान्यताओं और विश्वासों में क्रांति। रहनसहन की भौतिक परिस्थितियों एवं जीवन-निर्वाह के साधनों में क्या परिवर्तन हुए? भारत में अति प्राचीन काल से १९वीं शताब्दी के मध्य तक यातायात एवं आवागमन के साधन केवल बैलगाड़ी, ऊंट-घोड़े, एवं घोड़े–या बैल के रथ थे। १८५३ ई० में सर्वप्रथम रेलवेलाइन बनी—यह पहली रेलवेलाइन २० मील लम्बी थी। १८६३ ई० के आते आते २५०० मील एवं १९५० ई० तक ३४००० मील लम्बीरेल की लाइनें बिछगईं। इसी प्रकार धीरे धीरे स्टीम से चलनेवाले जहाजों द्वारा सामुद्रिक आवागमन में वृद्धि हुई, एवं १९२० ई० के बाद हवाई यातायात प्रारंभ हुआ। नवंबर १८५३ ई० में भारत में सबसे पहली तार की लाइन (कलकत्ता और आगरा के बीच) लगी, तारघर स्थापित

हुए जिनकी संख्या ठीक १०० वर्ष के बाद अर्थात् १९५३ ई० में बढ़ते-बढ़ते ८२३३ तक पहुंच गई। सबसे पहले अक्टूबर १८५४ ई० में डाक-सेवा स्थापित हुई, आधआने के टिकिट जारी हुए, एवं डाकखाने खुले जिनकी संख्या बढ़ते बढ़ते १९५४ ई० में ५१५३९ तक होगई। इसी प्रकार टेलीफोन सिस्टम का भी प्रचलन हुआ; १९५५ ई० में टेलीफोनों की संख्या बढ़कर २,६५,००० तक होचुकी थी। १९२७ ई० में सर्वप्रथम आकाशवाणी (रेडियो) के केन्द्र स्थापित हुए—२३ जुलाई (१९२७ ई०) के दिन बम्बई रेडियो एवं २६ अगस्त (१९२७ ई०) के दिन कलकत्ता रेडियो स्टेशन। (१९५६ ई०) तक रेडियो–स्टेशनों की संख्या २६ तक पहुंच गई। आज (१९५६ ई०) में भारत का कई देशों से—जैसे चीन, मिश्र, हिंदेशिया, जापान, ब्रिटेन, रूस से–सीधा रेडियो-टेलीफोन संबध है। रेडियो द्वारा समाचार पत्रों के लिए रेडियो-फोटो प्राप्त करलेना–ऐसा संबंध भी भारत का अमेरिका, रूस, चीन और ब्रिटिन से है। आवागमन, यातायात, एवं संदेशवाहन में यह एक अभूतपूर्व क्रांति है, जिसकी कल्पना तक भी भारतीय मानव को आज (१९५०) से १०० वर्ष पहिले नहीं होसकती थी। ये सब बातें भारत के भौतिक रूप को ही धीरे धीरे बदल रही हैं। दूसरी बात–यूरोप में १८ वीं – १९ वीं शताब्दी (१७५०–१८५० ई०) में औद्योगिक क्रांति हुई थी। इस औद्योगिक क्रांति के पूर्व भारत अपने हस्त एवं कुटीर उद्योगों के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध था, वस्तुतः यह देश विश्व का उद्योग-केन्द्र माना जाता था और अनेक देशों को यहां से चावल, गेहूं, चीनी, कपास के अतिरिक्त हाथकर्घों का बुना सुन्दर कपड़ा, रेशम एवं अन्य शौकीनी चीजें जैसे, पीतल, तांबे और चांदी के कलात्मक ढंग से बने हुए बर्तन; लकड़ी एवं हाथी दांत पर खुदाई की हुई अनेक कलात्मक वस्तुएँ, निर्यात होती थीं। किंतु भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद अंग्रजों (ईस्ट इण्डिया कम्पनी) ने अपने यांत्रिक उद्योगों की वस्तुओं की बिक्री के लिए भारतीय प्राचीन उद्योगों पर

अनेक प्रतिबंध लगादिए और धीरे धीरे उनका महत्त्व समाप्त होगया। किन्तु किन्हीं भी दो सभ्यताओं के सम्पर्क में आने से परस्पर आदान-प्रदान दोनों ही बातें होती हैं अतः धीरे धीरे भारत में भी यांत्रिक उद्योग प्रारंभ होने लगे, उनका विकास होने लगा, और फलस्वरूप जीवन निर्वाह के साधनों में परिवर्तन होने लगा। १८५० ई० तक भारत में कोई भी यांत्रिक उद्योग नहीं था। वैसे नाम को १८१८ ई० में कलकत्ता के पास फोर्टग्लोस्टर में एक कपड़े के मील की स्थापना हो चुकी थी, किन्तु यांत्रिक उद्योग का वास्तविक प्रारंभ १८५६ ई० से मानना चाहिए जब बम्बई में बोम्ब स्पीनिंग एण्ड वीवींग मिल्स (कपड़े की मील) की स्थापना हुई; इनकी संख्या बढ़ते बढ़ते सन् १९३९ ई० में ३८९ तक पहुंच चुकी थी। १८५९ ई० में भारत की सर्वप्रथम जूट मील कलकत्ता के पास निशारा में बनी; इनकी संख्या बढ़कर १९४० ई० में ८५ तक पहुंच गई। इन्हीं वर्षों (१८५०-५५) में बिहार और बंगाल में कोयले की खदानों से कोयला निकालेजाने का काम प्रारंभ हुआ, जिसका वार्षिक उत्पादन १९५० ई० के आते आते लगभग ३ करोड़ टन तक हो गया। साथ ही साथ बिजली उद्योग प्रारंभ हुआ। और उसका विकास हुआ। भारत में सबसे पहला जल-विद्युत का कारखाना दार्जीलिंग में १८९७ ई० में लगा; इसके तुरंत बाद, १८९९ ई० में सबसे पहला बिजली घर कलकत्ता में बना। १९३५ ई० के आते आते भारत में ९ लाख किलोवाट बिजली पैदा होने लगी। १८७० ई० में आधुनिक ढंग से कागज बनाने का सर्वप्रथम कारखाना बाली मील के नाम से कलकत्ता में खुला; कागज के मीलों की संख्या द्वितीय विश्व-युद्ध काल में १५ तक पहुंच गई, और १९५५–५६ ई० में तो अखबारी कागज भी भारत में बनायाजाने लगा। १९०७ ई० में जमशेदपुर (बिहार) में लोह और इस्पात का सर्वप्रथम आधुनिक ढंगका कारखाना देश के प्रसिद्ध उद्योगपति जमशेदजी नोशरबान जी टाटा ने स्थापित किया, और धीरे धीरे इस उद्योग में इतनी अभिवृद्धि हुई कि १९५० ई० के

आते आते छोटेमोटे १०० से ऊपर लोहे के कारखाने खुलगए एवं देश में प्रतिवर्ष १० लाख टन तक इस्पात बनने लगा। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद यांत्रिक उद्योगों के विकास की गति में कुछ तेजी आई—कपड़ा और जूट उद्योग में अभिवृद्धि के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में कई चीनी की मीलें खुलीं, बम्बई एवं बिहार में सीमेंट के कारखाने; पंजाब और कानपुर में ऊनी वस्त्र की मीलें; एवं कई स्थानों पर तेल की मीलें एवं साबुन और वेजिटेबल घी के कारखाने। सब उद्योगों का इतना विकास हुआ कि एशिया में भारत का नाम औद्योगिक देशों में गिना जाने लगा। द्वितीय विश्व-युद्ध काल में तो औद्योगिक विकास की परिस्थितियों में बहुत अनुकूलता आई और अभूतपूर्व तेजी से उद्योगों का विकास हुआ। कपड़ा, काग़ज, चीनी, इस्पात, चाय, सीमेंट रासायनिक पदार्थ, दवाइयां, बारूद, इंजीनीर्यारिंग काम का सामान और औजार, इत्यादि वस्तुओं का उत्पादन खूब बढ़गया। कई नई चीजों के कारखाने भी खुले, जैसे:— डिजल इंजन, पम्प, बाइसिकल, कपड़ा सीने की मशीनें, सोडाऐश, कास्टिक सोडा, क्लोरीन एवं हल्की मशीनें भी। भारत की विश्व के औद्योगिक क्षेत्र में यह स्थिति बनगई कि वह विश्व के ८ बड़े औद्योगिक देशों में माना जाने लगा। २५ लाख से भी अधिक जन इन आधुनिक यांत्रिक उद्योगों में काम करने लगे; इन उद्योगों में काम करनेवाले लोगों पर आश्रित कुटुम्बों को शामिल करलें तो १९४० ई० तक अनुमानतः एक करोड़ जन गांवों से उखड़कर औद्योगिक शहरों में बस गए थे। इस प्रकार समाज में जीवन-निर्वाह के साधनों में खूब रद्दोबदल होगया; यातायात एवं समाचार-वाहन के साधनों में परिवर्तन से भौतिक परिस्थितियां भी साथ साथ बदल रही थीं—इन सबकी एक ज़बरदस्त चोट देश के परम्परागत सामाजिक-जीवन पर पड़ी:—बाल-विवाह, बहु-विवाह, विधवा, दहेज एवं परदा प्रथाएं, और जातिव्यवस्था और अस्पृश्यता सामाजिक जीवन के अभिशाप माने जाने लगे। सती प्रथा तो १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ में ही बंद करदी गई; कानून द्वारा विधवा-

विवाह को सामाजिक मान्यता मिली; बाल एवं बहु-विवाह, दहेज एवं परदा प्रथाएं धीरे धीरे उठने लगीं; पुत्र के साथ पुत्री को भी पैतृक सम्पत्ति में अधिकार मिलने की बात होने लगी; स्त्रियां घर की चाहर-दीवारी से बाहर निकलकर सामाजिक, राजनैतिक एवं जीवनोपार्जन के क्षेत्रों में पुरुष के समान काम करने लगीं, एवं जाति एवं संयुक्त परिवार के बंधन शिथिल पड़ने लगे,—मानो भारतीय सामाजिक-जीवन की पुरातनता में ताजा हवा का झोंका आया, विचार और मान्यताएँ बदलने लगीं।

युगों से भारतीयजन इस विश्वास में रूढ़ था कि व्यक्ति की धनी या ग़रीब अवस्था, उसकी शिक्षा, उसका स्वास्थ्य और आयु उसकी जाति, समाज में उसकी प्रतिष्ठा, उसका सुख-दुख किसी मनुष्य-कृत सामाजिक संगठन के रूप पर नहीं वरन् किसी परोक्ष सत्ता पर अवलंबित है; और उसकी यह मान्यता बनी हुई थी कि प्रचलित धार्मिक-सामाजिक प्रथाएं–जाति प्रथा, विवाह प्रथा, वर्णव्यवस्था–युगों से आती हुई अपरिवर्तनशील संस्थाएं हैं। किन्तु आधुनिक विश्व-विद्यालयों में शिक्षित भारतीय युवक धीरे धीरे यह भान करने लगा था कि व्यक्ति के जीवन की समृद्धि और उसका स्वास्थ्य उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि का उत्तर दायित्व मनुष्य द्वारा निर्मित सामाजिक व्यवस्था पर है; और वह यह अनुभव करने लगा था कि प्राचीन काल से आती हुई प्रथाएं और मान्यताएँ वस्तुतः परिवर्तनशील हैं। वह यह सोचने लगा था कि इतिहास और मानव-समाज का वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन कर मनुष्य स्वयं ही, परोक्ष सत्ता से निरपेक्ष, ऐसी सामाजिक व्यवस्था संगठित कर सकता था जिसमें व्यक्ति गरीबी, परमुखापेक्षिता एवं दीनता की भावना से मुक्त रह सके। एक नए ज्ञान और नई सभ्यता से टकराकर उसका मानस बदलने लगा था—भारतीयजन का सुषुप्त इतिहास मानों करवटें बदलने लगा हो। इसके पूर्व यूरोप का जन १९वीं शताब्दी में ही परम्पराओं के प्रति अपनी श्रद्धा को तिलांजली देचुका

था, बुद्धिवाद अर्थात् प्रत्यक्ष तथ्यों पर आधारित सत्य में उसका विश्वास होने लगा था; जीवन, प्रकृति, समस्त सृष्टि के प्रति वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने लगा था, और उसकी यह दृढ़ धारणा बनगई थी कि मानवजाति को विज्ञान—प्रत्यक्ष तथ्यों पर आधारित सिद्ध किए जासकने वाले ज्ञान—के सहारे अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करना चाहिए। स्थिति यह नहीं कि ये नई बातें पूर्व और पश्चिम के सर्वसाधारण के अतंराल में गहरी प्रविष्ट कर गई हों, किन्तु निःसंदेह मानवजाति के विचार की गति थी उसी ओर। वस्तुतः २० वीं शताब्दी में प्रथम महायुद्ध (१६१४–१८) के बाद से संसार के सब देश, सब जातियां सब मान्यतायें—आधुनिक वैज्ञानिक साधनों (यातायात, समाचार-वाहन, समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा, इत्यादि) के फलस्वरूप एक दूसरे के इतने निकट आ गये थे कि सब जगह पुरानी मान्यताओं, व्यवस्थाओं, और संस्कारों में विच्छेदन होना स्वभाविक था—और ऐसा हो रहा है। भारत ही नहीं, वरन् आज इस २०वीं शताब्दी के मध्य में समस्त विश्व एक संक्रांति काल में से गुज़र रहा है।

भारत में राष्ट्रीयता का विकास

अंग्रेजों के शासन काल में भारत एक राजकीय सूत्र में सुगठित हुआ। एक राज्य, एक न्याय, एक भाषा (अंग्रेजी) से भारतीयों में भिन्नता का भाव कम हुआ—और उनमें जातीयता के भाव का उदय होने लगा। साथ ही साथ अंग्रेजी पढ़ेलिखे भारतीयों के हृदय में यूरोपीय इतिहास और साहित्य के अध्ययन से राष्ट्रीय भाव जागृत होने लगे। पश्चिमी देशों के प्रजा सत्तात्मक राज्यों और समुदायों के संगठन का उन्हें ज्ञान हुआ। अतः उन्हें भान होने लगा भारत भी स्वतन्त्र होना चाहिए और वहां प्रजा-सत्तात्मक राज्य स्थापित होना चाहिए। फलस्वरूप १८८५ ई० में राष्ट्रीय महासभा अर्थात् (Indian National Congress) की स्थापना हुई। यहीं से भारतीय स्वतन्त्रता की भावना का सूत्रपात हुआ—और स्वतन्त्रता के लिये प्रयास होने लगा। इस "स्वतन्त्रता युद्ध" का

उसकी भावनाओं और उद्देश्यों के अनुसार हम तीन विशेष काल खंडों में अध्ययन कर सकते हैं। (१) १८८५-१९०५:–जब कांग्रेस का यह उद्देश्य रहा कि वह भारत के हित के लिये स्वतन्त्र विचारों को प्रकट करे तथा इस बात के लिये प्रयत्न करे कि व्यवस्थापिका सभा में लोगों के प्रतिनिधियों की संख्या में वृद्धि हो, एवं प्रशासनीय उच्च पदों पर भारतीयों की भी नियुक्ति हो। इस काल के राष्ट्र के नेता दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, गोपाल-कृष्ण गोखले एवं महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय थे। (२) १९०५-१९२० :—इस काल में महासभा का उद्देश्य रहा–"स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।" यह घोषणा की लोकमान्य बालगंगाधर तिलक (१८५६-१९२०ई०) ने जो इस काल के सर्वमान्य राष्ट्रीय नेता रहे। इनके सहयोगी हुए पंजाब के लाला लाजपतराय और बंगाल के विपिनचन्द्रपाल। इस काल में देश की आन पर मर मिटने वाले कुछ साहसी युवकों ने विदेशी शासकों के विरोध में कई षड़यन्त्रकारी कार्य किये, जिनका भी भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में एक स्थान है। इस युग तक स्वतन्त्रता का आन्दोलन जन-आन्दोलन नहीं हो पाया था। इस काल में सन् १९१९ में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर पंजाब में अमृतसर नगर के जलियानवाला बाग में स्वतन्त्रता को मांग करने वाली नागरिकों की एक विशाल सभा पर अंग्रेजों ने गोली चलाई, जिससे सैकड़ों हत्यायें हुई। जलियानवाला बाग के इस गोली-काण्ड ने आजादी की लड़ाई में एक नई जान फूंक दी।

(३) सन् १९२१-१९४७:— इस काल में सन् १९२८ में महासभा का उद्देश्य घोषित किया गया—"पूर्ण स्वतन्त्रता" और एकाधिपत्य नेतृत्व रहा महात्मा गांधी का। इसी युग में स्वतन्त्रता के लिये मर मिटने की भावना का जन-जन में संचार हुआ। महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्तों पर जन-आन्दोलन का सूत्रपात किया। देश के बड़े बड़े नेताओं ने पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सुभाष बोस, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, श्री राजगोपालाचार्य आदि ने

महात्मा गांधी की रहनुमाई में समय समय पर स्वतन्त्रता आन्दोलन का परिचालन किया।

१९२१ से प्रारम्भ होकर सन् १९४७ तक कई आन्दोलन हुए, किसी न किसी रूप में "अहिंसात्मक युद्ध" जारी रहा। सन् १९३९ से ४५ तक द्वितीय विश्व-युद्ध हुआ। युद्ध-काल के सन् १९४२ के अगस्त में "अंग्रेजो-भारत छोड़ो" मन्त्र से अनुप्राणित हो एक जन-आन्दोलन चला जिसने ब्रिटिश शासन की जड़ हिला दी। अन्त में अंग्रेज और भारतीय प्रतिनिधियों में एक समझौता द्वारा १५ अगस्त सन् १९४७ के दिन लगभग १५० वर्ष की गुलामी के बाद भारत पूर्ण स्वतन्त्र घोषित हुआ। स्वतन्त्रता के साथ ही साथ देश का दो राज्यों में विभाजन हुआ—हिन्दू बहुमत प्रान्तों में भारत, एव मुसलिम बहुमत प्रान्तों में पाकिस्तान।

भयङ्कर विनाशकारी शस्त्रों से सम्पन्न विदेशी शासकों के पंजों से अहिंसात्मक विरोध द्वारा एक देश का छुटकारा पा लेना—यह विश्व के इतिहास में एक अनुपम प्रयोग था। अहिंसा की क्रूर हिंसा पर विजय—इसकी एक झलक।

१५ अगस्त सन् १९४७ से स्वतन्त्र भारत

१५ अगस्त १९४७ ई० के दिन भारत स्वतन्त्र हुआ। पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व एवं सरदार बल्लभ भाई पटेल के उपनेतृत्व में स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय सरकार का निर्माण किया गया, किन्तु जब तक देश में अपनी ही इच्छा और विचारों के अनुकूल अपना विधान न बना लिया गया तब तक ब्रिटिश काल के १९३५ ई० के शासन-विधान के अनुसार ही देश का शासन चलता रहा। प्रारम्भ में यही ठीक समझा गया कि स्वतन्त्र भारत के पूर्व जो भारत के गवर्नर जनरल थे उन्हीं को कुछ काल के लिये उक्त पद पर नियुक्त कर दिया जाय। अतः लार्ड माउण्टबेटन उस पद पर नियुक्त हुए। देश की स्वतन्त्रता के साथ साथ उसका विभाजन होते ही पाकिस्तान के प्रान्त पश्चिमी पंजाब,

सरहिंद, सिंध एवं पूर्वी बंगाल में मुसलमानों ने हिन्दुओं की क्रूर और भीषण हत्याएं कीं, फलतः करोड़ों हिन्दुओं को उन प्रान्तों से निष्कासित होकर भारत में आना पड़ा। इस प्रकार सदियों से अपने घरों में जीवन यापन करते हुए करोड़ों जनों का अपने घरों से उखड़ जाना भारतीय इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना थी। इसकी प्रतिक्रिया भारत में हुई; यहां पर भी विशेषतः पंजाब तथा देहली में मुसलमान उत्पीड़ित किये गये और लाखों मुसलमानों को वहां से पाकिस्तान जाना पड़ा। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के साथ ही साथ उक्त अमानवीय घटना के अतिरिक्त एक और अवांछनीय घटना घटी। पाकिस्तान ने सीमा प्रान्तीय कबाइलियों को उकसाकर और उनको आगे रखकर काश्मीर (जो स्वतन्त्रता की घोषणा के बाद न अभी तक भारतीय संघ में सम्मिलित हुआ था और न पाकिस्तान में) पर आक्रमण किया। काश्मीर स्वयं इतना बलशाली नहीं था कि वह इस आक्रमण से अपनी रक्षा कर लेता, अतः वह भारत की शरण गया और स्वेच्छा से तुरन्त भारत संघ में सम्मिलित हो गया। पाकिस्तान ने अपना आक्रमण जारी रक्खा और इस प्रकार भारत और पाकिस्तान में, दोनों के एक साथ स्वतन्त्र होते ही, युद्ध ठन जाने की संभावना हो गई। भारत ने यह प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ में रक्खा, और उसके बीच बचाव से युद्ध स्थगित हुआ (१९४८ ई०)। काश्मीर का कुछ पश्चिमी हिस्सा पाकिस्तान के हाथ में रहा और शेष विशेष भू-भाग भारत के अन्तर्गत।

जब स्वतन्त्रता मिली थी तब देश में छोटे मोटे मिला कर ५५२ देशी राज्य थे जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखना चाहते थे। गृह मन्त्री सरदार पटेल ने विचक्षण दृढ़ता से इन सभी देशी राज्यों को समझा-बुझाकर भारत संघ में सम्मिलित करना प्रारम्भ कर दिया। जनवरी १९४८ ई० में उसने यह काम प्रारम्भ किया और जनवरी १९५० ई० तक—यथा दो ही वर्षों में सम्पन्न कर डाला। इस घटना का महत्त्व कम नहीं, मध्य-युगीय सामंती परम्परा और सभ्यता का मानों

इसने अन्त कर दिया। चीन में जब प्रजातंत्र स्थापित हुआ था, वहां भी अनेक प्रान्तीय योद्धा-सरदार थे जो अनेक भिन्न भिन्न प्रान्तों के शासक थे। चीन का तत्कालीन राष्ट्रपति चांगकाई शेक सतत १५ वर्षों के प्रयत्नों और युद्धों के बाद भी उन सबको खत्म कर एक संगठित राज्य का निर्माण नहीं कर सका था।

साथ ही साथ देश में किस प्रणाली से राज्य चले, यह तय करने के लिये देश के लोगों की प्रतिनिधि स्वरूप एक संविधान सभा डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में बैठी। देश के इन प्रतिनिधियों ने देश की सामाजिक पृष्ठ भूमि एवं राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उनकी दृष्टि में जो भी अच्छे से अच्छा शासन-विधान बन सकता था वह तीन वर्ष के अथक परिश्रम से बनाया। इस विधान के अनुसार २६ जनवरी १९५० ई० के दिन भारत सार्वभौम सत्तायुक्त पूर्ण स्वतन्त्र लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित हुआ। इस घटना का कितना महत्व है इसका अनुमान इसी से लगता है कि भारत के प्राचीनकाल से लेकर आज तक के इतिहास में यह पहला अवसर था जब सम्पूर्ण भारत (पाकिस्तान अंगविच्छेद को छोड़कर) एक गणतंत्र राज्य के रूप में संगठित हुआ और वहां की सरकार वैधानिक ढंग से सब लोगों की सम्मति से बनी। भारत के करोड़ों मतदाताओं को इतिहास में प्रथम बार एक शक्तिशाली राजनैतिक अस्त्र मिला जिसके विवेकपूर्वक प्रयोग में समृद्धि और सांस्कृतिक विकास की संभावनाएं निहित थीं।

जून १९४८ में लार्ड माउण्टबेटन इङ्गलैण्ड लौट गए, और उनके स्थान पर चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य गवर्नर जनरल नियुक्त हुए-स्वतंत्र भारत के प्रथम भारतीय गवर्नर जनरल। नए विधान के तैय्यार होकर लागू होने तक वे देश के शासन का संचालन करते रहे। २६ जनवरी १९५० को जिस दिन नया संविधान लागू हुआ, डा० राजेन्द्रप्रसाद देश के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। नए संविधान के अनुसार फरवरी

१९५२ में स्वतंत्र भारत के प्रथम आम चुनाव सम्पन्न हुए। देश में उस समय कई राजनैतिक दलों ने चुनाव लड़ा जिनमें कांग्रेस, साम्यवादी दल, प्रजासमाजवादी दल, एवं जनसंघ प्रमुख थे। केन्द्र तथा प्राय: सभी विभिन्न राज्यों में कांग्रेस दल का बहुमत रहा अतः केन्द्र में तथा राज्यों में कांग्रेस दल की ही सरकारें निर्मित हुईं। डा० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति बने। उनके राष्ट्रपतित्व काल (१९५२–१९५७) में देश में कई महत्त्वपूर्ण कार्य हुए, जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था आर्थिक समृद्धि के लिए एक पंचवर्षीय योजना का निर्माण।

प्रथम पंचवर्षीय योजना:–मार्च १९५० ई० में भारत सरकार ने देश के आर्थिक उत्थान के लिए एक पंचवर्षीय योजना बनवाने को विशेषज्ञों की एक योजना कमीशन निर्मित की। बड़ी मंत्रणा और सोच विचार के बाद कमीशन ने एक योजना तैयार की जिसके अनुसार अप्रेल १९५१ ई० से विधिवत् कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। योजना को सफल बनाने के लिए पांच वर्ष (अप्रेल १९५१ ई०–मार्च १९५६) तक खूब परिश्रम से काम किया गया। देश के आर्थिक जीवन में जो गतिहीन सा पड़ा हुआ था एक नई हलचल पैदा हुई, लोगों को यह भान होने लगा मानों एक सामूहिक प्रयास करके अपनी आर्थिक समृद्धि का आयोजन वे स्वयं कर रहे हैं। योजना सफलता पूर्वक सम्पन्न हुई। फलतः खाद्यान्नों का उत्पादन १७% बढ़ा एवं उद्योगों का ६०% तक। इसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय आय १८% बढ़ गई, योजना के पूर्व १९५०-५१ में जबकि भारतीय जन की वार्षिक औसत आय २५५) रु० थी, योजना पूर्ण होने के बाद यथा १९५५-५६ में वह बढ़ कर २८०) रु० हो गई। योजना की सफलता का स्पष्ट अनुमान निम्न तालिका से लग सकता है:—

खेती और उद्योग की वस्तुएँ	योजना प्रारंभ होने के पूर्व उत्पादन (१६५०-५१)	योजना में उत्पादन का लक्ष (१६५५-५६)	१६५४-५५ तक उत्पादन
खाद्यान्न (लाख टन)	५४०·०	६१६·०	६५५·०
कपास (लाख गांठें)	२६·७	४२·२	४३·६
जूट (लाख गांठें)	३३·०	५३·६	३२·०
गन्ना (लाख टन)	५६·०	६३·०	५५·०
तिलहन (लाख टन)	५१·०	५५·०	५६·०
कच्चा लोहा (लाख टन)	१५·७	२८·३	१७·७
इस्पात (लाख टन)	६·८	१६·५	१२·४
सीमेंट (लाख टन)	२६·६	४८·०	४४·१
एल्यूमीनीयम (हजार टन)	३·७	१२·०	५·५
खाद (अमोनियम सल्फेट) (हजार टन)	४६·०	४५०·०	३६४·०
,, सुपर फोस्फेट (हजार टन)	५५·१	१८०·०	१०२·०
इंजिन (संख्या)·········	७	४३८	१०३
कपड़ा (लाख गज)····	३७१८०	४७०००	५०५००
हाथ कर्घे का कपड़ा (लाख गज)	७४२०	१७०००	१४५००
बाइसिकल (हजार)····	१०१	५३०	३६३

वर्तमान काल में–विशेषतः १६३५-४० के बाद से देश के सामने एक बड़ी समस्या यही रही है कि यहां की जनसंख्या तो तीव्रगति से बढ़ती हुई जारही है, किन्तु उसी अनुपात में खाद्यान्न का उत्पादन नहीं बढ़ रहा है। जबकि १७वीं सदी के प्रारंभ–अकबर बादशाह के जमाने–

में समस्त भारत की जनसंख्या अनुमानतः १० करोड़ थी, एवं सन् १९२१ ई० में पाकिस्तान के हिस्से को छोड़कर देश की जनसंख्या केवल लगभग २४ करोड़ थी, वह १९५१ में आकर लगभग ३६ करोड़ तक पहुंच गई। राज्य, (सरकार) जिस पर यह उत्तरदायित्व माना जाता है कि वह सभी नागरिकों के लिए जीवन निर्वाह और सांस्कृतिक विकास के साधन उपलब्ध करे, परेशानी महसूस करने लगा कि इस तेजी से बढ़ती हुई जन संख्या के लिए इतनी ही तेजी से साधन कहां से और कैसे जुटाये जाएँ। प्रथम बार भारत के सामाजिक जीवन के इतिहास में देश की सरकार को एवं व्यक्तियों को यह ख़याल पैदा हुआ कि संततिनिग्रह एवं परिवार नियोजन भी मनुष्य-साध्य एक व्यवहार हो सकता है। आर्थिक योजना कमीशन (१९५० ई०) ने सचमुच इस बात पर जोर दिया कि परिवार सीमित रक्खे जाने चाहिएँ। १९५१ ई० की जनगणना रिपोर्ट में भी यह सिफारिश की गई थी कि जनसंख्या और जीवन-निर्वाह के साधनों में साम्य बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि एक माता पिता के ३-४ संतान होने के बाद उनकी अभिवृद्धि पर रोक लगाई जाए, एवं साथ ही साथ खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाया जाए। स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ वर्ष पहिले से भारतीय समाज के सामने खाद्यान्नों की कमी की समस्या ही प्रमुख रही है। इसी लिए दिमाग़ लगाकर बातें सोची गईं कि उत्पादन बढ़ाने के लिए ऊसर पड़ी भूमि को किस प्रकार उर्वरा बनाया जाए, सूखे भूखंडों की कैसे सिंचाई की जाए। अतः देश की आर्थिक योजनाओं के अग स्वरूप आधुनिक इंजीनियरिंग-विज्ञान के आधार पर देश में कई बहु-उद्देशीय नदी-घाटी योजनाएँ बनाई गईं; बहु-उद्देश्यीय उनका नाम इस लिए पड़ा कि उनसे कई लाभ एक साथ सिद्ध होंगे, यथा—करोड़ों एकड़ भूमि की सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध होगा, कई प्रान्तों, जैसे बिहार और बंगाल में धन-जन, पशु एवं खेतों को विनिष्ट कर डालने वाली बार बार जो बाढ़ें आजाती हैं उनपर नियंत्रण हो सकेगा; एवं यांत्रिक

और दूसरे छोटे-मोटे उद्योगों को चलाने के लिए विशाल मात्रा में विद्युत-शक्ति पैदा की जा सकेगी। प्रमुख योजनाएँ ये हैं:–(१) पंजाबमें सतलज नदी पर भाखरा नांगल योजना, जिसके अनुसार सतलज के आरपार दो विशाल बांध, यथा भाखरा और नांगल, और दो विशाल विद्युत-केन्द्र बनेंगे, एवं कई नहरें निकलेंगी। योजना पूरी होजाने पर पंजाब और राजस्थान में लगभग ३६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी और दोनों विद्युत-केन्द्रों से १ लाख ४४ हजार किलोवाट विद्युत-शक्ति पैदा की जासकेगी। (२) हीराकुंड बांध योजना, जिसके अनुसार उड़ीसा में महानदी पर १५ हजार फीट लंबा एक बांध बनेगा जो संसार का सब से अधिक लंबा बांध होगा। इसके फल स्वरूप २५० वर्गमील की पानी की एक झील बन जाएगी जो नहरों द्वारा १८ लाख एकड़ भूमि का सिंचन करेगी। इस योजना में लगभग ७१ करोड़ रुपया खर्च होगा। (३) दामोदर घाटी योजना: बिहार और बंगाल में भयंकर बाढ़ लाने वाली दामोदर नदी पर भिन्न भिन्न स्थानों पर आठ बांध और आठ विद्युत-शक्ति केन्द्र बनाए जाएंगे। (४) तुगंभद्रा योजना: दक्षिण भारत के आंध्र राज्य में कृष्णा की सहायक तुंगभद्रा नदी पर ७९४२ फीट लंबा और १५० फीट ऊंचा एक बांध बनाया जाएगा जिससे लगभग ७ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी और १८ हजार किलोवाट विद्युत-शक्ति के दो केन्द्र स्थापित किए जाएंगे।

इसी प्रकार पश्चिमी बंगाल में मयूराक्षी बांध-योजना, बम्बई में ताप्ती नदी पर ककरापारा योजना, आंध्र और उड़ीसा में मच्छकुंड योजना, बिहार में कोसी बांध योजना, दक्षिण भारत में कृष्णा-नदी-घाटी योजना, एवं मध्यभारत और राजस्थान में चम्बल-नदी योजनाओं का निर्माण हुआ है और उनके अनुसार काम हो रहा है। १९५५-५६ ई० तक इन योजनाओं से कितना-कुछ लाभ हो सका है, यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो सकेगा:–

प्रमुख नदी-योजनाएँ—उनका लक्ष, प्रथम पंच-वर्षीय योजना काल में उन पर व्यय एवं उनसे लाभ

योजना	कुल व्यय जो १९५१ से १९५५-५६ तक हो चुका है	सिंचाई लाभ		विद्युत-शक्ति लाभ	
		योजना पूर्ण होने पर	१९५५-५६ तक सिंचित भूमि	योजना पूर्ण होने पर	१९५५-५६ तक
	रुपए करोड़ों में	एकड़ भूमि हजारों में	एकड़ भूमि हजारों में	किलोवाट हजारों में	किलोवाट हजारों में
भाखरा-नांगल	७७	३,६०४	१,३६१	११४ (केवल नांगल)	९६
दामोदर घाटी	४१	१,१४१	५९५	२५४	१५४
हीरा कुंड	४४	१ ७८५	२६१	१२३	—
उक्त योजनाओं पर १९५१–५६ में विशेष व्यय	५०	—	—	—	—
नई योजनाएँ (कोसी, कृष्णा, चंबल इत्यादि)	३०	—	—	४२९	
कुल	२४२	६ ५३०	२,२१७	९२०	२५०

यह सब कुछ हुआ और होरहा है, किन्तु देश इतना विशाल है, लगभग २०० वर्ष की गुलामी भोग चुका है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में युद्ध

का वातावरण बना हुआ है और शस्त्रीकरण की होड़ लगी हुई है. अतः बहुत कुछ करते हुए भी बहुत कुछ नहीं हो सका; प्रथम पंच-वर्षीय योजना की सफलता का प्रभाव साधारण जन विशेष महसूस नहीं कर सका। फिर भी यहां के किसानों के हित में स्वतंत्र भारत के प्रथम दस वर्षों में बहुत कुछ हुआ; ब्रिटिश काल से आती हुई जमींदारी और ताल्लुकदारी प्रथाओं का धीरे धीरे उन्मूलन किया गया, किसानों को अच्छा खाद देने के लिए खाद के कारखाने खोले गए, और सहकारिता के भाव से काम करने की प्रेरणा देने के लिए सरकारी मदद से किसानों की अनेक सहकारी समितियां खोली गईं।

स्वतंत्र होने के बाद विश्व के देशों में भारत का मान बढ़ा, संयुक्त राष्ट्रसंघ का यह एक प्रमुख सदस्य माना गया और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी आवाज ग़ौर से सुनी जाने लगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसने सत्य और न्याय के आधार पर निर्मित अपना एक स्वतंत्र ही मार्ग अपनाया जिसके उन्नायक थे देश के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू। उनकी विदेश नीति संसार में पंचशील के नाम से प्रसिद्ध हुई। पंचशील अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए एक पंचमुखी सिद्धांत है, यथा, (१) देशों में एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता एवं सार्वभौमिकता का सम्मान (२) पारस्परिक अनाक्रमण (३) देशों के आंतरिक मामलों में पारस्परिक अहस्तक्षेप (४) समानता तथा पारस्परिक हित (५) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, अर्थात् यह भाव कि विभिन्न विचार धाराओं वाले देश मित्रतापूर्वक रह सकते हैं। अंतिम सिद्धान्त पंचशिला का आधार भूत सिद्धांत कहा जा सकता है क्योंकि इसमें अन्य चारों सिद्धांतों का समावेश होजाता है। इस नीति को बल मिला रूस, चीन, हिंदेशिया, यूगोस्लेविया, पोलैण्ड, बर्मा, लंका, अफगानिस्तान, मिश्र इत्यादि ३२ देशों के नैतिक समर्थन से।

मार्च १६५२ से मार्च १६५७ तक ५ वर्ष के बाद केन्द्रीय लोक-सभा एवं विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं का कार्य-काल समाप्त

हुआ, अतः मार्च १९५७ में देश में दूसरे आम चुनाव हुए। इस बार भी प्रमुखतः वे दल जिन्होंने चुनाव लड़े प्रायः पूर्ववत ही थे–यथा, कांग्रेस, साम्यवादी दल, समाजवादी दल, एवं जनसंघ। फिर केन्द्र में, एवं एक राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में कांग्रेसी सरकार का निर्माण हुआ। फिर डा० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति एवं डा० राधाकृष्णन उप-राष्ट्रपति निर्वाचित हुए, एवं केन्द्र में पं० नेहरू के नेतृत्व में सरकार का निर्माण हुआ। केरल वह एक राज्य था जहां साम्यवादी दल की विजय हुई और साम्यवादी सरकार की स्थापना। केरल राज्य में खुले आम चुनावों के आधार पर साम्यवादी सरकार की स्थापना विश्व-इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना थी। इस बार कांग्रेस दल ने यह घोषणा की थी कि देश में समाजवादी व्यवस्था कायम करना उसका उद्देश्य रहेगा। इसी को दृष्टि में रखते हुए इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीय-करण और उसकी जगह स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण १ जुलाई १९५५ ई० के दिन होचुका था; जीवन बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीय करण १ जनवरी १९५६ ई० के दिन राष्ट्रपति के एक विशेष आदेशानुसार कर लिया गया। देश के सबसे बड़े उद्योग–रेल यातायात पर भी राजकीय (राष्ट्रीय) स्वामित्व है। विशाल पैमाने पर देश में जो आधारभूत उद्योग खोले जारहे हैं या जिन पूर्वस्थित बड़े उद्योगों को बढ़ाया जारहा है, जैसे विशखपट्टम में जहाज का कारखाना–दी हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड; बंगलोर में हवाईजहाज का कारखाना–दी हिन्दुस्तान ऐअरक्राफ्ट लि०; चितरंजन में रेल इञ्जिन बनाने का कारखाना; सिंदरी में खाद बनाने का विशाल कारखाना; रूस के विशेषज्ञों की मदद से बनाए जाने वाला भिलाई (मध्य-प्रदेश) में इस्पात का विशाल कारखाना, इत्यादि–ये सब राष्ट्रीयकरण के आधार पर संगठित होरहे हैं, एवं समाजवादी समाज की रचना का आदर्श सामने रखते हुए ही सरकार ने दूसरी पंचवर्षीय योजना (१९५६–१९६१ ई०) का निर्माण किया है। उसको पूरा करने में देश आज (१९५७) संलग्न है। ऐसा

मालूम होता है कि भारतीय इतिहास में समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की ओर गति उसी ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक अंग है जो सारे विश्व में आज होती हुई दिखलाई दे रही है। प्रथम महायुद्ध मे संसार के विशाल भूखंड रूस में शोषणहीन, वर्गहीन समाजवादी समाज की स्थापना हुई, और उसी से प्रेरणा मिली विश्व के बहुजन मानव समुदाय को मानव-साम्य पर आधारित नई समाजवादी सभ्यता के लिए संघर्ष करने की। दूसरे महायुद्ध के बाद संसार के एक दूसरे विशाल भू-खण्ड एवं विशाल जनसमुदाय वाले देश चीन में समाजवाद की स्थापना हुई। इस प्रकार आधा विश्व समाजवादी बन गया। ऐसे ही समाज की स्थापना के लिए प्रायः प्रत्येक देश का मानव आज गतिशील है, मानों मानव की चेतना और इतिहास स्वयं अपनी प्रगति के लिए इस क़दम को अनिवार्य मानता है कि विश्व में ऐसी सामाजिक व्यवस्था कायम हो जिसमें व्यक्ति को अपनी आजीविका के लिए पर मुखापेक्षी न होना पड़े एवं आजीविका की साधनहीनता के भय से, एवं हीनता की भावना से वह मुक्त हो। भारत में महात्मा गांधी के आत्मीय-साथी संत विनोबा भी विश्व के भविष्य में ऐसे ही समाज का दर्शन कर रहे हैं। इस दृष्टि से प्रेरित होकर कि जिस प्रकार "राम" की दी हुई हवा और पानी सभी के हैं उसी प्रकार भूमि भी (जो प्रतीक है भौतिक-धन की) सभी की है, संत विनोबा ने १९५१ ई० के प्रारंभ में एक आन्दोलन प्रारंभ किया—भू-दान यज्ञ आंदोलन। इस आन्दोलन का मूल-आधार यह सिद्धान्त है कि समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति की मान्यता पाप है; सभ्य-संस्कृत मानव-समाज वही है जिसमें आर्थिक-सामाजिक विषमताएँ न हों। देश में यह आंदोलन प्रगति पर है। सितंबर १९५५ तक ४० लाख एकड़ भूमि भूदान द्वारा जमींदारों से प्राप्त की जाचुकी और इसमें से लगभग २१ लाख एकड़ भूमिहीन किसानों में बांटी जाचुकी है।

भारत आज (१९५७ ई०) एक "महामानव" है। स्वतंत्रता के बाद १० वर्षों में इस महामानव ने बहुत कुछ पाया किन्तु फिर भी इसके सामने

आज समस्याएं विकट हे : स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए न तो संतुलित भोजन पर्याप्त है, न रहने के लिए स्वच्छ घर, और न चेतनाके विकास के लिए पर्याप्त विद्यालय, और न इन सब साधनों को जुटाने के लिए धन। पड़ोसी देश पाकिस्तान से इसका झगड़ा चलता रहता है और विश्व में छाई हुई है आशंकित युद्ध की विभीषिका जिससे अपने आप को यह अछूता नहीं रख सकता। ऐसी विकट परिस्थितियां होते हुए भी यह महामानव, ऐसा प्रतीत होता है, इस समय व्यक्तिगत स्वार्थ के वशीभूत है। चोटी के शासकों से लेकर साधारण जन तक अधिकतर लोग इसी फिक्र में हैं कि किस तरह वे अपने लिए धन बटोरलें,—राष्ट्र का क्या होता है, इसकी उन्हें विशेष चिंता नहीं। वस्तुतः इस महामानव में वह सामाजिकता की भावना नहीं आपाई है जो यह समझ सके और महसूस कर सके कि व्यक्ति का कल्याण समाज या राष्ट्र के सामूहिक उत्थान और समृद्धि में निहित है। राष्ट्र के नेता, जिनके हाथ में देश के शासन की बागडोर है, साधारण जन में इस प्रकार की चेतना जागृत करने में असफल रहे हैं। इस असफलता के दो मुख्य कारण दिखलाई देते हैं:–पहला तो यह कि देश के विभिन्न प्रान्तों (राज्यों) के अधिकतर शासनकर्ता-नेता स्वयं अपनी आर्थिक स्थिति सुरक्षित करने के लिए एवं अपने कुटुम्ब का जीवन और सांस्कृतिक मान एकदम ऊंचा उठालेने के लिए–मानों वे साधारणजन से उच्चतर किसी कोटि के प्राणी हों–धन एकत्र करने की इच्छा में लिप्त हैं; दूसरा, स्वतंत्रता के १० वर्षों के उपरान्त भी वे नेता-शासनकर्ता ऐसी आर्थिक-सामाजिक स्थिति नहीं पैदा कर पाए हैं जिसमें साधारण नागरिक, और युवक–(भावी नागरिक) अपने आपको बेकारी के भयसे मुक्त पाते और उनके मन में यह विश्वास जम पाता कि राज्य सचमुच लोक-कल्याण की भावना से, गांधी की भावना से, चलाया जारहा है। १९४७ से १९५७ ई० तक के स्वतंत्र भारत के इतिहास का यह एक कटु सत्य है। नेताओं का काम है कि भारतीय महामानव में वे सामाजिक चेतना जगाएं–स्वयं त्याग एवं

प्रशासनीय सत्ता के प्रति निर्लिप्त भावना का उदाहरण प्रस्तुत करके एवं दृढ़तापूर्वक ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था कायम करके जिसमें जनजन को यह विश्वास हो सके कि वह कभी बेकार न रह पाएगा, उसके जीवन-निर्वाह का साधन बना रहेगा।

यदि देश मे सामाजिक चेतना उत्पन्न न हो पाई और शीघ्रातिशीघ्र जनजन में निर्भयता और आर्थिक सुरक्षा का भाव उत्पन्न करनेवाली व्यवस्था नहीं बैठ पाई तो राष्ट्रीय जीवन में एक महासंकट की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। नेताओं को इस बात का भान है। सबसे बड़ी आशा और शक्ति का स्रोत भारत का जन साधारण ही है। उसके चित्त में लोक के प्रति सद्भावना है। लोक-कल्याण की किसी भी राह पर चलने के लिए प्रसन्नता से वह उद्यत हो सकता है,—गांधी की तरह निस्वार्थ भाव से उसका विश्वास भर पाने की आवश्यकता है।

(५२)

यूरोप के आधुनिक राजनैतिक इतिहास का अध्ययन

(१६४८-१८१५ ई०)

भूमिका

१६वीं शताब्दी के उदयकाल में मध्ययुग के अन्धेरे को दूर करता हुआ रिनेसां आया, और फिर धार्मिक सुधार की लहर, जो अपनी प्रतिक्रिया पैदा करती हुई यूरोप के सामाजिक राजनैतिक जीवन में सन १६४८ ई० तक घुल मिलकर लुप्त होगई। सन् १६४८ ई० के बाद सन् १६५० ई० तक के यूरोप के राजनैतिक इतिहास का हम ६ विभागों में अध्ययन कर सकते हैं।

१. १६४८–१७८६ ई०—"राजाओं के दिव्य अधिकार" (Divine Right of Kings) के विचार के आधार पर निरंकुश राजतन्त्र का युग।

२. १७६०–१८१४ ई०—निरंकुश राजतन्त्र की प्रतिक्रिया में फ्रांस की जनतन्त्रवादी राज्य-क्रान्ति (१७८६–१८४० ई०); फिर क्रांति से उदभूत सम्राट नेपोलियन की यूरोप में हलचल, विजय और अंत में पराजय।

३. १८१५–१८७० ई०—नेपोलियन के बाद फ्रांस की क्रांति की प्रतिक्रिया में राजतन्त्र को सुरक्षित करने के लिये यरोपीय राष्ट्रों की

वियेना कांग्रेस (१८१५ ई०)। फिर राजतन्त्र और जनतन्त्र में द्वन्द्व; अनेक क्रांतियां और अन्त में जन-तन्त्र की प्रधानता।

विश्व इतिहास

४. १८७१-१९१६ ई०—यूरोप का इतिहास विश्व-राजनीति और विश्व-इतिहास में परिणत हो जाता है। यूरोप का सम्राज्यवादी एवं औपनिवेशिक विस्तार; अमरीका, अफरीका, आस्ट्रेलिया इत्यादि देशों का इतिहास में पदार्पण; यूरोप की धनजन शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि; शक्ति संतुलन के लिये यूरोपीय राष्ट्रों में राजनैतिक गुटों का निर्माण; अन्त में संसार व्यापी प्रथम महायुद्ध जिसकी परिणति वर्साई की संधि और 'राष्ट्रसंघ' में होती है।

५. १९२०-१९४५ ई०—प्रथम महायुद्ध के बाद वर्साई की संधि के विरुद्ध विजित राष्ट्रों में एकतन्त्रीय तानाशाही राज्यों का उत्थान; फलतः जनतन्त्र राज्यों से विरोध; अन्त में संसार व्यापी द्वितीय महायुद्ध जिसकी परिणति "संयुक्त राष्ट्रसंघ" में होती है।

६. १९४६-१९५६ ई०—द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के बाद जनतन्त्रवादी और एकतन्त्रीय भावनाओं में द्वन्द्व—पूंजीवादी और समाजवादी देशों में परस्पर शीतयुद्ध की स्थिति।

१. यूरोप–निरंकुश राजतन्त्र (१६४८–१७८९ई०)

(वेस्टफेलिया की सन्धि से फ्रांस की राज्यक्रांति तक)

१७वीं शताब्दी के मध्य तक (वेस्टफेलिया की संधि १६४८ ई० तक) यूरोप में जिन दो शक्तियों का प्रभाव था—रोम का पोप और पवित्र रोमन साम्राज्य–वे समाप्त हुई। धार्मिक सुधारवाद की लहर ने तो पोप की स्थिति को साधारण बना दिया और जर्मनी के तीस वर्षीय धार्मिक युद्ध ने पवित्र साम्राज्य को प्रायः समाप्त कर दिया; वह केवल नाममात्र को रह गया। मध्य युग के इन भग्नावशेषों पर १७वीं व १८वीं शताब्दी में उत्थान हुआ एक-तन्त्रीय राजाओं का। १७वीं शताब्दी में यूरोप में राज्य सम्बन्धी एक नये विचार ने जोर पकड़ा। वह यह कि राजा ईश्वर की ओर से नियुक्त होता है इसलिए जिस प्रकार ईश्वरीय आदेश न मानना पाप है उसी प्रकार राजा के विरुद्ध भी आचरण करना पाप है। राजा इस पृथ्वीतल पर ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। राजा केवल ईश्वर के सामने उत्तरदायी है प्रजा के सामने नहीं। यदि राजा भूल भी करे तो प्रजा को उसकी भूलों का फल ईश्वर पर छोड़ देना चाहिये। राजाओं का यह अधिकार "दिव्य अधिकार" कहलाता था। इस विचार की कल्पना पोप और पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट के इस दावे के आधार पर ही हुई कि पोप और सम्राट इस संसार में ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। पहिले तो पोप अपने आपको ईश्वर का प्रतिनिधि समझता था किन्तु जब सम्राट का उससे झगड़ा होने लगा तो सम्राट ही खुद यह दावा करने लगा कि राजकीय मामलों में केवल वही एक ईश्वर का प्रतिनिधि है। पोप और सम्राट की शक्ति तो १७वीं सदी में समाप्त हो गई और उनके बदले यूरोपीय देशों के राजा स्वयं इस दिव्य अधिकार का दावा करने लगे। उस काल में इस अधिकार की पुष्टि करने के लिये अनेक बौद्धिक युक्तियों का भी प्रचार हुआ।

साथ ही साथ भिन्न भिन्न देशों के इन राजाओं में वंशगत (Dynastic) प्रश्नों को लेकर यूरोपियन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अनेक युद्ध हुए। ये राजा विशेषतः इसलिये लड़ते थे कि उनके राज्य का विस्तार हो और यूरोप में उनकी शान और रोबदोब में वृद्धि हो। इन दोनों भावनाओं का प्रतीक हम तत्कालीन फ्रांस के राजा लुई १४वें (१६६१–१७१५ ई०) को मान सकते हैं। इसलिये कोई कोई इतिहासकार यूरोप के इस काल को लुई १४ वें का युग कहकर पुकारते हैं। वस्तुतः लुई १४ वें के राजकाल में अथवा उत्तरार्ध सतरहवीं और पूर्वार्ध अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में फ्रांस का केवल राजनैतिक महत्व ही नहीं रहा किन्तु बौद्धिक व मानसिक क्षेत्र मे भी फ्रांस उस युग में यूरोप का नेता रहा। इस काल में यूरोप के राष्ट्रों विशेषतः होलैंड, इङ्गलैंड और फ्रांस में अपने अपने उपनिवेश एशिया और अमेरिका में बढ़ाने के प्रश्न को लेकर भी कई संघर्ष हुए। यह याद होगा कि सन् १५८८ ई० में इङ्गलैंड के हाथों अरमडा नामक स्पेन के जहाजी बेड़े की हार के बाद स्पेन की सामुद्रिक शक्ति और सामुद्रिक व्यापार का तो महत्व प्रायः समाप्त हो चुका था।

इङ्गलैंड में राजाओं का एकतन्त्री शासन ट्यूडर वंश के हेनरी सप्तम के राज्य काल से प्रारम्भ होता है। ट्यूडर वंश के राजा हेनरी अष्टम और फिर रानी एलिजाबेथ के राज्यकाल में इंगलैंड की उन्नति और समृद्धि भी खूब हुई और उनका एकतंत्रीय शासन भी सफलता पूर्वक चला। ट्यूडर वंश के बाद इङ्गलैंड में स्टुआर्ट वंश के राजाओं का राज्य शुरू हुआ और उन्होंने राजाओं के दिव्य अधिकार के सिद्धांत को मानकर लोगों के कानूनी अधिकारों पर कुठाराघात करना शुरू किया। प्रजा इसे सहन नहीं कर सकी। फलतः राजा और प्रजा में अधिकारों के लिये झगड़े प्रारम्भ हुए। सन् १६४२ से १६४८ तक गृह युद्ध हुआ जिसमें राजा और उसके सहायक एक ओर थे एवं पार्लियामेंट और उसकी फौजें दूसरी ओर। इस गृह युद्ध का अन्त जो कि इंगलैंड

की 'महान् क्रान्ति' कहलाती है सन् १६४८ में हुआ जब राजा चार्ल्स प्रथम को तो फांसी दी गई और इङ्गलैंड में कुछ वर्षों के लिये प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। प्रजातंत्र का नेता क्रोमवेल था। जबतक वह रहा तबतक तो प्रजातंत्र सफल रहा किंतु उसकी मृत्यु के बाद कोई सफल नेता नहीं निकल सका, देश की हालत खराब हो गई। अतः सबने यही सोचा कि चार्ल्स प्रथम के उत्तराधिकारियों को ही राज्य सौंप दिया जाये। सन् १६६० में राजतन्त्र की पुनर्स्थापना हुई किन्तु राजाओं ने फिर दिव्य अधिकार के सिद्धान्त पर अपनी शक्ति और अपने अधिकारों को बढ़ाना प्रारम्भ किया। फलतः फिर १६८८ ई० इङ्गलैंड में राज्य-क्रांति हुई—जो "शानदार क्रांति" (Glorious Revolution) के नाम से प्रसिद्ध है। लोगों ने अपने अधिकारों की घोषणा की—लोगों की शक्ति के सामने तत्कालीन राजा जेम्स द्वितीय को राजगद्दी का त्याग करना पड़ा। प्रजा के घोषित अधिकारों को मान्यता देकर ही नया राजा विलियम शासनारूढ़ हो सका। इस प्रकार इंगलैंड में राजाओं के एकतंत्रीय शासन का अन्त हुआ और वहां के इतिहास में वैधानिक राजतंत्र का युग प्रारम्भ हुआ।

फान्स में एकतन्त्रीय शासन का सबसे अधिक दबदबा लुई १४वें (१६६१–१७१५) के राज्यकाल में हुआ। राजाओं के दिव्य अधिकार का वह प्रतीक था। बड़ा ठाठदार और वैभवपूर्ण दरबार उसने स्थापित किया। उस जमाने में यूरोप के अन्य सभी राजा प्रत्येक काम में मानों लुई ही की नकल करते थे। लुई को कई कुशल मन्त्रियों का सहयोग प्राप्त था। उसके मन्त्री कोलबर्ट ने निर्यात् व्यापार की वृद्धि की, और अपने गृह उद्योगों को विशेषाधिकार देकर आयात व्यापार की तादाद में कमी की जिससे देश के धन में वृद्धि होती रही। आंतरिक और विदेशी मामलों में उसकी यही नीति रहती थी कि फ्रांस में राजा सर्व-शक्तिमान हो और यूरोप में फ्रान्स सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र हो। इसी उद्देश्य से राजा लुई को अनेक युद्ध लड़ने पड़े जिनमें स्पेन के

उत्तराधिकार के लिये लड़े गये युद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। स्पेन के राजा चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु के बाद जिसका कोई पुत्र नहीं था, वंशगत सम्बन्धों के आधार पर स्पेन की राजगद्दी के कई अधिकारी खड़े हो गये, जैसे बवेरिया का राजकुमार फर्डीनेंड, सम्राट लिओपार्ड (आस्ट्रिया—पवित्र रोमन साम्राज्य) एवं स्पेन के स्वर्गीय राजा की बहिन मेरिया थेरेसा जिसका विवाह फ्रान्स के राजा लुई १४वें से हो चुका था। इस ख्याल से कि इन उत्तराधिकारियों के झगड़ों की वजह से यूरोप में कहीं सर्वत्र युद्ध न फैल जाए, इन उत्तराधिकारियों में सन्धि करवा दी गई जिसके अनुसार स्पेन का साम्राज्य (जिसके आधीन स्पेन, बेलजियम एवं इटली के उत्तरीय प्रदेश थे) इन उत्तराधिकारियों में बांट दिया गया किन्तु फिर भी इन उत्तराधिकारियों में कुछ झगड़े चलते रहे, एवं फ्रांस का राजा लुई स्वयं यह चाहता रहा कि चूंकि उसकी स्त्री मेरिया थेरेसा स्पेन के भूतपूर्व राजा की बहिन थी इस लिए स्पेन का राज्य उसे मिलना चाहिए। वह चाहता था कि स्पेन और फ्रान्स मिलकर एक शक्तिशाली राज्य बन जायें। इसी प्रकार आस्ट्रिया का सम्राट भी यही चाहता था कि आस्ट्रिया व स्पेन मिलकर एक शक्तिशाली राज्य बन जायें। लूई की इस वृत्ति को देखकर इङ्गलेंड, होलेंड एवं रोमन साम्राज्य के सम्राट ने मिलकर फ्रान्स के विरुद्ध एक गुट्ट बनाया और स्पेन के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर आखिर युद्ध शुरू हो ही गये। सन् १७०१ से सन् १७१३ तक वे युद्ध चलते रहे; अन्त में सन् १७१३ में यूट्रेक्ट की सन्धि से युद्ध की समाप्ति हुई। इस सन्धि का यूरोप की राजनीति में विशेष महत्व है। इस संधि के अनुसार (१) लुई का पोता स्पेन का उत्तराधिकारी माना गया, इस शर्त पर कि फ्रान्स व स्पेन दोनों राज्य कभी मिल कर एक नहीं बनेंगे। (२) इटली में स्पेन के आधीन प्रदेश एवं नीदरलैण्ड का बेलजियम प्रदेश आस्ट्रिया के शासक अर्थात् पवित्र सम्राट को दे दिये गये। (३) प्रशा को एक स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया (४) इङ्गलेंड को जिब्राल्टर और

मिनेरिया जो स्पेन के आधीन थे दिये गये; और अटलांटिक महासागर में न्यूफाउण्डलैंड द्वीप भी जो फ्रांस के आधीन था इङ्गलैंड को दिया गया। इस प्रकार फ्रांस की प्रगति जो कि १७वीं शताब्दी में यूरोप का एकमात्र शक्तिशाली राष्ट्र बनने की ओर उन्मुख था सर्वदा के लिये समाप्त हो गई। नए राष्ट्रों का महत्व बढ़ने लगा विशेषतया इङ्गलैंड का जिसकी औपनिवेशिक और व्यापारिक शक्ति जिब्राल्टर और न्यूफाउण्डलैंड के मिलने से बढ़ गई थी। लुई १४वें के बाद फ्रांस में उतने विशाल व्यक्तित्व एवं प्रभुत्व वाला कोई राजा नहीं हुआ और अन्त में राजाओं का वह "दिव्य अधिकार" जिसकी पराकाष्ठा लुई में पहुंच चुकी थी फ्रांस की राज्य क्रान्ति में उड़ता हुआ दिखलाई दिया।

रूस

यूरोप के इसी एकतंत्रीय राज्यकाल में रूस में वहां के प्रसिद्ध राजा पीटर महान् (१६८२-१७२५ ई०) का उत्थान हुआ। उस समय रूस प्राय: अर्ध सभ्य सा देश था। पच्छिमी यूरोप में यथा इङ्गलैंड, फ्रांस, व जर्मनी में सामाजिक, व्यवसायिक एवं राजनैतिक और बौद्धिक उन्नति होचुकी थी। किंतु रूस अभी इस प्रगति से अनभिज्ञ था। पीटर (१६८२-१७२५) महान् ने इस स्थिति को समझा, उसने पच्छिमी यूरोप की यात्रा की और पाश्चात्य सभ्यता और प्रगति का अध्ययन किया एवं अपने देश को कड़े हाथों से व्यवस्थित एवं उन्नत करने का दृढ़ संकल्प किया। वह रूस का राज्य विस्तार करने में, पच्छिमी यूरोप की तरह सभ्यता की प्रगति करने में, राज्य को सुव्यवस्थित और शक्तिशाली बनाने में एव एक सुदृढ़ राष्ट्रीय सेना की रचना करने में सफल हुआ। पीटर ने यह सब स्वतंत्र सरदारों की शक्ति को दबाकर और अपना व्यक्तिगत एकतत्रीय शासन स्थापित करके ही किया। पीटर महान् को ही आधुनिक रूस का निर्माता माना जाता है। पीटर के बाद उसी तरह एक सम्राज्ञी हुई जिसका नाम केथेराइन द्वितीय (१७६२-९६) था। उसने पीटर महान् की नीति का अनुसरण किया, तुर्क लोगों से

काला सागर के उत्तर में क्रीमिया प्रदेश छीना। इस प्रकार काला सागर के सामुद्रिक रास्ते पर अपना प्रभुत्व बढ़ाया। पीटर महान् के ही राज्यकाल से रूस की आधुनिक सशक्त राष्ट्रों में गणना होने लगी।

प्रशा (Prussia) :–इसी काल में पवित्र रोमन साम्राज्य के एक अंग प्रशा राज्य का पृथक रूप से उत्थान हुआ। इस उत्थान का श्रेय वहां के शासक फ्रेडरिक द्वितीय महान् (१७४०–४६) को है। इस समय आस्ट्रिया का शासक पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट था। तत्कालीन सम्राट की मृत्यु पर आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के लिये साम्राज्य के भिन्न भिन्न राज्यों के शासकों में युद्ध हुए। इन युद्धों में फ्रेडरिक ने साम्राज्य का एक प्रमुख भाग सिलेशिया जीतकर प्रशा राज्य में मिला लिया। इस समय आस्ट्रिया और प्रशा के इस झगड़े को लेकर कि क्यों प्रशा ने सिलेशिया प्रान्त अपने राज्य में मिला लिया एवं इङ्गलैंड व फ्रान्स के बीच औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा को लेकर एक युद्ध छिड़ गया जो कि "सप्तवर्षीय" (१७५६–१७६३) युद्ध कहलाता है। एक पक्ष में आस्ट्रिया व फ्रान्स हुए और दूसरे पक्ष में इङ्गलैंड और प्रशा। कई घटनाओं के बाद युद्ध का अन्त हुआ और उसके दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले। १. प्रशा का उत्थान। "पवित्र साम्राज्य" के दो प्रमुख राज्यों में यथा आस्ट्रिया और प्रशा में नेतृत्व के लिये जो प्रतिस्पर्धा चल रही थी उसमें आस्ट्रिया पिछड़ गया और प्रशा का महत्व बढ़ गया। इसी से आधुनिक जर्मन राज्य की नींव पड़ी। तभी से प्रशा एक शक्तिशाली राष्ट्र माना जाने लगा। २. इङ्गलैंड और फ्रान्स की प्रतिस्पर्धा में फ्रांस पिछड़ गया। अमेरिका में कनाडा, नोवास्कोटिया एवं पच्छिमी द्वीप समूह के कई द्वीप जो फ्रान्स के आधीन थे इङ्गलैंड के हाथ लगे, एवं भारत में भी फ्रांसीसी महत्ता समाप्त हुई एवं अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप में सन् १६४८ से १७८९ ई० तक लगभग सवा सौ वर्षों तक, प्रायः निरंकुश एकतन्त्रीय राजाओं का

शासन रहा–राजाओं ने पूर्ण स्वेच्छा से भिन्न भिन्न देशों पर शासन किया। यह नहीं कि उन्होंने प्रजा का अहित किया हो बल्कि उन्होंने अपने अपने देशों का अपने अपने ढङ्ग से उत्थान किया और उनको सशक्त बनाया। इन राजाओं में अपने अपने देश की महत्ता बढ़ाने के लिये परस्पर जो व्यवहार रहा वह यही था कि किसी न किसी प्रकार सत्य या झूठ से, ईमानदारी या बेईमानी से उनकी शक्ति की, उनके व्यापार की, उनके राज्य की अभिवृद्धि और उन्नति हो। उनका परस्पर का सम्बन्ध अनैतिकता से भरा हुआ था। यूरोप के राजनैतिक इतिहास में यह परम्परा आज तक भी चली आती है।

यद्यपि स्वेच्छाचारी एवं एकतन्त्रीय शासकों ने राष्ट्रीय दृष्टि से अपने देशों का उत्थान ही किया हो किन्तु जहां तक जन साधारण के स्वत्वों का प्रश्न था, उनकी आर्थिक एवं सांस्कृतिक उन्नति का प्रश्न था, उनके जीवन के दुख दर्द का प्रश्न था वहां तक ये सब राजा और उनके राज्य उदासीन थे। किन्तु यूरोप में नई चेतना का विकास होरहा था, अनेक प्रतिभाशाली विचारकों और दार्शनिकों का उद्भव हुआ था जैसे फ्रांस में वोल्टेयर (१६६४–१७७८ ई०), मोंटेस्क्यू (१६८६–१७५५) और रूसो (१७१२–१७७८); इङ्गलेंड में जोहन लोक (१६३२–१७०४ ई०) इत्यादि। ये लोग निर्मूल धार्मिक विश्वासों, अन्धी सामाजिक मान्यताओं की जगह विवेक और बुद्धिवाद की स्थापना कर रहे थे। उनके क्रांतिकारी विचार धीरे धीरे लोगों की चेतना में प्रसारित हो रहे थे। इसी में क्रांति का मूल था।

फ्रांस की क्रान्ति (१७८६–१८०४ ई०)

१७वीं शती के मध्य से लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक यूरोप के देशों में राजाओं का एकतंत्रीय स्वेच्छाचारी शासन रहा। उनके शासन काल में देशों में व्यापार एवं व्यवसाय की एवं सैनिक शक्ति और राष्ट्रीय धन की चाहे अभिवृद्धि हुई हो किन्तु जनसाधारण के जीवन में कोई भी विशेष आर्थिक या राजनैतिक या सांस्कृतिक उन्नति नहीं हुई। उस समय प्रायः सर्वत्र यूरोप के समाज में आर्थिक दृष्टि से विशेषतः दो वर्ग

के लोग थे। एक वर्ग था धनी भूपति सरदार और पादरी लोगों का। भूपति या जमीनदार लोग बड़ी बड़ी कृषि भूमि के स्वामी थे। पादरी लोग भी भूपति या सरदारों के समान बड़ी बड़ी जागीरों के स्वामी थे और गिर्जाओं में जो कुछ भेंट और चढ़ावा आता था उसके भी वे भोक्ता थे। ये भूपति एवं पादरी लोग राज्य की ओर से सब प्रकार के करों से मुक्त थे। दूसरी ओर निम्न वर्ग के लोग थे। ये ही जनसाधारण लोग थे जिनकी संख्या उपरोक्त उच्च वर्ग के लोगों की अपेक्षा अत्याधिक थी। वास्तव में जनसंख्या का मूल भाग ये ही निम्न वर्ग के लोग थे। इन लोगों के पास खेती करने को अपनी जमीन बिल्कुल नहीं थी। सरदारों एवं पादरी लोगों की जागीरों में ये लोग मजदूरी करते थे। ये लोग दास तो नहीं थे किन्तु इनकी आर्थिक स्थिति दास लोगों की स्थिति से अच्छी नहीं थी। इस निम्न वर्ग में ही हस्त-कला कौशल और हस्त उद्योग करने वाले व्यक्ति भी थे। केन्द्रीय शासन की ओर से जितने भी कर लगे हुए थे उन सब का भार इस जन-साधारण वर्ग पर ही पड़ता था। राजकीय समस्त शक्ति राजा में, भूपति सरदारों में ही निहित थी, क्योंकि अब तक सामन्तवादी प्रथा प्रचलित थी। जन-साधारण की कुछ भी हस्ती या सत्ता नहीं थी, स्यात् वे ये माने हुए थे कि जन्म से ही ईश्वर ने उनको ऐसा बनाया है। इन सब के ऊपर यूरोप के प्राय: समस्त देशों में राजाओं की स्वेच्छाचारिता चलती थी। उनकी आज्ञा या इच्छा सर्वोपरि थी। उसके विरुद्ध कोई भी नहीं जासकता था। १८वीं शती के प्रारम्भ-काल में जब ऐसी राजनैतिक एवं सामाजिक अवस्था थी उसी समय एक प्रकार का मध्य वर्ग उत्पन्न होने लगा था। ये लोग विशेषकर व्यापारी या शिक्षित कर्मचारी थे। इन लोगों के मस्तिष्कों में तत्कालीन दार्शनिकों के, मोंटेस्क्यू, वोल्टेयर और रूसो के विचार और भाव क्रांति पैदा कर रहे थे। मध्य वर्ग का यह शिक्षित समुदाय सोचने लगा था कि किसी भी व्यक्ति अथवा वर्ग को दूसरे के ऊपर शासन करने का कोई अधिकार नहीं। प्रकृति ने न तो

किसी श्रेणी अथवा वर्ग को शासन करने के लिये उत्पन्न किया है और न किसी वर्ग को शासित होने को। सब मनुष्य समान हैं, स्वतन्त्र हैं। यदि मानव जंजीरों से, सामाजिक, मानसिक, गुलामी की जंजीरों से जकड़ा हुआ है तो ये जंजीरें तोड़ फेंककर उसे मुक्त होना चाहिये। शिक्षित मध्य-वर्गीय नवयुवकों के द्वारा ऐसे विचार जनजन में समा गये थे। एक नई चेतना उनमें जागृत हो रही थी और अन्दर ही अन्दर एक आग सुलग रही थी, बस किसी अवसर की प्रतीक्षा थी, वह अवसर आया नहीं कि आग भभक उठी—अग्नि की लपटें चारों ओर फैल गईं। केवल फ्रांस में ही नहीं बल्कि सारे यूरोप में। सन् १७७४ ई० में बोरबोन वंशीय लुई १६वां फ्रांस की राजगद्दी पर बैठा। बोरबोन वंशीय फ्रांस के राजा जिनमें प्रसिद्ध लुई १४वां भी एक था, बहुत खर्चीले थे; ठाठ-बाठ शान-शौकत में खूब पैसा अपव्यय करते थे, राज्य और प्रभाव बढ़ाने की महात्वाकांक्षा के फलस्वरूप युद्धों में भी बेहद खर्च होता था। अतएव जब लुई १६वें ने राज्य संभाला तब राज्य-कोष खाली था। राजा को धन की आवश्यकता हुई। धन मांगने के लिये राजा ने सामन्तों और पादरियों की एक बैठक बुलाई किन्तु उन स्वार्थी लोगों ने कुछ भी दाद नहीं दी। विवश हो राजाने राज्य की आर्थिक स्थिति पर परामर्श के लिये एवं रुपया मांगने के लिये एक जातीय सभा (State General) बुलाई जिसमें सामन्त और पादरी लोगों के अलावा जन-साधारण के प्रतिनिधि भी शामिल थे। साधारण जनता इस शर्त पर अपने प्रतिनिधि भेजने को तैयार हुई थी कि उनके प्रतिनिधियों की संख्या सामन्तों और पादरियों से दुगुनी हो। जातीय सभा में किसी बात पर बिचार होने के पूर्व सबसे पहिले तो यह झगड़ा उठा कि किसी बात का निर्णय करने के लिये प्रतिनिधियों के वोट किस तरह लिये जायें। सामन्त और पादरी यह चाहते थे कि हर एक श्रेणी पृथक पृथक मत दे, किन्तु जनता के प्रतिनिधि यह चाहते थे कि मत व्यक्तिगत प्रतिनिधि का लिया जाए और उसके आधार पर ही प्रश्नों

का निर्णय हो। यह बात स्पष्ट थी कि यदि मत श्रेणीगत लिये गये तो शक्ति सामन्तों और पादरियों तथा उच्च वर्ग के ही हाथ में रहेगी। किन्तु यदि मत व्यक्तिगत लिये गये तो सत्ता और शक्ति उच्च वर्ग के हाथ से निकल कर उस साधारण जनता के हाथ में आ जायेगी, जिस पर राजा और उच्च वर्ग अब तक मनमाना राज्य करते आये थे और जिसको अब तक वे मनमाने ढङ्ग से दबाते हुए आये थे। जनता की इस मांग का सामन्तों ने तीव्र विरोध किया—बस इसी बात पर झगड़ा प्रारम्भ होता है और यहीं से क्रान्ति की शुरुआत होती है। सन १७८९ ई० की यह बात है। जनता के प्रतिनिधियों ने घोषणा की कि वे समस्त राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं, राष्ट्र की ओर से उन्हें अधिकार है कि वे राज्य का एक विधान तैयार करें,-और उसी विधान के अनुसार जिसका वे निर्माण करें, भविष्य में राज्य का संचालन हो। जनता के प्रतिनिधियों में उच्च वर्ग के कुछ समझदार लोग भी आ मिले थे—वस्तुतः जातीय सभा (स्टेट्स जनरल) अब एक जातीय संविधान सभा के रूप में परिवर्तित हो गई थी और इसके सदस्य जनता के प्रतिनिधि इस बात पर डट गये थे कि वे राज्य का विधान बनाकर ही उठेंगे। जिस उद्देश्य से राजा ने सभा बुलाई थी वह तो सब हवा हो चुका था। राजा और उसके सलाहकार यह बात सहन नहीं कर सके। राजा ने सभा को बंद कर डालने की आज्ञा दी। सभा-भवन से तो लोग बाहर निकल आये किन्तु एकत्रित सभा पहिले तो एक टैनिस कोर्ट पर, फिर एक गिरजा में होने लगी। गिरजा के बाहर जनता एकत्रित थी। राजा ने सेना बुला भेजी; इसने जनता के दिमाग में जो पहिले से ही क्रुद्ध था और भी गरमी पैदा कर दी—पेरिस की जनता ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया और उनके झुंड के झुंड अपने अपने दिलों में भभकती आग लेकर पेरिस के उस विशाल किलानुमा जेलखाने (Bastille) की ओर चल पड़े जो राजाओं की क्रूरता, नृशंसता और स्वेच्छाचारिता का काला प्रतीक खड़ा था। राजा की सेनाओं से भयङ्कर टक्कर हुई। जनता

की शक्ति के सामने वे नहीं ठहर सके; जनता ने उस बेस्टिल को, उस काले प्रतीक को उखाड़ फेंका,—उसे मिट्टी में मिला दिया। १४ जुलाई १७८६ को यह घटना हुई। यह दिन 'स्वतन्त्रता और समता की भावना' का विजय दिन था। तभी जनता की प्रतिनिधि जाति सभा ने सार्वभौम मानव अधिकारों की घोषणा की कि सभी मनुष्य समान और स्वतन्त्र हैं—कानून जनता की इच्छा का प्रकाशन है अतः वह सबके लिये समान होता है, कानून के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। राजनैतिक अधिकार या शासन सत्ता सम्पूर्ण जनता में निहित है, न कि किसी एक व्यक्ति या वर्ग विशेष में। इस घोषणा ने हजारों वर्षों की सामाजिक, राजनैतिक मान्यताओं को बदल डाला। नये समाज की रचना का सूत्रपात हुआ—केवल फ्रांस में ही नहीं, किन्तु समस्त यूरोप में,—केवल यूरोप में ही नहीं, किन्तु समस्त विश्व में।

स्वतंत्रता, समानता और प्रजातन्त्र के नये विचारों का उत्थान और प्रगति देखकर यूरोपीय देशों के अन्य राजा जैसे इङ्गलैंड, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, होलैंड, पोलैंड, पुर्तगाल, पवित्र रोमन साम्राज्य इत्यादि के राजा चौकन्ने हुए और उन्होंने नई चेतना की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का संकल्प किया। फ्रान्स का राजा लुई भी इन राजाओं के साथ मिलने का षड्यन्त्र करने लगा। फ्रांस की जनता को इसका पता लगा। उसके क्रोध का पारावार नहीं रहा। जनता ने सन् १७९२ में प्रजातन्त्र की घोषणा की एवं तुरन्त बादशाह लुई को सूली पर चढ़ा दिया और जहां कहीं भी पेरिस में, फ्रांस में, राजाओं और राजशाही के पोषक में कोई भी लोग, सामन्त या पादरी मिले, उन सबका निर्विरोध वध कर दिया गया। राज्य वंश को समूल नष्ट करने के लिए स्वयं लुई की रानी को भी गुईलोटिन (फांसी) की भेंट कर दिया गया। इसी गुईलोटिन पर फ्रांस के हजारों व्यक्तियों का जिन पर राजाओं के पोषक होने का सन्देह था खून बहाया गया। सामन्तवाद, मजहबी पाखण्डवाद समूल नष्ट कर दिये गये। जन सत्तात्मक विचारों का प्रचार करने के लिये फ्रान्स के

आसपास देशों में हलचल पैदा की गई। दूसरे देशों के साथ युद्ध ठन गये। दूसरे देश फ्रान्स और फ्रान्स के जनतन्त्र को बिल्कुल कुचल डालना चाहते थे—जिससे राजाओं की सत्ता हर जगह बनी रहे, किन्तु फ्रान्स के जनतन्त्र की सेनायें स्वतन्त्रता के भाव से प्रेरित होकर उत्साह से लड़ती थीं। दूसरे देश फ्रान्स को कुचल नहीं सके बल्कि नई चेतना उन देशों में फैल गई और उन्हें जनतन्त्रवादी फ्रान्स की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इन युद्धों में कोर्सिका द्वीप के एक सिपाही ने जिसका नाम नेपोलियन था और जो फ्रान्स की जनतन्त्रवादी सेना में भर्ती हो गया था, बड़ी वीरता और युद्ध कौशल का परिचय दिया था। अतः फ्रान्स की सेना में सेना नायक के पद तक पहुंच गया था, और उसीके नेतृत्व में क्रान्तिकारी फ्रान्स ने यूरोप के देशों पर विजय प्राप्त की थी।

किन्तु धीरे धीरे प्रजातन्त्रवाद का जोश ठण्डा हो रहा था। वे नेता लोग जो क्रान्ति का संचालन कर रहे थे, यथा डाल्टन, रोब्सपीयर एवं अन्य, विचार भेद से कई दलों में विभक्त हो गये थे। उनके पारस्परिक विरोध ने जनता में और भी शिथिलता पैदा कर दी थी। जाति-विधान-सभा ने यह परिस्थिति देखकर ऐसा उचित समझा कि शासन का भार कुछ इने गिने कुशल व्यक्तियों को सौंप दिया जाये। अतएव उसने पांच सदस्यों की एक समिति (Directory) बनाई और उसी को व्यवस्था भार सौंप दिया। फ्रान्स धीरे धीरे अपने विजित देश खोने लगा था, अतः नेपोलियन को, जो इस समय इटली और मिश्र में फ्रांस की विजय पताका फहरा रहा था, फ्रांस लौटना पड़ा। वह फ्रांस में अत्याधिक लोकप्रिय हो चुका था। व्यवस्था-समिति का वह एक सदस्य बना, किन्तु सुअवसर देखकर उसने व्यवस्था-समिति को ही तिरस्कृत कर दिया और स्वयं फ्रांस का अधिनायक बन बैठा। फ्रान्स ने–जो नेपोलियन से प्रभावित था–इस स्थिति को मंजूर कर लिया। यह घटना सन् १७९९ ई० में हुई। सन् १७९९ से १८०४ ई० तक फ्रांस में नाम मात्र वैधानिक ढङ्ग

मे किन्तु वस्तुतः एकतन्त्रवादी ढङ्ग से नेपोलियन राज्य करता रहा—और फिर १८०४ ई० में सब विधि-विधान को हटाकर उसने आप को फ्रांस का "सम्राट" घोषित कर दिया। इस प्रकार चाहे क्रान्ति—समता, स्वतंत्रता एवं जनतन्त्र के लिए क्रांति—एक प्रकार से समाप्त होती है किन्तु चेतना जो जागृत हो चुकी थी वह बार बार दबाई जाने पर भी बार बार उभरी। फ्रांस में समता और स्वतन्त्रता की चेतना के विकास का अध्ययन घटनाओं की निम्न लिखित रूपरेखा से हो सकता है।

१. (१७८९–१७९९ ई०)—फ्रांस की क्रान्ति; स्वतन्त्रता, समता की घोषणा; राजा, सामन्त और पादरी वर्ग का उच्छेदन और जनतन्त्र की स्थापना।
२. (१७९९–१८१५ ई०)—नेपोलियन का उत्थान, फ्रान्स में जनतन्त्र की समाप्ति एवं नेपोलियन की राज्य-शाही।
३. (१८१५–१८३० ई०)—सन् १८१५ ई० में नेपोलियन के पतन के बाद फ्रान्स में प्राचीन राज्य वंश के राजा की स्थापना और उन राजाओं की एक-तन्त्रवादी राज्यशाही। अन्त में १८३० में जनता द्वारा एक बार फिर क्रान्ति।
४. (१८३०–१८४८ ई०) वैधानिक राजशाही (Constitutional monarchy) की स्थापना; उदार सामाजिक भावनाओं की विजय; १८४८ ई० में फिर एक राज्य-क्रांति और दूसरी बार प्रजातन्त्र (Republic) की स्थापना।
५. (१८४८–१८५२ ई०) द्वितीय प्रजातन्त्र काल। १८५२ ई० में नेपोलियन के भतीजे नेपोलियन द्वितीय द्वारा प्रजातन्त्र का उच्छेदन और स्वयं अपने आपको सम्राट घोषित कर देना।
६. (१८५२–१८७० ई०) नेपोलियन द्वितीय की राज्यशाही। फिर अन्त में १८७० में राज्य क्रान्ति और अनेक झगड़ों के बाद तीसरी बार प्रजातन्त्र की स्थापना।
७. १८७० ई० से आजतक स्थायी प्रजातन्त्र (Republic)।

यह है फ्रान्स की राज्य क्रान्ति के उत्थान, पतन और फिर उत्थान का इतिहास।

फ्रांस की क्रांति-एक सिंहावलोकन—फ्रांस की क्रांति यूरोप में राजाओं के निरंकुश एकतंत्रवादी युग के बाद हुई, ऐसा होना स्वाभाविक था। इस क्रांति का प्रभाव और इसकी हलचल फ्रांस तक ही सीमित नहीं थी। यह घटना तो हुई १८वीं शताब्दी में (सन् १७८९ ई० में), किंतु उसने जो हलचल पैदा की वह संसार में अब भी विद्यमान है। मानव का परम्परागत, संस्कारगत यह भाग्यवादी विश्वास शताब्दियों से बना हुआ था कि मानव मानव में जो विषमता है (अर्थात् जैसे कोई धनी है, कोई निर्धन, कोई उच्च वर्गीय है तो कोई निम्न वर्गीय, कोई राजा है कोई रंक) इसका कारण ईश्वरेच्छा है, या जैसा भारत में विश्वास किया जाता है इसका कारण कर्मवाद है। ऐसा समझा जाता था कि यह विषमता जन्मजात है, प्राकृतिक है। मानव के उस विश्वास को फ्रांसीसी क्रांति ने एक बेरहम ठोकर लगाई और उस सब सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था को उलट पलट करदिया। यह घोषणा की गई कि मानव मानव सब समान हैं, स्वतन्त्र हैं, राजसत्ता समस्त जन में निहित है, किसी एक की बपौती नहीं। क्रांति का यह उद्देश्य तब पूरा हासिल नहीं किया जासका, किंतु मानव ने एक नये प्रकाश, एक नये ध्येय के अवश्य दर्शन कर लिये थे और तब से मानव आज तक उसी की ओर प्रगतिमान है। स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व की इस भावना के विरुद्ध सत्ताधारी स्वार्थी जन, चाहे वे पूंजीपति हों, राजकीय अधिकारी हों, धर्म पुरोहित हों,–अपना मोर्चा बनाते रहते हैं, एवं इस ध्येय की प्राप्ति में अड़चनें पैदा करते रहते हैं, इस भावना के प्रवाह को रोकने के लिये पहाड़ खड़ा करदेते हैं, किन्तु यह भावना विप्लवकारी तूफान के रूप में फिर प्रकट होती है और प्रतिक्रियावादी पहाड़ों को चूर चूर कर देती हैं। यह भावना जिसका सूत्रपात फ्रांस की क्रान्ति में हुआ था, फ्रांस की क्रांति के बाद यूरोप के कई देशों में १८३० में, फिर १८४८

में, फिर १८७० में, और फिर रूस में सन् १९१७ में, और फिर चीन में सन् १९४९ में भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट हुई है, और मानव ने प्रत्येक बार समानता और स्वतन्त्रता के ध्येय की ओर एक एक कदम आगे बढ़ाया है। मानव इतिहास में इस प्रकार की हलचलों की पुनरावृत्ति तब तक होती रहेगी जब तक सर्वत्र मानव समाज में समानता और स्वतन्त्रता कायम नहीं होजाती। ऐसा नहीं कि यह ध्येय केवल आदर्श मात्र रहा हो और इस दिशा की ओर मानव ने अब तक कुछ भी प्रगति नहीं की हो। फ्रांस की क्रांति के समय से आज तक लगभग डेढ़ सौ वर्षों में मानव ने उपरोक्त ध्येय की ओर प्रगति करली है—संसार में राजशाही प्रायः खत्म होचुकी है, कानून की दृष्टि में सब जन बराबर हैं, धन की विषमता कम होती हुई जारही है, यह विषमता है भी तो ऐसी स्थिति नहीं कि कोई भी धनी किसी नौकर या निर्धन के व्यक्तित्व का अनादर करसके या उससे कोई भी अनुचित कार्य करवा सके, प्रत्येक जन को यह अधिकार प्राप्त है कि वह शासन में, समाज में उच्च से उच्च स्थान अर्थात् अधिक से अधिक जिम्मेदारी का पद प्राप्त करसके,—जाति, धर्म, अथवा सामाजिक वर्ग भेद न तो कोई विशेष सहायता दे सकते न कोई विशेष अड़चनें पैदा कर सकते। अपेक्षाकृत पहिले से अधिक आज सब लोगों को सुविधायें प्राप्त हैं कि वे अपनी योग्यता का अधिकाधिक विकास कर सकें। आज समस्त मानव समता और स्वतंत्रता के आधारों पर एक नई दुनिया बनाने में संलग्न हैं।

नेपोलियन की हलचल (१७९९-१८१५ ई०)

कोरसिका द्वीप का एक सिपाही फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समय फ्रान्स में पहुंचा और फ्रान्स की प्रजातन्त्र सेना में भर्ती हो गया। अपनी वीरता, साहस और योग्यता से प्रजातन्त्रीय फ्रांस की विजय पताका उसने इटली और दूर मिश्र तक फहराई। अतः वह फ्रान्स की सेना का सेनानायक बना। उसका उत्थान होता गया और सन् १७९९ में फ्रान्स राज्य की समस्त सत्ता उसने अपने हाथ में ले ली, और वह समस्त

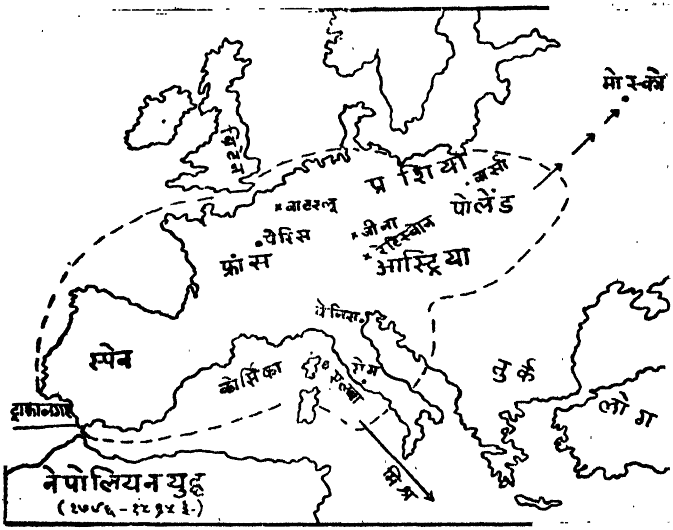
यूरोप में एक मात्र फ्रांस की सत्ता स्थापित करने के लिए अग्रसर हुआ। सन् १७९९ से १८०४ ई० तक उसने विधानानुसार फ्रांस का शासन किया। फ्रान्स में अनेक सुधार किये। सड़कें और नहरें बनवाईं, स्मारक और नये भवन बनवाये, शिक्षणालय और विश्व-विद्यालय स्थापित किये। स्वयं फ्रांस के दीवानी कानून (Civil Code) की बड़ी लगन और समझदारी से संहिता तैयार की जो आज तक भी प्रचलित है। क्रान्ति के 'समता' के विचार को प्रोत्साहन दिया, मानव मानव के बीच के भेद को मिटाने का प्रयत्न किया और कानून के सामने न्याय और समता की स्थापना की। किन्तु क्रान्ति की "स्वतन्त्रता" की भावना से वह विशेष प्रभावित नहीं था। वह स्वयं निरंकुश एकतन्त्रीयता की ओर अग्रसर था। इतिहास के प्राचीन सम्राटों-जैसे सीजर, सिकन्दर, शार्लमन, के चित्र उसके सामने आने लगे थे और उसको भी स्यात् यह महत्वाकांक्षा होने लगी थी कि वह भी एक महान् सम्राट और विजेता बने। सन् १८०४ ई० में राज्य के सब विधि विधान को फेंक उसने अपने आपको सम्राट घोषित किया और यूरोप की विजय यात्रा के लिये निकल पड़ा। सन् १८०४ से १८१५ ई० तक यूरोप का इतिहास, एक मनुष्य के जीवन का इतिहास—नेपोलियन के जीवन का इतिहास है। समरांगण में वह अद्वितीय तेजी से बढ़ता था, कुछ ही काल में उसने इटली, जर्मनी, आस्ट्रिया, प्रशिया, स्पेन, और रूस को पदाक्रान्त कर डाला। इङ्गलैंड को भी उसने पराजित करना चाहा किन्तु बीच में समुद्र (English Channel) पड़ता था—वह सोचता था कि बस एक बार यह खाई पार हो जाय तो इङ्गलैंड ही क्या वह सारी दुनिया का स्वामी बन सकता है। किन्तु इङ्गलैंड की सामुद्रिक शक्ति बड़ी विकसित थी—सन् १८०४ में ट्राफालगर के युद्ध में इङ्गलैंड के सामुद्रिक बेड़े के कप्तान नेलसन ने उसको परास्त किया—और वह इङ्गलिश चेनल पार नहीं कर सका। किन्तु शेष यूरोप फ्रान्स की बढ़ती हुई शक्ति से त्रासित हो गया। कुछ वर्षों तक नेपोलियन ने युद्ध क्षेत्र में यह नहीं जाना कि

पराजय किसे कहते हैं। पवित्र रोमन साम्राज्य के पच्छिमी प्रान्तों को जीतकर उसने एक पृथक राइन संघ (Rhine-Confideration) बनाया। इससे सैकड़ों वर्षों से चले आते हुए पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त हो गया। आस्ट्रिया का राजा जो पवित्र साम्राज्य का सम्राट होता था अब केवल आस्ट्रिया का राजा रहगया। जिन जिन देशों पर यथा इटली, पच्छिमी-जर्मन इत्यादि पर नेपोलियन ने शासन किया वहां भी उसने समानता और राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार किया।

किन्तु यूरोप के राष्ट्र जो फ्रान्स की बढ़ती हुई शक्ति को सहन नहीं कर सकते थे, इस प्रयत्न में लगे रहते थे कि नेपोलियन की शक्ति को किसी प्रकार रोक देना चाहिए। नेपोलियन से एक गल्ती हुई; अपनी अन्धी महात्वाकांक्षा में वह दूर तक रूस में जा फँसा और इस उद्देश्य से कि वह इङ्गलैंड को भी परास्त करे उसने यूरोप के तमाम बन्दरगाहों को बन्द कर दिया जिससे कि कोई भी खाद्य सामान इङ्गलैंड न पहुंच सके। इससे स्वयं यूरोप के व्यापार को भी बहुत क्षति पहुंची और यूरोप में नेपोलियन की लोकप्रियता कम हो गई। जब वह रूस में लड़ रहा था तब यूरोप के राष्ट्रों ने नेपोलियन के विरुद्ध एक संघ बनाया। आस्ट्रिया और प्रशिया ने रूस की मदद की और अन्त में १८१३ ई० में जर्मनी के वीनीपेग स्थान पर नेपोलियन की पहली करारी हार हुई। यूरोप छोड़कर उसे एल्बा द्वीप जाना पड़ा। वहां से सन् १८१५ ई० में एक बार फिर वह यूरोप में प्रकट हुआ, फिर एक बार अपनी शक्ति का परिचय दिया किन्तु इङ्गलैंड और जर्मनी की सम्मिलित शक्ति ने सन् १८१५ में वाटरलू की लड़ाई में फिर उसे पराजित किया। कैदी बनाकर उसे सेण्ट हेलेना टापू भेज दिया गया जहां सन् १८२१ ई० में बावन वर्ष की उम्र में मर गया।

नेपोलियन की पराजय के बाद जब यूरोप के पराजित देश स्वतन्त्र हो गये और फ्रांस निराधार हो गया तब यूरोप में राजकीय व्यवस्था बैठाने के लिए यूरोप के राष्ट्रों की वियेना में एक कांग्रेस हुई (१८१४-

१५) यूरोपीय राष्ट्रों के इस सम्मेलन ने यूरोप में एक नये नकशे का ही निर्माण कर डाला; -एवं यूरोप के इतिहास में एक नये अध्याय की शुरुआत हुई।



(५३)

यूरोप के आधुनिक राजनैतिक इतिहास का अध्ययन

(१८१५-१८७० ई०)

वियेना की कांग्रेस (१८१५ ई०)

राजतंत्र के पुनः स्थापन के प्रयत्न :-नेपोलियन के यूरोपीय क्षेत्र में से हट जाने के बाद यूरोप के राष्ट्र यथा इङ्गलैंड, प्रशिया, आस्ट्रिया, रूस,

स्वीटजरलैंड, फ्रांस इत्यादि वियना में एकत्र हुए और उन्होंने एक संधि द्वारा यूरोप के राज्यों का जो नेपोलियन के समय में क्षत-विक्षत हो गये थे, पुनर्निर्माण किया अर्थात् राज्यों की सीमा पुनः निर्धारित की। यह काम करने में यूरोप के राष्ट्र दो भावनाओं से परिचालित हुए। एक तो यह कि यूरोप में शक्ति-संतुलन बना रहे, अर्थात् कोई भी राष्ट्र अपेक्षाकृत इतना शक्तिशाली न हो जाये कि वह दूसरे राज्यों के लिए खतरा बन जाये। १७ वीं शती से लेकर आज तक यूरोप की राजनीति, यूरोप के युद्ध प्रायः इसी एक बात को लेकर चले हैं कि यूरोप में शक्ति संतुलन बना रहे। आधुनिक यूरोप का इतिहास इस शक्ति संतुलन के सिद्धांत की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। दूसरा सिद्धान्त जिससे वियेना की कांग्रेस परिचालित हुई वह यह था कि देशों के भिन्न भिन्न राज्य वंश (Dynasties) के स्वार्थों की अपेक्षा न हो। यूरोप के राज्यों की सीमायें निर्धारित करवाने में मुख्य हाथ आस्ट्रिया के परराष्ट्रमन्त्री मेटेरनिश का था जो एक बहुत प्रतिक्रियावादी व्यक्ति था और क्रान्ति की भावनाओं के बिल्कुल विपरीत राजाओं की एक-तन्त्रीय सत्ता पुनः स्थापित हुई देखना चाहता था। वियेना कांग्रेस के निर्णयानुसार जो नई सीमायें निर्धारित हुई वे इस प्रकार हैं।

(१) फ्रांस की प्रायः वही सीमा रही जो क्रान्ति के पूर्व थी। वहां फ्रांस के पुराने राज्य वंश (बोरबोन) की पुनः स्थापना हुई, लुई १८ वें को फ्रांस का राजा बनाया गया।

(२) बैलजियम जो पहिले आस्ट्रिया साम्राज्य का अंग था, उसे होलेंड में मिला दिया गया जिससे कि फ्रान्स के उत्तर में फ्रांस की शक्ति को रोके रखने के लिये एक शक्तिशाली राज्य बना रहे।

(३) नोर्वे डेनमार्क से छीनकर स्वीडन को दे दिया गया।

(४) इटली जो नेपोलियन राज्य काल में प्रायः एक राज्य बन गया था वह फिर छोटे छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया गया जैसे वह

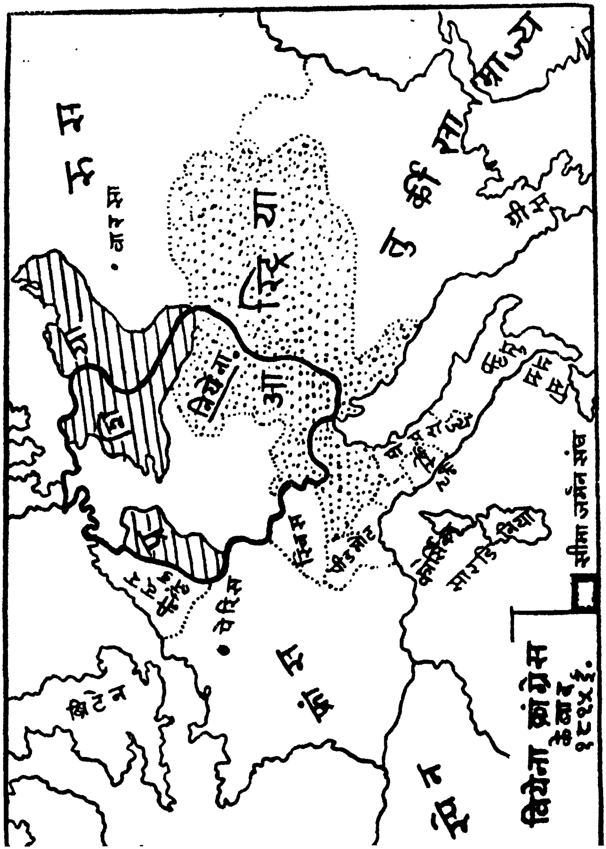
नेपोलियन के आगमन के पूर्व था। इटली के दो सबसे बड़े धनी प्रदेश लोम्बार्डी और वेनिस आस्ट्रिया में शामिल कर दिये गये। पोप को पूर्ववत् अलग एक छोटा सा प्रदेश दे दिया गया। जिनोआ का राज्य सार्डिनिया को दिया गया, और टस्केनी और दो-तीन और छोटे-छोटे राज्यों में आस्ट्रिया राज्य वंश के व्यक्ति राजा बना दिये गये। इस प्रकार इटली विशेषतया आस्ट्रिया साम्राज्य के प्रभुत्व में रखा गया।

(५) पवित्र रोमन साम्राज्य तो १८०४ ई० में समाप्त हो ही चुका था, उसकी जगह जर्मनी को ३६ छोटे छोटे राज्यों का पृथक एक संघ बना दिया गया, जिसमें प्रशा और आस्ट्रिया राज्यों के भी भाग सम्मिलित थे। इस संघ का राज्य-संचालन एक व्यवस्थापिका सभा (Diet) करती थी जिसमें संघ के प्रत्येक राज्य के राजा के प्रतिनिधि बैठते थे। इस संघ का अध्यक्ष आस्ट्रिया का राजा था, गो कि इसके नेतृत्व के लिये प्रशिया भी आकांक्षा रखता था। वस्तुतः इस संघ की आवश्यकता तो यह थी कि छोटे छोटे राज्य सब विलीन होकर केवल एक सुसंगठित जर्मन राज्य में परिणत हो जायें, किन्तु छोटे छोटे राज्य संकुचित स्वार्थ-भावना वश अपनी अपनी हस्ती अलग बनाये रखने पर तुले हुए थे।

प्रशा को राइन नदी के दोनों ओर कुछ प्रदेश मिले जिससे उसकी शक्ति में और भी वृद्धि हुई। रूस को वह प्रदेश मिला जो कि वस्तुतः पोलैण्ड का एक भाग था और 'वारसा की डची' (Duchy of Warsaw) कहलाता था। इङ्गलैंड को औपनिवेशिक प्रदेशों की दृष्टि से अत्यधिक लाभ हुआ। स्पेन से उसको ट्रिनीडेड मिला, फ्रांस से मारेशियस और तम्बाकू और होलेंड से आशा अन्तरीप और लंका।

यूरोप के राज्यों की उपरोक्त व्यवस्था अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये,—यूरोप के चार प्रमुख राष्ट्रों का यथा आस्ट्रिया, प्रशा रूस और इङ्गलैंड का सन् १८१५ में ही एक संघ बना, जो सन् १८२२ तक कायम रहकर इङ्गलैंड के इससे पृथक हो जाने पर टूट गया। एक

दृष्टि से यह सन् १६१६ के राष्ट्रसंघ (League of Nations) का पूर्वाभास था। सन् १८१५ में ही आस्ट्रिया के मन्त्री मेटरनिश के



नेतृत्व में तीन देशों का यथा रूस, आस्ट्रिया और प्रशा का एक "पवित्र संघ" (Holy Alliance) बना, जिसका उद्घोषित उद्देश्य तो यह था कि बाइबल की शिक्षाओं के अनुसार ही इसके सदस्य राष्ट्रीय और

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यवहार करेंगे किन्तु वास्तविक उद्देश्य यह था कि यूरोप में साधारण जन की सब प्रगतिवादी 'समता' और 'स्वतन्त्रता' की भावना को कुचले रखना और राजाओं व अधिकारियों की सत्ता बनाये रखना। पवित्र संघ ने जहां जहां उदार शक्तियों ने सिर उठाने का प्रयत्न किया जैसे स्पेन में, जर्मनी में, इटली के प्रदेशों में, वहां वहां उनको अपनी सम्मिलित शक्ति से कुचल डाला।

वियेना कांग्रेस की त्रुटियां:—यूरोप के राज्य की सीमाओं का जो नव निर्माण किया गया उसमें साधारण जन की प्रस्फुटित होती हुई राष्ट्रीय भावनाओं का कुछ भी ख़याल नहीं रखा गया। जैसे बेलजियम को जो एक कैथोलिक प्रदेश था और जिसकी भाषा केल्टिक थी प्रोटेस्टेन्ट धर्मी होलेण्ड से मिला दिया गया; एवं इटली और जर्मनी देश जो राष्ट्रीय एकीकरण की ओर उन्मुख थे, उनकी इस गति को उनके छोटे छोटे टुकड़े करके रोक दिया गया। पवित्र संघ स्थापित करके राजाओं की शक्ति को बनाये रखने का जो प्रयत्न था वह अप्राकृतिक था क्योंकि जन स्वाधीनता के बीज जो फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने बो दिये थे उनको दबाये रखना असम्भव था।

अतः सन् १८१५ ई० में यूरोप में नव व्यवस्था स्थापित होते ही उसमें विच्छेदन भी प्रारम्भ होगया। इसके बाद का यूरोप का इतिहास उपरोक्त दो मुख्य त्रुटियों के निराकरण का इतिहास है; इसकी गति भी उपरोक्त दो त्रुटियों के निराकरण में दो प्रकार की होती है:—
१. जन स्वाधीनता और जन सत्ता के लिये आंदोलन जिसके फलस्वरूप कई जन क्रान्तियां हुई—जैसे सन् १८३० में फ्रांस में,—जिसके प्रभाव से बेलजियम, जर्मनी, इटली, इङ्गलेंड में भी क्रान्तियां हुई; १८४८ में फिर फ्रांस में,—जिसकी प्रतिक्रिया और दूसरे प्रदेशों में भी हुई। और १८७० में फिर फ्रांस में—जिसकी भी प्रतिक्रिया और देशों में हुई।
२. स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान—जैसे बेलजियम, ग्रीस, इटली और जर्मनी। उपरोक्त दो प्रकार की हलचलें एक दूसरे से सर्वथा पृथक

नहीं थीं–उन सब की गति एक ही ओर थी—जनता के सहयोग पर आश्रित स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों की उद्‌भावना और प्रगति। इस गति में तीन भावनायें निहित थीं:—समता, स्वतन्त्रता एवं जातीयता (राष्ट्रीयता)।

जन-स्वाधीनता और जनसत्ता के लिये क्रान्तियां

(१८३० एवं १८४८)

सन् १७७६ में अमरीका का स्वाधीनता संग्राम हुआ, वहाँ जन-सत्तात्मक शासन की स्थापना हुई और उसी अवसर पर अमेरिकन विधान के मूल आधार मानव के सार्वभौम स्थायी अधिकारों की घोषणा हुई। फिर सन् १७८९ में फ्रान्स की क्रान्ति हुई, उसमें भी मानव समानता और स्वतन्त्रता की घोषणा की गई। मानवजाति के मनीषियों और महापुरुषों ने मानव की चेतना को जागृत किया और उसे समता और स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाया था। किन्तु इस नव जागृत चेतना को दबा देने के लिये भी स्वार्थमयी शक्तियां समाज में काम कररही थीं। १८१५ ई० में नेपोलियन के पतन के बाद इन प्रतिगामी शक्तियों ने जोर पकड़ा और आस्ट्रिया के विदेश मन्त्री मेटरनिश के नेतृत्व में रूस, प्रशा, स्पेन इत्यादि के शासकों ने पहिले तो जनता की आकांक्षाओं की परवाह किये बिना मनमाने ढङ्ग से यूरोप के राज्यों का संगठन किया और फिर अपने अपने देश में जनता की भावनाओं को कुचले रखने के लिये दमन-चक्र चलाना प्रारंभ किया। किन्तु वह चिनगारी जो यूरोप की जनता में लगचुकी थी, बुझाई न जासकी। फ्रान्स में नेपोलियन के बाद प्राचीन बोरबोन वंश के राजाओं का जो निरंकुश राज्य स्थापित कर दिया गया था उसके विरुद्ध सन् १८३० में देश भर में क्रांति की आग फैल गई। वह आग केवल फ्रान्स में ही नहीं किन्तु इटली, जर्मनी, पोलेंड, स्पेन, पुर्तगाल इत्यादि देशों में भी फैली। पोलेंड, को छोड़कर प्रायः सब जगह राजाओं का स्वेच्छाचारी शासन समाप्त हुआ और हर जगह राजाओं को जन सत्तात्मक विधान (अर्थात् वह व्यवस्था जिसमें शासनाधिकार

जनता पर आश्रित हों,–शासन जनता की सम्मति से होता हो) मंजूर करने पड़े।

१८४८ की क्रान्ति—१६वीं शती के मध्य तक यूरोप में यांत्रिक और औद्योगिक क्रान्ति होचुकी थी, उसके फलस्वरूप पच्छिमी यूरोप के समाज में एक नये वर्ग, एक नई भावना ने जन्म लेलिया था। वह नया वर्ग था श्रमिक वर्ग और वह नई भावना थी "समाजवाद" की भावना। यूरोप के मानव समाज में यह एक मूलतः नई चीज थी। यान्त्रिक उत्पादन के फलस्वरूप उत्पन्न नई आर्थिक परिस्थितियों ने उपरोक्त नई भावना और नये वर्ग को जन्म दिया था। राजाओं का एकतन्त्री शासन तो निसन्देह १८३० की क्रान्ति में समाप्त हो चुका था और वे जनता की सम्मति से याने व्यवस्था सभाओं की सम्मति से शासन चलाते थे। किन्तु उन व्यवस्था-सभाओं में प्रतिनिधित्व विशेषतया उच्च वर्ग का अर्थात् पूंजीपति एवं उच्च मध्यवर्गीय लोगों का होता था। निम्न वर्ग, किसान और मजदूर लोगों का यथेष्ट प्रतिनिधित्व उसमें नहीं था। अतः समाज का आर्थिक ढांचा और उसके कानून इस प्रकार बने हुए थे जिसमें उच्च वर्ग के लोगों के स्वत्व और स्वार्थ कायम रहें और निम्न वर्ग के लोग उच्च वर्ग के लोगों के धन, शक्ति और ऐश्वर्य के साधन बनकर रहें। तत्कालीन फ्रांस का राजा पूंजीपति एवं उच्च मध्य-वर्ग के प्रभाव में था; जनता की यह मांग थी कि मताधिकार निम्न-वर्ग के लोगों को भी प्राप्त हों, किंतु फ्रांस का राजा यह बात मानने को तैयार नहीं था। मानव को जब यह भान होचुका था कि सब समान हैं, तब ऐसी स्थिति का कायम रहना जिसमें कुछ लोगों को तो विशेषाधिकार हों और कुछ को नहीं, कठिन था। अतः फिर एक बार क्रांति की आग धधक उठी, उसने फ्रांस के राजा को ही खत्म करडाला, फ्रांस में राजशाही की जगह प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। इस क्रांति का प्रभाव भी सन् १८३० की क्रांति के समान यूरोप के अन्य देशों में पहुंचा। इङ्गलैंड में मताधिकार प्रसार के आंदोलन को नया वेग मिला और

यद्यपि वहां कोई खूनी क्रांति नहीं हुई किन्तु मताधिकार प्रसार का आंदोलन अवश्य सफल हुआ। १८३० में पुराने अनियमित बोरोज (जिले) को जो पुराने जमाने से निर्वाचन क्षेत्रों के रूप में चले आते थे किंतु जहां अब जनसंख्या बहुत कम होचुकी थी, हटा, नये निर्वाचन क्षेत्र बना दिये गये जिससे नये स्थापित नगरों को भी प्रतिनिधित्व मिल सके। १८६८ ई० में एक नये कानून से समस्त मज़दूर वर्ग को मताधिकार दिया गया और फिर १८८४ ई० में समस्त किसान वर्ग को भी यह अधिकार मिला। इसके फलस्वरूप इङ्गलेंड में वयस्क पुरुषों का सार्वभौम मताधिकार स्थापित होगया। इस क्रांति की प्रतिक्रिया जर्मनी और इटली में भी हुई जहां स्वतन्त्रता और एकता के लिये चलते हुए आन्दोलनों को प्रोत्साहन मिला और जिनकी परिणति इटली की स्वाधीनता और एकता स्थापना में, एवं जर्मनी की एकता की स्थापना में हुई।

स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान

बैलजियम—(१८३१)–१८१५ ई० में वियेना की कांग्रेस ने इसको हालेण्ड के साथ जोड़ दिया था–किन्तु बैलजियमवासियों का धर्म और भाषा हालेण्ड वासियों से भिन्न थे। हालेण्ड अपनी भाषा, अपने धर्म, राजकीय एवं आर्थिक स्वार्थों का प्रभुत्व बैलजियम पर जमाने लगा बैलजियमवासी इसको सहन नहीं कर सके और उन्होंने विद्रोह कर दिया। अन्त में यूरोप के अन्य बड़े राज्यों के बीच बचाव से सन् १८३१ में बैलजियम एक पृथक् राज्य घोषित कर दिया गया। विधान सम्मत राजशाही (Constitutional Monarchy) की वहां स्थापना हुई और देश की स्वाधीनता और उसकी तटस्थ स्थिति को मान्यता दी गई। यूरोप में प्रसारित होते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की यह प्रथम विजय थी।

ग्रीस का स्वाधीनता युद्ध—(१८२९):–ग्रीस जो मध्य युग में पूर्वीय रोमन साम्राज्य का अंग था, सन् १४५३ ई० में बढ़ते हुए उस्मान

तुर्की साम्राज्य का अंग बना। तब से ग्रीक लोग कई सदियों तक उसी इस्लामी तुर्की साम्राज्य के गुलाम रहे और उनसे आतंकित। १९वीं सदी में फ्रांस की राज्य-क्रांति से उद्भूत होकर यूरोप के सब देशों में स्वतन्त्रता की एक लहर फैली और नेपोलियन के पतन के बाद प्रत्येक देश में राष्ट्रीयता की भावना। ग्रीक लोगों में भी चेतना जागृत हुई और उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता के लिये तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध सन् १८२१ में युद्ध शुरु कर दिया। इस छोटे से देश का तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़ा होना एक साहसमात्र था। किन्तु ग्रीक लोग स्वतन्त्रता की प्रेरणा से वीरता से लड़े, अन्य यूरोपीय देशों के भी स्वाधीनता प्रेमी अनेक साहसी युवक आ आकर ग्रीस के स्वाधीनता संग्राम में सहयोग देने लगे, और ग्रीस सेना में भर्ती होकर तुर्कों के खिलाफ लड़ने लगे। इस प्रकार अनेक स्वयं सेवक जो ग्रीस की सेना में भर्ती हुए उनमें इङ्गलेंड का प्रसिद्ध महाकवि लोर्ड बायरन भी था। कई वर्षों तक युद्ध चलता रहा—अकेला ग्रीस विशाल तुर्की साम्राज्य के सामने नहीं ठहर सकता था। अन्त में इङ्गलेंड, फ्रान्स और रूस ने बीच बचाव किया, टर्की की कई जगह हार हुई और आखिरकार १८२९ ई० में ग्रीस स्वतन्त्र हुआ। वहां राजतन्त्र सरकार कायम हुई बवेरिया का एक राजकुमार राजा हुआ।

इटली की स्वतन्त्रता और एकीकरण (१८७१):— वियेना की कांग्रेस के बाद इटली की राजनैतिक दशा निम्न प्रकार थी। इटली छोटे छोटे कई राज्यों में विभक्त था। हम इन राज्यों को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं:—

१. इटली का देशी राज्य—पीडमाण्ट और सार्डिनिया का राज्य। यहां इटली जाति के ही एक राजा विक्टर इमेन्यूअल द्वितीय का शासन था। २. इटली के बीचोंबीच रोम के पोप का राज्य था। ३. विदेशी राज्य—उत्तर में लोम्बार्डी और विनेशिया तो सीधे आस्ट्रिया के आधीन थे और टस्केनी, पालमा, मोदेना इत्यादि छोटे छोटे राज्य आस्ट्रिया

राज्य वंश के राजकुमारों के शासनाधीन थे। इस प्रकार इटली के एक प्रमुख भाग पर विदेशियों का शासन था, और समस्त इटली, प्रायद्वीप पर उसका प्रभाव। ४. दक्षिण में दो सिसली राज्य थे–जहां फ्रान्स के बोरबोन वंश के राजाओं का अधिकार था।

प्राचीन रोमन साम्राज्य के पतन के बाद इटली में गोथ (आर्य) लोगों के छोटे छोटे राज्य स्थापित हुए। मध्य युग में भी यही दशा रही, उस काल तक तो राष्ट्रीयता की भावना का जन्म ही न हो पाया था। सोलवीं शताब्दी में इटली के राजनैतिक विचारक मेकियाविली (१४६९–१५२७ ई०) ने राष्ट्रीयता का विचार लोगों को दिया और उसने यह स्वप्न देखा कि इटली के सब छोटे छोटे राज्य संगठित होकर एक प्रिंस (राजा) के आधीन हो जायें। किन्तु उस युग में यह सम्भव नहीं था। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में समस्त इटली पर नेपोलियन का प्रभाव रहा और उसने आधुनिक युग में इटलीवासियों में एकता और स्वतन्त्रता की भावना पैदा की। नेपोलियन के पतन के बाद वियेना की कांग्रेस द्वारा इटली का कई राज्यों में विभक्तीकरण हुआ जिसका जिक्र अभी ऊपर किया जा चुका है। किन्तु नेपोलियन काल में स्वतन्त्रता और एकता की जिस भावना का आभास इटलीवासी पा चुके थे, उसे वे नहीं भूले। इसी काल में इटली में वहां का प्रसिद्ध देशभक्त और लेखक जोसेफ मेजेनी (१८०५–७२ ई०) पैदा हुआ, जो मानो इटली की स्वतन्त्रता का देवदूत था। वह एक राष्ट्रीयनेता ही नहीं वरन् एक महामानव था जिसने व्यक्ति के जीवन के उत्कर्ष के लिए यह सबक सिखाया था "अपने जीवन में किसी एक महान आदर्श को समाहित करलो।" उसने अपने लेखों से और अपने शुद्ध स्वार्थ रहित त्यागमय जीवन से इटली के जन जन में स्वतन्त्रता के लिए एक तीव्र उत्कण्ठा पैदा कर दी। साथ ही साथ १८३० और १८४८ की राज्य क्रान्तियों ने इटली-वासियों में और भी उत्साह भर दिया। वे आस्ट्रिया से एवं आस्ट्रिया के राजकुमारों के छोटे छोटे राज्यों के एकतन्त्रीय शासन

से मुक्त होने के लिये अग्रसर हो गये। विदेशियों के विरुद्ध अनेक षडयन्त्र और हिंसात्मक कार्यवाहियां कीं। किन्तु वे सफल नहीं हो पाये। सार्डिनिया के इटली जातीय राजा विक्टर इमेन्यूअल का महा मन्त्री उस समय काउण्ट केवर (Count Cavour) था। उसने इस तथ्य को पहचाना कि बिना बाहर की सहायता के केवल षडयन्त्रों से इटली को मुक्त नहीं किया जा सकता, अतः उसने बड़ी सोच समझ के बाद एक कूट-नीति-पूर्ण कदम उठाया। उस समय फ्रांस रूस के लिये क्रीमिया की लड़ाई में फंसा हुआ था। उसने तुरन्त सार्डिनियां की फौजे फ्रांस की मदद के लिए भेज दीं। इससे फ्रांस का शक्तिशाली राष्ट्र प्रसन्न हुआ। काउन्ट केवर सामरिक तैयारियां करता रहा और अपनी फौजें बढ़ाता रहा और इसी टोह में रहा कि आस्ट्रिया से किसी भी प्रकार झगड़ा मोल ले लिया जाय। आस्ट्रिया ने जो विक्टर इमेन्यूअल की सामरिक तैयारियां देख रहा था, उसको एक धमकी दी कि वह अपनी फौजों का निशस्त्रीकरण कर दे। इसी बात को लेकर युद्ध छिड़ गया। फ्रांस इटली की मदद को आया। १८५९ में आस्ट्रियन लोगों की हार हुई। लोम्बार्डी प्रान्त इटली के हाथ लगा। इटली की मुक्ति और एकीकरण की तरफ यह पहला कदम था। इस ओर अन्य घटनायें इस प्रकार हुई:—

१. १८५९ में उपरोक्त लोम्बार्डी प्रान्त इटली जातीय राज्य सार्डिनियां में मिला लिया गया।

२. १८६० में टस्कनी, पालमा, मोदेना आदि छोटे छोटे राज्यों में विद्रोह हुआ; वहां के राजाओं को हटा दिया गया और वे सब राज्य उपरोक्त जातीय राज्य में मिला दिये गये।

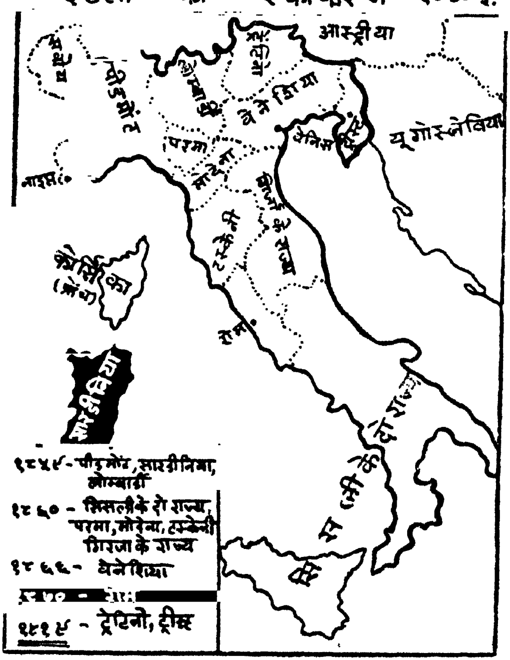
३. इसी वर्ष दक्षिण के दो सिसली राज्यों में जहां फ्रांस के बोरबोन वंश के राजाओं का राज्य था, विद्रोह हुआ। इटली के स्वतन्त्रता संग्राम के वीर योद्धा गैरीबाल्डी ने इस विद्रोह का सफलता पूर्वक नेतृत्व किया।

और इन दोनों राज्यों को हराकर सार्डिनिया के जातीय राज्य में मिला दिया।

४. १८६६ ई० में आस्ट्रिया और प्रशा में युद्ध छिड़ गया। सार्डिनियां के राजा विक्टर इमेन्यूअल ने प्रशा की मदद की, युद्ध में आस्ट्रिया की हार हुई और सार्डिनियां ने प्रशा की जो मदद की थी उसके बदले में वेनिस (वेनेशिया) का राज्य उसको प्राप्त हुआ।

५. १८७० ई० में स्वयं विक्टर इमेन्यूअल ने रोम पर चढ़ाई कर दी और यह अन्तिम राज्य भी इटली राज्य में मिला लिया गया।

इटली का एकीकरण १८७० ई.



इस प्रकार १८७० ई० में इटली की मुक्ति हुई और शताब्दियों के बाद इटली एक राज्य बना। यह काम देश भक्त मेजेनी की प्रेरणा से,

गैरीबाल्डी की तलवार से, मन्त्री केवर की कूटनीति से और राजा विक्टर इमेन्यूअल की सहज बुद्धि से सम्पूर्ण हुआ।

जनता की सम्मति से विधान-सम्मत राजतन्त्र की स्थापना हुई। पार्लियामेण्ट की सम्मति से राजा राज्य करने लगे। पहिला राजा विक्टर इमेन्यूअल ही बना। मुक्त होने के बाद इटली कुछ ही वर्षों में यूरोप का एक शक्तिशाली अगुआ राष्ट्र बन गया।

४. जर्मनी का एकीकरण

मध्य युग में वह प्रदेश जो आधुनिक जर्मनी है पवित्र रोमन साम्राज्य के रूप में स्थित था। उसकी यह स्थिति कई सदियों तक बनी रही। यह पवित्र साम्राज्य एक केन्द्रीय सुसंगठित राज्य नहीं था। इसमें सैकड़ों छोटे छोटे राज्य थे, जिनके शासक कहीं तो सामन्ती सरदार (Dukes) होते थे और कहीं के शासकों को राजा की उपाधि भी होती थी। एक जर्मन राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था यद्यपि यूरोप में फ्रान्स, स्पेन, पुर्तगाल, इङ्गलैंड और रूस पृथक् पृथक् राष्ट्रीय राज्य बहुत पहिले ही बन चुके थे। इस पवित्र साम्राज्य पर १६ वीं शती के प्रारम्भ में फ्रान्स के नेपोलियन बोनापार्ट का अधिकार हुआ, उसने पवित्र साम्राज्य के नाम को खत्म किया, उस साम्राज्य के पश्चिमी राज्यों को मिलाकर सन् १८०६ में राइन संघ का निर्माण किया। इस संघ से पृथक पूर्व में प्रशा और आस्ट्रिया के अलग राज्य कायम रहे। किन्तु १८१५ ई० में नेपोलियन के पतन के बाद, राइन संघ को तोड़कर अलग एक जर्मन संघ का निर्माण किया गया, जिसमें राइन संघ के छोटे छोटे राज्यों के अतिरिक्त प्रशा और आस्ट्रिया राज्यों के भी कुछ भाग सम्मिलित किये गये। प्रशा के निवासी ट्यूटोनिक जाति के थे जो जर्मन भाषा बोलते थे; आस्ट्रिया राज्य के कुछ भागों के निवासी अधिकतर स्लैव जाति के थे जो स्लैव जाति की भाषायें बोलते थे। इस नये संघ के निर्माण होने के पहिले उक्त प्रदेशों में जितने भी उदार विचारवादी जर्मन भाषाभाषी थे उनकी यह उत्कट इच्छा थी कि छोटे छोटे सब राज्यों का एकीकरण

होकर एक सशक्त केन्द्रीय जर्मन राज्य स्थापित हो किन्तु उनकी यह इच्छा सफल नहीं हो सकी; एककेन्द्रीय राज्य बनाने के बदले वियेना की कांग्रेस ने आस्ट्रिया के नेतृत्व में एक शिथिल संघ बनाकर रख दिया।

इस संघ के नेतृत्व के लिये प्रशा भी अग्रसर था—आस्ट्रिया और प्रशा में इस बात पर प्रतिस्पर्धा खड़ी हो गई। वियेना की कांग्रेस के बाद उक्त जर्मन संघ के इतिहास में दो बड़े आन्दोलन प्रारम्भ हुए। एक का उद्देश्य था जर्मन एकता और दूसरे का उद्देश्य उदारवादी जनशासन। जर्मन भाषा भाषी अनेक नवयुवक और विद्यार्थी इस प्रेरणा में लीन हो गये कि छोटे छोटे स्वेच्छाचारी राजाओं को हटाकर एक शक्ति शाली संगठित राज्य स्थापित किया जाये। सन् १८३० व ४८ की फ्रांस की क्रान्तियों का भी उन पर जबरदस्त असर पड़ा। सबसे पहिले तो इन छोटे छोटे राज्यों में व्यापारिक एकता स्थापित हुई जिसका अर्थ था कि अन्तर्प्रांतीय व्यापार बिना किसी पाबन्दी या महसूल के स्वतन्त्र रूप से हो। यह जर्मन एकता की ओर प्रथम कदम था। एकताके भावको सर्वाधिक उत्तेजना देने वाला प्रशा था इसलिये सभी लोग प्रशाको अपना नेता समझने लगे। जर्मन संघ को प्रशा के अधिनायकत्व में एक केन्द्रीय राज्य बनाने के प्रयत्न भी हुए किन्तु आस्ट्रिया ने उन सबको विफल कर दिया। सन् १८६१ में प्रशा का राजा विलियम द्वितीय था। उसको बिसमार्क (१८१५–१८६८ ई०) नामक एक कुशल और साहसी पुरुष मिला जो प्रशा राज्य का प्रधान मन्त्री एवं परराष्ट्र मंत्री बनाया गया। बिसमार्क जर्मनी के महापुरुषों में से एक हैं। बिसमार्क का यह विश्वास था कि प्रशा का उद्देश्य जर्मन जाति की एकता है और वह एकता प्रशा के राजवंश द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। बिसमार्क ने एक अद्भुत शक्तिशाली अनुशासनशील सेना का निर्माण किया। यह सेना यांत्रिक शस्त्रों द्वारा लैस थी। मशीनों द्वारा आधुनिक ढङ्ग के शस्त्र पहिले कभी भी नहीं ढाले गये थे। बिसमार्क की संगठनकर्त्री कुशलता का केवल इसी बात से पता लगता है कि जब १८७०–७१ ई० में फ्रांस और प्रशा में युद्ध हो रहा था तब प्रशा की जो १५० रेल गाड़ियां जिनमें डेढ़ लाख

सैनिक थे, फ्रांस की सीमा पर भेजी गई उनमें एक भी गाड़ी, एक मिनट की भी देरी से नहीं पहुंची। बिसमार्क ने आस्ट्रिया को अलग करने का एक ही रास्ता निकाला था और वह था "रक्त और लोह" (Blood and Iron) की नीति। वास्तव में वह स्वयं तत्कालीन यूरोप का एक लोह पुरुष था—जिसने बिखरी ईंटों में से एक नये राष्ट्र का निर्माण कर, उस राष्ट्र को भी फौलादी राष्ट्र बना दिया। जब से प्रशा में बिसमार्क के हाथ में शक्ति आई तभी से मानों जर्मनी सचमुच एक संगठित राष्ट्र की ओर तेजी से अग्रसर हो गया। सर्व प्रथम बिसमार्क ने आस्ट्रिया से निपटना चाहा। १८६६ ई० में आस्ट्रिया से उसने युद्ध छेड़ दिया। आस्ट्रिया की हार हुई—प्रेग में संधि हुई—सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया जर्मन संघ से पृथक् हुआ और उसने यह स्वीकार किया कि प्रशा जिस तरह से चाहे जर्मनी का निर्माण कर सकता है। बिसमार्क ने जर्मन संघ के उत्तरी राज्यों का सन् १८६७ में एक संघ बनाया जिसका अधिनायक प्रशा रहा; इसमें दक्षिण के राज्य जो रोमन कैथोलिक थे और जिनको फ्रांस का सहारा था शामिल नहीं हुए। अतः बिसमार्क को फ्रांस से भी निपटना पड़ा। सन् १८७०-७१ ई० में महत्वपूर्ण जर्मन फ्रांस युद्ध हुआ। सीडेन युद्ध क्षेत्र में फ्रांस की हार हुई और फ्रांस का राजा नेपोलियन द्वितीय कैद कर लिया गया। आखिर युद्ध का निर्णय फ्रैंकफोर्ट की संधि में हुआ। जर्मनी में फ्रांस का हस्तक्षेप समाप्त हुआ और उसे अपने प्रांत अल्सेस लोरेन जर्मनी को देने पड़े। जर्मनी का एकीकरण सम्पूर्ण हुआ। होहनजोलर्न राज्य वंश की अध्यक्षता में एक राष्ट्र-संसद का निर्माण हुआ; और इस प्रकार विधान-सम्मत राजतन्त्र की वहां स्थापना हुई। शताब्दियों के बाद जर्मन जाति एक राष्ट्रीय राज्य के अंतर्गत संगठित हुई।

हंगरी का उत्थान—सन् १८०६ ई० में पवित्र रोमन साम्राज्य खत्म हुआ। उसकी जगह पच्छिम में तो मुख्यतया जर्मन लोगों का राइन संघ बना और पूर्व में हैब्सवर्ग वंश के राजाओं का आस्ट्रिया

साम्राज्य अलग। आस्ट्रियन साम्राज्य का विस्तार उत्तरी इटली में एवं जर्मनी के कुछ प्रान्तों तक था। १९वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता की जो लहर चली उसके फलस्वरूप सन् १८५९–६० में तो इटली के प्रान्त उससे पृथक् हुए और सन् १८६६ में जर्मनी के प्रदेश। इन प्रदेशों के पृथक् होने के बाद भी आस्ट्रिया साम्राज्य में कई जातियों के लोग रह गये थे। जैसे मगयर, स्लैव, जैक इत्यादि। आस्ट्रिया के सम्राट को यह महसूस हुआ कि राज्य को शक्तिशाली बनाये रखने के लिए उसमें भिन्न भिन्न जाति के जो लोग हैं उनको खुश रखना आवश्यक है, विशेषतः उन मगयर लोगों को जो उस भाग में बसे हुए थे जो हंगरी कहलाता था। अतः सन् १८६८ ई० में सम्राट ने अपने राज्य को दो भागों में विभक्त कर दिया, एक आस्ट्रिया जिसकी राजधानी वियेना रही और दूसरा हंगरी जिसकी राजधानी बुडापैस्ट रक्खी गई। इस प्रकार एक नये राज्य का उद्भव हुआ। दोनों राष्ट्र विदेश नीति और दूसरे प्रश्नों को छोड़कर अपने आंतरिक मामलों में स्वतन्त्र रहे। आस्ट्रिया का सम्राट हंगरी का राजा रहा। यह स्थिति सन् १९१९ ई० तक चलती रही, जब प्रथम महायुद्ध के बाद इन दोनों राज्यों में से तीन राज्यों का निर्माण किया गया यथा आस्ट्रिया, हंगरी और तीसरा नया राज्य जेकोस्लोवेकिया।

यूरोप (१८१५–७०) सिंहावलोकन—देखा होगा कि जनतन्त्र और राष्ट्रीयता इन्हीं दो शक्तियों ने १९वीं सदी में यूरोप के इतिहास का निर्माण किया। जनतन्त्र की भावना ने राजशाही को खत्म किया और उसकी जगह वैधानिक राजतन्त्र या गणतन्त्र (Republic) राज्यों की स्थापना हुई। "राजाओं का दिव्याधिकार" का विचार एक हास्यास्पद पुरानी कहानी रह गया।

तीव्र राष्ट्रीय भावना ने नये राष्ट्रों को, नये राज्यों को जन्म दिया, कई परतन्त्र राज्य मुक्त हुए, एक राज्य का दूसरे राज्य पर, एक जाति का दूसरी जाति पर अधिकार हो, ऐसी स्थिति बना रहना प्रायः असंभव

हो गया। अब देश देश में जातीय गौरव, तीव्र राष्ट्रीयता की भावना थी। इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, होलैंड, बेलजियम, रूस इत्यादि प्रत्येक अब अलग अलग राज्य था, या अलग अलग जाति या अलग अलग राष्ट्र। यूरोप के जीवन में यह एक नई वस्तु थी जिसका मध्ययुग तक कोई रूप नहीं था; तब तो छोटे छोटे सामन्तों या राजाओं के आधीन रहते हुए यूरोप के लोग सब "ईसाई" थे और सब जातीय भेदभाव के बिना एक पोप या एक पवित्र रोमन सम्राट के आधीन थे। उपरोक्त नवउद्भूत राष्ट्रीय भावना ने राजनीति में 'कूटनीति' (Diplomacy) को जन्म दिया था। यूरोप के राज्यों का यही प्रयास रहता था कि सच झूठ, नैतिक अनैतिक किसी भी तरह हो अपने अपने राष्ट्र का अभ्युदय और उत्थान हो, कोई दूसरा राष्ट्र इतना शक्तिशाली न बन जाये कि वह किसी भी दूसरे राष्ट्र के लिये कुछ खतरा पैदा कर दे। दूसरे शब्दों में:—यही प्रयास रहता था कि यूरोप में शक्ति संतुलन (Balance of Power) बना रहे। इसी उद्देश्य से समय समय पर यूरोप में कहीं भी कुछ झगड़ा हो जाता था तो झट सब राष्ट्रों के दो गुट्ट बन जाते थे। इस तरह समय समय पर नई संधियां होती रहती थीं, टूटती रहती थीं। किन्तु एक विचक्षण बात है कि राजनैतिक क्षेत्र में यह अनैतिकता और विषमता होते हुए भी यूरोप में अभूतपूर्व वैज्ञानिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आर्थिक विकास हो रहा था। समस्त जीवन, व्यक्ति का और समाज का, नई बुनियादों पर, नये आदर्शों पर, नये रूपों में ढल रहा था। इस पृष्ठभूमि में से उठकर यूरोप अब विश्व क्षेत्र में पदार्पण कर रहा था, वस्तुतः पदार्पण कर चुका था और १८७० तक तो वह विश्व क्षेत्र में इतना प्रसारित हो चुका था कि हम मान सकते हैं कि तब से यूरोप की हलचल केवल यूरोप की हलचल नहीं रहती वह दुनिया की हलचल हो जाती है, यूरोप की राजनीति केवल यूरोप की राजनीति नहीं रहती वह दुनिया की राजनीति हो जाती है।

यूरोप के आधुनिक सामाजिक इतिहास का अध्ययन

(१८-१९वीं शताब्दियां)

विज्ञान और यांत्रिक क्रांति

जो मानव अपनी कहानी के प्रारम्भिक युग में बाड़े में लौटती हुई अपनी भेड़ों की जांच कंकरों के सहारे गिनकर किया करता था कि कोई भेड़ गुम तो नहीं गई है, जो फिर बिना किसी वस्तु के सहारे ५ तक को गिनती जानने लगा था, कल्पना कीजिये वही आदि मानव धीरे धीरे विकास करता हुआ इस स्थिति तक पहुंचा कि वह अब केवल पांच नहीं किन्तु खगोल एवं ज्योतिष विज्ञान के अरबों खरबों की संख्या को अपनी कल्पना के दायरे में ला सकता था, वही मानव अब प्रकृति की गतिविधि का, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने लगा था कि क्या यह सूर्य है, क्यों वे ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं; कितनी गति से सूर्य का प्रकाश हमारे पास आकर पहुंचता है,-कैसे वनस्पति, जीव और मानव उद्भव और लुप्त होते हैं। मानव ने यह ज्ञान धीरे धीरे सम्पादन किया—ज्ञान सम्पादन की गति आधुनिक युग में कुछ तीव्र हुई।

पिछली दो शताब्दियों के महान् वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव समाज में क्रान्ति उत्पन्न करदी और इतिहास की धारा को बदल दिया। इन वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रकट होने के पहिले ऐसा मालूम होता था मानो इतिहास सहस्रों वर्षों से एक मंथर गति से चला आरहा है। साधारण जन का जीवन जैसा आज से ६-७ हजार वर्ष पूर्व विश्व की

आरम्भिक नगर सभ्यताओं के काल में था वैसा ही मानो आज से लगभग २०० वर्ष पूर्व था। वही बैल या घोड़े की सहायता से खेत में हल चलाना, बैलगाड़ी और रथ में या घोड़े, ऊंट या खच्चर पर यात्रा करना, हाथ चरखे पर ऊन या कपास कातना और हाथ करघे पर कपड़े बुन लेना। युद्ध हो तो तलवार, भाला, कटारी आदि से लड़ लेना। वह बात हम मान सकते हैं कि भिन्न भिन्न महत्त्वपूर्ण आविष्कारों से ही मानव सभ्यता आगे बढ़ी है, उसका विकास हुआ है। वैज्ञानिक आविष्कार, सभ्यता और सामाजिक संगठन के रूपों में परस्पर निकट सम्बन्ध रहा है। प्राचीन काल से आज तक मानव क्या क्या आविष्कार कर पाया है और किस प्रकार उसने सभ्यता में उन्नति की है—यह भी एक दिलचस्प कहानी है। यहां उस कहानी की रूपरेखा मात्र दी जा सकती है।

चारों ओर की भौतिक परिस्थियों की—वर्षा, आंधी, बर्फ, जंगली जानवरों की—थपेड़ खा खाकर एवं दैहिक आवश्यकता, भूख और प्यास और शारीरिक रक्षा भी अनिवार्यता महसूस करके आदि मानव के दिमाग में कुछ खलबली सी पैदा होने लगी होगी और वह आसपास की चीज और परिस्थिति को समझने का प्रयास करने लगा होगा, तभी मानो उस मानवीय हलचल का जन्म हुआ जिसे हम विज्ञान कहते हैं। ऐसा अनुमान है कि आज से लगभग एक लाख वर्ष पूर्व, प्राचीन प्रस्तर युग में, कहीं जंगल या गुफा में रहते हुए आदि मानव अग्नि का आविष्कार कर चुका था। आज से लगभग ४०-५० हजार वर्ष पूर्व उसने पत्थर के खुरदरे औजार और हथियारों का आविष्कार कर लिया था। उस समय वह किसी संगठित समाज का निर्माण नहीं कर पाया था। जंगली जानवरों की तरह टोलियों में वह मैदान, जंगलों या गुफाओं में रहता था।

फिर नव-प्रस्तर युग में आज से लगभग १५-२० हजार वर्ष पहले उसने चकमक और चिकने पत्थर का पता लगा लिया था एवं वह इन

पत्थरों के औजार और हथियार बनाने लगा था। अनुमानतः आज से १०-१५ हजार वर्ष पूर्व उसने तीन क्रांतिकारी आविष्कार किये, यथा धातु के औज़ार, खेतों में बीज बिखराकर अन्न उपजाना, और पशुपालन करना। शायद इसी समय उसने हल का आविष्कार कर लिया था। लगभग इसी काल में उसने घास की टोकरियां, मिट्टी के बर्तन एवं नाव बनाना सीख लिया था। इन वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ ही साथ उसके कबीलों का संगठन अधिक नियमित और सुसंबद्ध होने लगा था।

कृषि और पशुपालन के आविष्कार के बाद मनुष्य छोटे छोटे गांव बसाकर रहने लगे और संगठित सभ्यताओं का विकास होने लगा। ई० पू० ५०००–२००० वर्षों के काल में सुमेर, बेबीलोन, मिस्र, चीन और भारत (सिंधु घाटी) प्राचीन विज्ञान के केन्द्र रहे। इन प्रदेशों में उक्त काल में ईंट, कुम्हार का चकला, बढ़ईगिरी, पहिएवाली गाड़ी, धनुषबाण, नहर, बांध, कपास और ऊन के तार कातना और कपड़े बुनना लेखन लिपि, सूर्य-घड़ी, जल घड़ी, काल गणना के सिद्धांत, जवाहरात का आविष्कार हुआ। भौतिक आवश्यकताएं और परिस्थितियों का दबाव ही शायद इन आविष्कारों की जननी थी। ज्ञान की वृद्धि के लिए वस्तुओं पर प्रयोग कर कर के नई बात का पता लगाना—ऐसे आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं विज्ञान की प्रायोगिक रीति की चेतना शायद इन प्रदेश के लोगों में विकसित नहीं हो पाई थी। तथापि, जब मिस्र एवं बेबीलोन की सभ्यताएं पतनोनोन्मुख थीं तब भी चीन और भारत में नए ज्ञान विज्ञान की खोज, चीनमें विशेष कर प्रायोगिक विज्ञान की हलचल, होती ही रही। भौतिक विज्ञान, रसायन, ज्योतिष, गणित, शरीर एवं औषधि विज्ञान के अनेक सिद्धांतों और तथ्यों को प्रकाश में लाया गया। पाश्चात्य (यूरोपीय एवं अमेरिकन) विद्वानों द्वारा लिखित इतिहास की पुस्तकों में प्राचीन भारत और चीन की वैज्ञानिक प्रगति का उल्लेख सर्वथा नहीं मिलता। उनकी यह धारणा है कि उच्चस्तरीय भौतिक ज्ञान एवं उदात्त और गहन मानवीय अनुभूतियों और भावनाओं

का उदय और विकास पश्चिम में ही विशेष हुआ, और कि पाश्चात्य सभ्यता पूर्वीय सभ्यता से उत्कृष्टतर है; इस धारणा का मुख्य कारण यही है कि वे लेखक पूर्वीय देशों (चीन, भारत) के प्राचीन साहित्य से अनभिज्ञ रहे हैं। जो कुछ हो, ज्यों ज्यों पूर्वीय साहित्य प्रकाश में आता जा रहा है त्यों त्यों यह स्पष्ट होता जा रहा है कि चीन और भारत में भौतिक, शारीरिक, इहलौकिक वस्तुज्ञान एवं मानवीय भावनाओं के विकास की परम्परा बराबर बनी रही है, यहां तक कि गणित, ज्योतिष, वनस्पति, औषधि, भौतिक, एवं रसायन शास्त्रों के प्रारंभिक ज्ञान का आविष्कर्ता भारत को माना जा सकता है, एवं कई प्रकार के यंत्रों और आवश्यक वस्तुओं का मूल निर्माता चीन को। इन बातों की ऐतिहासिक साक्षी मिलती है कि ई० पू० पांचवी-छठी शताब्दी में और अनुमानतः इसके पूर्व भी, भारतीय एवं पश्चिमी दुनिया (ग्रीस) के विद्वानों में सम्पर्क था—परस्पर ज्ञान विज्ञान का आदान-प्रदान होता रहता था। ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि भारतीय विद्वान ग्रीस में ग्रीक भाषा सीखकर सोक्रेटीज एवं अन्य दार्शनिकों से वार्तालाप और वाद-विवाद किया करते थे।

भारत, चीन, सीरिया, बेबीलोन, ईरान, मध्य एशिया, ग्रीस, रोम (आधुनिक रेल तार न होते हुए भी) एक दूसरे से सम्बद्ध थे। जल-थल के रास्ते यात्री, व्यापारी, ज्ञान के भूखे विद्वान, साहसी अन्वेषक एक दूसरे देश में जाते रहते थे। इन सब देशों की ज्ञान विज्ञान की धाराएं परस्पर टकराती रहती थीं, मानों उक्त सब देशों की हलचलों ने मिलजुल कर ही उस प्राचीन दुनियां के मानव की सभ्यता और संस्कृति का विकास किया हो—बिल्कुल तो वे एक दूसरे से अज्ञात और अलग कभी नहीं रहे। वास्तु ज्ञान में अभिरुचि, उसमें अन्वेषण, अभिवृद्धि और विकास की परम्परा, हां भारत में तो प्रायः नवीं दसवीं शताब्दी में और चीन में १५वीं शताब्दी में प्रायः समाप्त हो गई। १५वीं शताब्दी के बाद तो मानों वास्तु विज्ञान में पश्चिम ही पश्चिम की देन रही।

जो हो, पूर्व में आविष्कृत वस्तुओं की, वहां के ज्ञान की थाती मिली ग्रीस को। फिर भी ऐसा माना जाता है कि जहां तक अध्ययन का प्रश्न है, प्रयोगात्मक विज्ञान के विधिवत अध्ययन की नींव ग्रीक दार्शनिक अरस्तु (३८५–३२२ ई० पू०) ने डाली। ई० पू० तीसरी शताब्दी में ग्रीस के प्रसिद्ध गणितज्ञ यूक्लीड ने रेखा गणित में आर्कमडीज ने भौतिक विज्ञान में, हीरो और फीलोने गणित-विज्ञान में, ईरेटोस्थीनीज ने भूगोल में और हिप्पारकस ने नक्षत्र-विज्ञान में महत्वपूर्ण नई जानकारियां हासिल कीं। ग्रीक सभ्यता की अवनति और पतन के साथ साथ वहां की वैज्ञानिक परम्परा समाप्त हो गई, किन्तु, जो कुछ उपलब्धियां ग्रीस ने प्राप्त की थीं वे सीरिया, ईरान और भारत के विद्वानों ने अपना ली थीं, अतः जब यूरोप (प्राचीन ग्रीस) में विज्ञान की परम्परा प्रायः समाप्त हो चुकी थी--रोमन सभ्यता काल में भी इसका विकास नहीं हुआ था, बर्बर युग में तो इसका नाम तक नहीं था--तब दुनिया के पूर्वीय देशों में यथा, भारत, ईरान, चीन, में उसका प्रचलन बना रहा, उसका विकास भी हुआ। भारत में आयुर्वेद शास्त्र ने वैज्ञानिक आधार पर खूब प्रगति की, बीज गणित और दशमलव भिन्न का आविष्कार किया इत्यादि। चीन में ई० पू० की पहली शताब्दी में भाषा की ब्लोक छपाई का, ई० सन् की दूसरी शताब्दी में कागज, पाँचवीं शताब्दी में दिक्सूचक यंत्र एवं छठी शताब्दी में गन पाउडर का आविष्कार हुआ—इत्यादि।

७वीं-८वीं शताब्दियों में इस्लाम के उत्थान के साथ साथ अरब के विद्वानों ने उक्त ज्ञान को अपनाया, उसकी परम्परा कायम रक्खी, और इन्हीं अरबी विद्वानों के माध्यम से एक बार फिर वह ज्ञान मध्य युग में यूरोप में पहुंचा। (इसीलिए यूरोपीय विद्वानों ने ग़ल्ती से गणित एवं रसायन शास्त्र के अनेक ऐसे तथ्यों का आविष्कर्त्ता जिनका ज्ञान पहिले से ही भारत को था अरब विद्वानों को मानलिया, जबकि वस्तुतः अरब लोगों ने वह ज्ञान भारत के सम्पर्क से सीखा था)। यद्यपि

मध्य-युग में वैज्ञानिक दृष्टिकोण तो लुप्तप्राय: था किन्तु फिर भी वैज्ञानिक कौशल, टैकनीक, संबंधी अवश्य कुछ काम हुआ। यूरोप में मध्ययुग में निम्न आविष्कार हुए:--

मध्ययुग—१. घोड़ों के लोहे की नाल लगाने का आविष्कार हुआ। (इसके पहिले रोमन लोग चमड़े की नाल लगाते थे इसलिये न तो वे अधिक बोझा ढो सकते थे और न पक्की सड़कों पर अधिक काम में लाये जासकते थे—भारी बोझा मानव द्वारा ढोया जाता था)। २. पतवार का आविष्कार (इसके पहिले रोमन जहाज डांडों के सहारे खेये जाते थे)। ३. १५८८ ई० में इङ्गलैंड में जहाजों के चलाने में मानव शक्ति की जगह वायु-शक्ति का प्रयोग हुआ। यह प्रयोग सबसे पहिले स्पेन के जहाजी बेड़े में हुआ। इसके पूर्व प्राय: मानव मजदूर डांडों से जहाज चलाते थे। ४. यांत्रिक घड़ी का आविष्कार अंधकार युग में निश्चित रूप से एक ईसाई मठ में हुआ। ५. यूरोप के इतिहास में रोमन साम्राज्य के अन्तिम वर्षों में मोसेली नदी के किनारे बनाई गई पहली पनचक्की का नाम आता है। हवा चक्की भी अंधकार युग के आविष्कारों में से है। १२वीं सदी आते आते हम यूरोप के विभिन्न स्थानों में हवा-चक्की का इस्तेमाल देखते हैं। रोमन काल में चक्कियां गुलामों या गदहों द्वारा चलाई जाती थीं।

आविष्कारों का यह तांता महत्वपूर्ण था। इसमें से प्रत्येक ने मनुष्य को गाड़ियां खेंचने, डांड खेने या चक्कियां चलाने जैसे कठिन परिश्रम-साध्य कार्यों से मुक्त किया। अवैज्ञानिक युग में होनेवाले ये आविष्कार बड़े राजनैतिक महत्व के थे। इन्होंने मानव को अदक्ष श्रम-शक्ति का स्रोत बनने से मुक्त कर दिया। वास्तव में 'मगनाकार्टा', हेबियस कोर्पस कानून या जिन दूसरे कानूनों की बात हम स्कूलों में पढ़ते हैं, उनकी अपेक्षा मानव को स्वतन्त्र करने में उपर्युक्त आविष्कारों की देन अधिक थी। सन् १२८५ ई० में आंखों के चश्मे का आविष्कार अलक्सेंदर-द-स्पीना ने किया। सन् १३७० ई० के लगभग काग़ज, बारूद, चुम्बक

और मुद्रण की कलायें चीन से यूरोप में मंगोल लोगों द्वारा लाई गई। १५वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कई मुद्रणालय यूरोप में खुल गये। इङ्गलैंड में सर्व-प्रथम छापाखाना सन् १४५५ ई० में खुला। पुनर्जागृति काल में विज्ञान की नींव फिर पड़ी और तभी से चमत्कारिक आविष्कार होने लगे।

पुनर्जागृति काल से आजतक (१९५०) व्यावहारिक-विज्ञान और विज्ञान संबंधी विचारों में जो कुछ भी विकास हुआ उसमें विकास के चार युग (काल खण्ड) हम स्पष्ट देख सकते हैं। १. (१५वीं-१६वीं शताब्दियाँ), इस युग में वैज्ञानिक हलचल विशेषकर इटली में रही; लेग्रोनार्दो दा विंची, वीसिलियस एवं कोपरनिकस इस युग के प्रसिद्ध वैज्ञानिक रहे। इन्होंने यंत्रविद्या, शरीर-विज्ञान और नक्षत्र-विज्ञान संबंधी कई नई बातों का पता लगाया। कोपरनिकस के पहिले पश्चिम के लोग बाइबल एवं प्राचीन ग्रीक-विज्ञान के आधार पर यह माने हुए थे कि अपनी सृष्टि का केन्द्र तो है पृथ्वी; सूर्य और ग्रह इस पृथ्वी के चारों ओर घूमते रहते हैं। किन्तु कोपरनिकस ने यह दर्शाया कि हमारी सृष्टि के केन्द्र में पृथ्वी नहीं किन्तु सूर्य है; पृथ्वी और अन्य ग्रह सूर्य के चारों तरफ घूमते रहते हैं। २. (१७वीं-१८वीं शताब्दियां), इस काल में वैज्ञानिक हलचल विशेषतया होलैण्ड, बैलजियम, फ्रांस और ब्रिटेन में रही। जीवन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्थापित करने में विशेष महत्त्वपूर्ण काम ब्रिटेन के दार्शनिक लोर्ड बेकन और फ्रांस के दार्शनिक डीकार्ट ने किया। डच वैज्ञानिक गैलीलियो ने सर्वप्रथम दूर्बीन बनाई एवं महानतम वैज्ञानिक न्यूटन ने इस विश्व का गणित की तरह सिद्ध एवं यंत्रवत परिचालित एक मोडल प्रस्तुत किया। ३. (१९वीं शताब्दी), इस काल में भाप और विद्युत शक्ति एवं तत्संबंधी यंत्रों का आविष्कार हुआ, जिनने जीवन के रहन सहन, परिवाहन और संदेशवाहन के सब पुराने तरीकों को ही बदल दिया। ४. इस काल को हम १९वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से प्रारंभ हुआ मान सकते हैं। यह हमारा ही युग है।

इस युग में विज्ञान ने इतनी तेजी से उन्नति की यथा, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीविजन, अणु एवं उद्जन बम इत्यादि, एवं सैद्धान्तिक क्षेत्र में न्यूटन से आगे बढ़कर आइन्स्टीन की उपलब्धियां—कि मानो विज्ञान आज हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के अंग प्रत्यंग में घुस चुका है ।

आधुनिक युग के कुछ महत्वपूर्ण आविष्कारों का वर्णन नीचे दिया जाता है:—

भाप एञ्जिन और रेल—सन् १७६५ ई० में इङ्गलैंड में जैम्सवाट ने अपना सर्व प्रथम भाप का एन्जिन बनाया । यह एन्जिन कोयले और लोहे की खदानों में से पानी बाहर फेंकने के काम आता था । इसी भाप के एन्जिन में और सुधार हुए और सन् १७८५ ई० में यह कपड़े की मील चलाने के काम में आने लगा । अभी तक ऐसा एन्जिन नहीं बना था जो गाड़ियों को दूरी तक खेंचने के काम में आता । यह काम इङ्गलैंड में ही जार्ज स्टीफनसन ने पूरा किया । सन् १८१४ में उसने कोयले की खानों से कोयला ढोने वाली छोटी गाड़ियां खेंचने के लिये एक एन्जिन तैयार किया । इस एन्जिन में और सुधार किया गया । सन् १८२५ ई० में जार्ज स्टेफनसन की ही देखरेख में दुनिया की सबसे पहिले रेलवे लाइन इङ्गलैंड में स्टोकटन और डार्लिंगटन नामक दो जगहों के बीच बनाई गई । यह मालगाड़ी थी । उसी ने फिर लिवरपूल और मेनचेस्टर दो शहरों के बीच सबसे पहिली पेसेंजर रेलगाड़ी तैयार की जिसके सर्व प्रथम एंजिन का नाम राकेट था । यह एंजिन, "राकेट", गाड़ियों को खेंचता हुआ ३५ मील फी घंटा की चाल से चलता था । इतनी तेजी से चलने वाली कोई भी वस्तु मानव ने पहिले कभी नहीं देखी । यह रफ्तार दुनिया में एक आश्चर्यजनक घटना थी, और सर्वाधिक आश्चर्यजनक बात यह कि बिना किसी जीव शक्ति के वह एंजिन चलता था । १९वीं शताब्दी के मध्य तक इङ्गलैंड भर में रेलों का एक जाल सा फैल गया । यूरोप में सर्व प्रथम रेलवे बेलजियम में एक अंग्रेज

इन्जिनियर द्वारा बनाई गई, वहां भी १६वीं शताब्दी के मध्य तक कई रेलवे लाइनें खुल गईं।

भाप के जहाज—स्टीम एंजिन के आविष्कार के पहिले जहाज डाँड, पतवारों या पाल (Sails) से चलते थे। ऐसी जहाजों का युग समाप्त हुआ और उनकी जगह अगनबोट (Steamer) चलने लगे। जहाज में सर्व प्रथम भाप के एंजिन का प्रयोग सन् १८०७ ई० में अमेरिका के एक इन्जिनियर फिलटन ने किया। यह स्टीमर शुरू शुरू में गहरी नदियों में ही चलते थे। पहला स्टीमर जिसने समुद्र में यात्रा की उसका नाम फोनिक्स (Phoenix) था। इसने अमेरिका में न्यूयार्क से फिलाडेलफिया तक यात्रा की थी। सन् १८०६ ई० में पहली स्टीमर ने अटलान्टिक महासागर पार किया। इनमें सुधार होते गये और जहां पाल के जहाजों को अटलान्टिक महासागर पार करने में कई महीने तक लग जाया करते थे वहां १६वीं सदी के अंत होने तक ऐसे स्टीमर चलने लगे जो अटलान्टिक महासागर को ५-६ दिन में ही पार करजाते थे।

कताई और बुनाई की मशीनों का आविष्कार—सन् १७६४ ई० में हारगंवज नामक लंकाशायर के एक जुलाहे ने स्पिनिंग जेनी (कई तकलों का एक चर्खा) का आविष्कार किया। इससे साधारण चर्खे की अपेक्षा कई गुना सूत कत सकता था। सन् १७६६ ई० में आर्कराइट ने; और सन् १७७५ ई० में क्रोम्पटन ने कताई की अधिक विकसित मशीनों का आविष्कार किया। इसी समय कार्टवाइट ने करघा मशीन (कपड़ा बुनने की मशीन) का आविष्कार किया। ये मशीनें पहिले तो घोड़ों द्वारा और फिर जल शक्ति द्वारा चलाई गईं। इसी समय भाप एंजिन का भी अविष्कार हो चुका था। सन् १७७५ ई० में भाप शक्ति से चलने वाली दुनिया की सर्व प्रथम कपड़े की मील की स्थापना नोटिंघम (इङ्गलेंड) शहर में हुई; मेनचेस्टर में सर्व प्रथम कपड़े की मील की स्थापना सन् १७८६ ई० में हुई, उसी साल जिस साल फ्रान्स की राज्य क्रांति हुई थी। फिर तो इङ्गलैण्ड में धड़ाधड़ कपड़े की बड़ी बड़ी मीलें

खुल गईं और मेनचेस्टर नगर कपड़े के व्यवसाय का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया। कुछ समय पश्चात ऊनी कपड़ा भी मशीनों द्वारा बनाया जाने लगा। पच्छिमी दुनिया में चर्खे और कर्घे प्राय: खत्म हुए और उनकी जगह लाखों आदमी मशीन द्वारा उत्पादित वस्त्र-व्यवसाय में लग गये।

खान और धातु कार्य—बड़ी बड़ी लोहे की मशीनें, रेल्वे एंजिन तथा स्टीमर कभी भी संभव नहीं होते यदि खानों में से धातु निकालने, उस धातु को शुद्ध करने तथा उसको मन चाहा मजबूत बनाने के कार्य में, उसको गलाने और ढालने के काम में तरक्की नहीं होती। सन् १८५८ ई० में इङ्गलेंड में एक इन्जिनियर लोहे का फौलाद (Steel) बनाने में सफल हुआ, और १८६१ ई० में धातुओं को गलाने के लिये (Electric Furnace) बिजली की भट्टी का आविष्कार हुआ।

बिजली तार तथा टेलीफोन—१९वीं शताब्दी के उत्तारार्ध में इङ्गलेंड के वैज्ञानिक फैराडे ने (Faraday) बिजली संबधी कई तथ्यों का उद्घाटन किया। सन् १८३१ ई० में उसने डाइनमो का भी आविष्कार किया। बिजली के कई तथ्यों के अविष्कार के फलस्वरूप तार और टेलीफोन का भी आविष्कार हुआ। सन् १८३५ ई० में सब से पहली तार की लाइन लगी। सन् १८५१ ई० में फ्रान्स और इङ्गलेंड के बीच सर्व प्रथम केवल (समुद्र पार तार भेजने की व्यवस्था) लगाया गया। सन् १८७६ ई० में आपस में बातचीत करने वाले टेलीफोन का सर्व प्रथम प्रयोग हुआ। फिर तो धीरे धीरे सब जगह जहां जहां रेल्वे लाइन बनी तार, टेलीफोन भी साथ साथ लगने लगे।

उपरोक्त बिजली के तथ्यों के उद्घाटन के बाद सन् १८७८ ई० में सर्व प्रथम बिजली की रोशनी का प्रचलन हुआ, इसी वर्ष अमेरिकन वैज्ञानिक एडीसन ने विद्युत लेम्प का आविष्कार किया था और तदुपरान्त तो बिजली शक्ति का प्रयोग भाप शक्ति की तरह मशीनें और रेलगाड़ी इत्यादि चलाने में भी होने लगा।

मोटर, एवं हवाईजहाज—अभी तक तो चालक शक्ति केवल भाप और विद्युत के रूप में ही उपलब्ध थी किंतु लगभग १८८० ई० में पेट्रोल

की खोज हुई जो एक ऐसा तेल था जो एक्सप्लोड होने पर (फट जाने पर) भाप और बिजली की तरह एक चालक शक्ति पैदा करता था। इस बात की खोज होजाने पर पेट्रोल तेल के द्वारा सड़कों पर मोटरें चलने लगीं। सर्व प्रथम वायुयान का निर्माण १८९७ ई० में प्रोफेसर लेंगवे ने किया। फिर सन् १९०३ में अमेरिका के राइट बन्धुओं ने सर्व-प्रथम हवाई-जहाज में उड़ान किये। ऐसी हवाई-जहाज जिसमें कुछ आदमी बैठकर यात्रा करसकते थे सन् १९०९ में बनी। हवाईजहाजों में विशेष तरक्की प्रथम महायुद्ध काल में हुई जब जर्मनी के जेपलिन ने गोलाबारी करने के लिये जेपलिन नामक एक बड़ी हवाई-जहाज बनाई। उसके बाद वायुयान का प्रचलन बढ़गया यहां तक कि सन् १९४० के आते आते हवाईयात्रा एक साधारणसी वस्तु होगई। १९३८ ई० में एक हवाई-जहाज ने संसार का चक्र तीन दिन १९ घंटे में लगाया। १९०३ में राइट बन्धुओं की हवाई-उड़ान की चाल ३० मील प्रति घंटा के हिसाब से थी। १९४० के आते आते हवाई-जाहज की चाल ४७० मील प्रति घण्टा तक होगई।

सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन इत्यादि—सन् १८७६ ई० में ध्वनि रेकार्ड करने के लिये अमेरिकन विज्ञानवेत्ता एडीसन ने ग्रामोफोन का आविष्कार किया। इन्हीं विज्ञानवेत्ता ने १८९३ ई० में चलचित्र फिलम का आविष्कार किया, फिर १८९५ में फ्रांसीसी वैज्ञानिक लूमेर ने फिल्म-प्रोजेक्टर का आविष्कार किया। इस प्रकार धीरे धीरे सिनेमा चलचित्रों का आविष्कार हुआ।

सन् १८९५ ई० में इटली के विज्ञानवेत्ता मार्कोनी ने वायरलेस और रेडियो का आविष्कार किया। १२ दिसम्बर सन् १९०२ के दिन रेडियो द्वारा प्रथम सम्वाद भेजा गया। आज सन् १९५० में रेडियो घर घर व्याप्त है।

सन् १९२६ ई० में इङ्गलेंड के विज्ञानवेत्ता बेअर्ड ने टेलीविजन का (अर्थात् वह व्यवस्था जिसके द्वारा रेडियो की तरह दूर तक केवल ध्वनि

ही नहीं भेजी जाती थी किन्तु बोलने या गाने वाले के चित्र एवं अन्य दृश्यों के चित्र भी भेजे जासकते थे) आविष्कार किया।

विज्ञान के विकास की कहानी निम्न तालिका में दर्शायी जाती है। इस तालिका में विशेष वैज्ञानिक खोजों और उपलब्धियों के नाम, उनके पता लगने का काल, आविष्कारकों के नाम (जहां तक विदित हो सके हैं), इत्यादि दिये जाते हैं। तालिका से यह भी स्पष्ट होगा कि वैज्ञानिक हलचल के विशेष युग सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के समानान्तर चलते रहते हैं, और तदनुरूप ही सामाजिक आदर्श और भावनाएं बदलती रहती हैं। जैसे खेती, हल, कांस्य के औजार, ईंट, बांध, नहर द्वारा सिंचन, कुम्हार का चकला, बढ़ईगिरी, गाड़ी एवं कपड़ा बुनने की क्रिया के आविष्कार के उपरान्त ही सुसंगठित मानव-समाज और सभ्यता का प्रादुर्भाव हो पाता है। मध्ययुग में विज्ञान की प्रक्रिया मंद रहती है एवं सामाजिक संगठन भी धर्मभीरुता के आधार पर कृषिभावना-प्रधान—आत्म निर्भर गांव—सामंतशाही ढंग का चलता रहता है; रिनेसां के बाद विज्ञान की हलचल कुछ तीव्र होती है, उसके आविष्कार और विचार समाज को छूते हैं, सामंती सामाजिक संगठन में धीरे धीरे परिवर्तन होने लगता है, एक नया ही वर्ग धीरे धीरे उत्पन्न होता है; पहिले व्यापारियों का पूंजीपति वर्ग और फिर १९वीं सदी में (विशेषतया पच्छिमी यूरोप में जो वैज्ञानिक हलचल का केन्द्र रहता है) पूंजी और विज्ञान द्वारा आविष्कृत मशीनों का गठ-बंधन होता है, उत्पादन के साधनों और ढंग में परिवर्तन होता है और तदनुरूप एक विशेष व्यक्ति-वादी संस्कृति, और पूंजीवादी सामाजिक संगठन का विकास होता है। बीसवीं सदी में विज्ञान के नए विचार और आविष्कार विज्ञान, प्रकृति और मानव को कुछ घुलामिला देते हैं, एवं धीरे धीरे प्रतिस्पर्धा-प्रधान व्यक्तिवादी, संस्कृति और पूंजीवादी आर्थिक-सामाजिक संगठन का विकास सहकारिता के भाव पर आधारित संस्कृति और समाजवादी आर्थिक—सामाजिक संगठन की ओर होता है।

वैज्ञानिक आविष्कारों की कहानी

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
प्राचीन प्रस्तर युग (१ लाख वर्ष-२० हजार वर्ष ई० पू०)	?	?	?	अग्नि; खुरदरे पत्थर के हथियार।	जंगलों, गुफाओं में टोलियां बनाकर रहना।
नव प्रस्तर युग (२० हजार वर्ष–५ हजार वर्ष ई० पू०)	?	?	?	चकमक; चिकना पत्थर; उनके औजार और हथियार; धातु के औजार; बीज बिखरा कर अन्न उपजाना; कालांतर में हल; पशु पालन; मिट्टी और घास फूस के घर; मिट्टी के बर्तन।	संक्रांति काल की स्थिति; कुल एवं कबीले; गांव बसाकर रहना।
नदी घाटी सभ्यताओं का युग (५०००–२००० ई०पू०)	?	?	?	ईंट; पत्थर और ईंट के मकान; कुम्हार का चकला; पोलिशदार मिट्टी के बर्तन; बढ़ईगिरी (तिपाई, कुर्सी, टेबल); पहिये वाली गाड़ी;	प्रथम बार सुसंगठित समाज (गांव, नगर, राज्य)

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
				जहाज; धनुषबाण; नहर; बांध; जवाहरात; ऊनी सूती कपड़े; गणित; लेखन विधि; सूर्य एवं जल घड़ी; काल-गणना; नक्षत्र-विज्ञान ।	
प्राचीन चीनी भारतीय एवं ग्रीक सभ्यताओं का युग			भारत एवं चीन	गणित; ज्योतिष (नक्षत्र-विज्ञान); भौतिक-शास्त्र; रसायन शास्त्र; वनस्पति-शास्त्र; प्राणि-शास्त्र; भूगर्भ-शास्त्र; के प्रारम्भिक मूल तत्त्वों का ज्ञान ।	दास प्रथा, या वर्ग या वर्ण विभेद पर आधारित समाज ।
			मूलतः भारत की देन	शून्यांक और स्थान मूल्य की दशमलव विधि । अंकगणित की ८ मूल विधियां—धन, ऋण, गुणा भाग, वर्गमूल, घनमूल, ऐकिक नियम भिन्न । बीजगणित, आयुर्वेद	

युग	आविष्कारक: नाम	काल	देश	आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	'लगध'	३०० ई० पू०	भारत	ग्रंथ : 'वेदांग ज्योतिष' 'सूर्य सिद्धान्त' 'रोमक सिद्धान्त' 'पोलिश सिद्धान्त'	
	चरक	ई० सन् प्रथम शताब्दी	भारत	ग्रंथ : 'चरक संहिता'	
	सुश्रुत	(चरक के कुछ समय पश्चात्)	भारत	ग्रंथ : "सुश्रुत संहिता" (शल्यकर्म, चीराफाड़ी, की विस्तृत व्याख्या)	
	नागार्जुन	१५० ई०	भारत	(महान रसायन शास्त्रज्ञ)	
	आर्यभट्ट	४७६ ई०	भारत	(गणितज्ञ, ज्योतिषाचार्य; बीज गणित की प्राचीनतम पुस्तक का रचयिता)	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	?	पांचवीं शताब्दी	भारत	ग्रंथ : "सूर्य सिद्धान्त" (त्रिभुज का क्षेत्रफल निकालने की विधि; ज्या (Sine) कोटिज्या (Cosine) की विवेचना।)	,,
	विराहमिहिर	५वीं शताब्दी	,,	ग्रंथ : "बृहत्संहिता" (एक प्रकार का विश्वकोष—धातुशास्त्र, रत्न विद्या, भवन निर्माण कला, वनस्पति शास्त्र) "बृहत्‌जातक", "लघु-जातक" (भौतिक शास्त्र)	
	भास्कराचार्य (प्रथम)	५२२ ई०	,,	गणितज्ञ	
	वाग्भट्ट	छठीं शताब्दी	,,	"अष्टांग संग्रह" (चरक और सुश्रुत का सार)	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	ब्रह्मगुप्त	५९८ ई० (जन्म)	भारत	ज्योतिष ग्रंथ : "ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त" बीजगणित एवं रेखागणित की कई नई स्थापनाएँ	
	बोधायन एवं कात्यायन	?	,,	"शल्व सूत्र ग्रंथ" (कोण, वर्ग, त्रिकोण, समीकरणका ज्ञान)	
	?	छठी-सातवीं शताब्दी	,,	पशु चिकित्सा ग्रंथ— पालकप्य का 'हस्त्यायुर्वेद' शालिहोत्र का 'अश्व-शास्त्र' जयदत्त और दीपंकर का 'अश्व-वैद्यक' नकुल का 'अश्व-चिकित्सा'	,,
,,	पाईथागोरस	५८२-५०० ई० पू०	ग्रीस ,,	रेखागणित की पाईथागोरस नामक प्रसिद्ध स्थापना	,,

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
"	हिप्पोक्रीटीज	?	ग्रीस	औपध-विज्ञान के प्रसिद्ध संस्थापक, उनके नाम से प्रसिद्ध शास्त्र अनुमानतः ४५०–३५० ई० पू० में निर्मित ।	"
	हीरोफीलस	३०० ई० पू०	"	नाड़ी शास्त्रज्ञ	
	यूक्लीड	३०० ई० पू०	"	रेखागणित की स्थापनाएँ	
	आर्शमीडीज	२८७-२१२ ई० पू०	"	भौतिक-विज्ञान की स्थापनाएँ	
	ईरासिसट्राटस	२८० ई० पू०	"	शरीर-विज्ञान में जानकारी	
	ईराटोस्थनीज	२७५-१९४ ई० पू०	"	भूगोल में नई जानकारी	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	हिप्पारकस	१६२-१२० ई० पू०	ग्रीस	नक्षत्र-विज्ञान में नई बातें	
	हीरो	१०० ई० सन्	,,	गति-विज्ञान (डाईनेमिक्स)	
	टोलमी	६७-१६८ ई० सन्	ग्रीक मिस्त्री	नक्षत्र-वैज्ञानिक, भूगोल-शास्त्री, गणितज्ञ	
	गेलन	१३०-२०० ई० सन्	ग्रीस	प्रसिद्ध ग्रीक डाक्टर	
			चीन		
	×	ई० पू० पहली शताब्दी	,,	भाषा की ठप्पे (ब्लोक) से छपाई	,,
		ई० सन् दूसरी शताब्दी	,,	कागज	
		पांचवीं शताब्दी	,,	दिग्सूचक यंत्र	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	?	छठी शताब्दी	चीन	बारूद (गन पाउडर)	,,
	?	७वीं श.	,,	घोडे का पट्टा, खुड़ताल, जहाज का रडर (इसमें जहाज महासागरों में जाने लगे)	
मध्य युग	?	?	अरब	पत्थर के चश्मे (Lenses); भारतीय गणित के अंकों में सुधार; बीजगणित एवं त्रिकोणमति का विकास।	सामंतवाद की ओर झुकाव
	जब्बीर	८वीं सदी	,,	रसायन-शास्त्र की अधिक वैज्ञानिक आधार पर स्थापना (इत्र निकालना, सोडा, फिटकरी का उत्पादन)	
	अल-फरग़नी	मृ. ८५ ई०	,,	(नक्षत्र-विज्ञान कोष)	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
	अल-राज़ी	८६५-९२५	अरब	(दवाई एवं इलाज के ग्रंथ)	
	अल-मसूदी	९००-९५७	,,	भूगोल (रूस, भारत एवं मध्य-अफ्रीका का बुद्धि-सम्मत भौगोलिक वर्णन)	
	इब्नसीना	९८०-१०३७	,,	बीमारियों के इलाज और दवाइयों में कई नई जानकारियाँ	
,,	?	१००० (लगभग)	यूरोप ,,	शराब (Alcohol), पवन-चक्की, जल-चक्की । इनका आविष्कार मध्य-युग से पूर्व, किन्तु सामान्य प्रयोग मध्य-युग में ही ।	सामंतवादी सामाजिक संगठन
	?	१२०० (लगभग)	,,	यांत्रिक घड़ी	
	?		इटली	ऐनक का प्रयोग	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
"	?	१३५० (लगभग)	यूरोप	बन्दूक और तोप का प्रयोग	"
	गटनबर्ग	१४५०	जर्मनी	मुद्रण-टाइप	
रिनेसां युग	कोपर्निकस	१४७३–१५४३	पोलैण्ड	सौर मंडल सिद्धान्त (सूर्य केन्द्र में, ग्रह उसके चारों ओर घूर्णित); आधुनिक नक्षत्र-विज्ञान का महान संस्थापक।	व्यापारिक पूंजीवाद
	ब्रूनो	१५४८–१६००	इटली	पूर्व मान्यता के विरुद्ध कोपर्निकस द्वारा उद्घाटित वैज्ञानिक सत्य को सत्य मानने के लिए शहीद	
	लिपरशे	१६०८	होलैण्ड	टैलिस्कोप (दूर्बीन)	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
	कैपलर	१५७१–१६३०	जर्मनी	कोपर्निकस के सौर-मंडली सिद्धान्त के सहायक रूप इस बात का प्रतिपादन कि ग्रह सूर्य के चारों ओर अपनी अपनी निश्चित गति से अण्डाकार राह में घूमते हैं।	
,,	गैलिलियो	१५६४–१६४२	इटली	सूर्य, ग्रहों एवं नक्षत्रों का अध्ययन करने के लिए टेलिस्कोप का सर्व प्रथम प्रयोग; नक्षत्र एवं ग्रहों की गतियों का गणित के आधार पर वर्णन; भौतिक शास्त्र का प्रायोगिक विधि का संस्थापक।	,,
	हारवे	१६२८	इंगलैंड	शरीर में रुधिर प्रवाह का सिद्धान्त एवं हृदय का कार्य	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
	टौरीचैली	१६४३	इटली	बैरोमीटर	
	हुक	१६६५	इंगलैण्ड	अनुवीक्षण-यंत्र (माईक्रोस्कोप) द्वारा शरीर में जीव कोषों (Cells) के अस्तित्व का सर्वप्रथम पता लगाना।	
,,	लीयुवेन हुक	१६७५	होलैण्ड	अनुवीक्षण-यंत्र द्वारा कीटाणुओं एवं बीज कोषों (Spermatazoa) के अस्तित्व का पता लगाना।	,,
आधुनिक युग	न्यूटन	१६४२–१७२७	इंगलैण्ड	गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त (१६८७); एवं यह सिद्धान्त कि सृष्टि का परिचालन गणित के कुछ सामान्य नियमों के अनुसार यंत्रवत अपने आप होता रहता है। महान वैज्ञानिक।	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
	फ्रैंकलिन	१७५२	अमेरिका	विद्युत् का गुण; लाइटनिंगरोड	
	कैवेंडिश	१७६६	इंगलैण्ड	उद्जन गैस (हाईड्रोजन)	,,
	प्रीस्टले	१७७४	,,	ओक्सीजन गैस	
	वॉट	१७६६	,,	स्टीम ऐंजिन	औद्योगिक पूंजीवाद की ओर विकास
	मोंटगोलफियर	१७८३	फ्रांस	गर्म हवा से चलने वाला गुब्बारा	
	लैवाइज़ियर	१७८३	,,	अग्निदाह (जलने) का सिद्धान्त, रासायनिक अन्वेषण में तुला का प्रयोग।	
	आर्कराइट	१७८५	इंगलैण्ड	पावरलूम (शक्तिचालित कर्घा)	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
"	फिच	१७८७	अमेरिका	स्टीम बोट (भाप ऐंजिन से चलनेवाली नाव)	"
	जैनर	१७९६	इंगलैण्ड	चेचक का टीका	
	थोमसन	१७९८	"	ताप का यांत्रिक सिद्धान्त	
	वोल्टा	१८००	इटली	बिजली की बैटरी	
	डाल्टन	१८०३	इंगलैण्ड	अणु-सिद्धान्त; रासायनिक संगठन के नियम	
	फुल्टन	१८०७	अमेरिका	भाप ऐंजिन से चलनेवाली पानी की जहाज	
	—	१८०९	"	प्रथम स्टीमर ने अटलांटिक महासागर पार किया	

युग	आविष्कारक नाम	काल	देश	आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक सगठन
	स्टीफनसन	१८१४	इंगलैण्ड	रेल का ऐंजिन	औद्योगिक पूंजीवाद
	लाऐनक	१८१६	फ्रांस	स्ट्रेथीस्कोप	
	×	१८२४	×	फोटोग्राफी	
,,	—	१८२५	इंगलैण्ड	सर्वप्रथम रेलगाड़ी. स्टोकटन से डार्लिगटन (इङ्गलैण्ड में)—इञ्जीनीयर स्टीफनसन	,,
	वाकर	१८२७	?	दियासलाई	
	फैराडे	१८३१	इंगलैण्ड	विद्युती-चुम्बह प्रवाह; डायनमो मशीन	
	सेम्यूअल कोल्ट	१८३५	अमेरिका	पिस्तोल (रिवोलवर)	
	मोर्स	१८३७	,,	तार (संदेशवाहन)	,,

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजीक संगठन
	नाम	काल	देश		
	श्वान	१८३९	जर्मनी	जीव-पदार्थ (प्राणियों का शरीर) कोषों (Cells) से निर्मित है ।	
	गुडयीअर	१८३९	अमेरिका	रबर में गंधक मिलाकर टायर या अन्य ऐसी ही वस्तु बनाने की विधि ।	
	मैकमिलन	१८४०	स्कोटलैण्ड	बाईसिकल	"
"	लोंग	१८४२	?	चेतना शून्य करनेवाली औषध का सर्वप्रथम प्रयोग	
	हो	१८४६	अमेरिका	मुद्रणालय के लिए रोटरी मशीन	
	होवर	१८४६	?	कपड़ा सीने की मशीन	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
	होल्सहोल्टज	१८४७	जर्मनी	शक्ति स्थिरता का सिद्धांत	
	फील्ड	१८५८	अमेरिका	समुद्र में तार द्वारा (केबल) संदेश वाहन	,,
	डार्विन	१८५६	इंगलैण्ड	विकासवाद एवं प्राकृतिक निर्वाचन का सिद्धान्त	
	बनसेन	१८६०	जर्मनी	स्पेक्ट्रोस्कोप (रंगावलीक्ष)	
,,	गैटलिंग	१८६१	अमेरिका	मशीनगन	
	नोबेल	१८६२	स्वीडन	डिनेमाइट	
	मेंडल	१८६५	आस्ट्रिया	वंशानुक्रम के सिद्धान्त	,,
	पैस्तूर	१८६६	फ्रांस	यह सिद्धान्त कि अनेक रोगों के कारण कीटाणु होते हैं।	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	लिस्टर	१८६७	इंगलैण्ड	कीटाणुमुक्त शल्य कर्म (ऐन्टी सेपटिक सरजरी)	,,
	ग्रैम	१८७०	बेलजियम	औद्योगिक डायनमो	
	शोल्स, सोल एवं ग्लिडन	१८७३	अमेरिका	टाइपराइटर	
	मैक्सवैल	१८७३	इंगलैण्ड	प्रकाश का विद्युत-चुम्बकीय सिद्धान्त	,,
	बैल	१८७६	अमेरिका	टैलीफोन	
	ऐडिसन	१८७६	,,	फोनोग्राफ	
	×	१८७८	×	सर्वप्रथम बिजली की रोशनी लगना।	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	×	१८८०	×	पैट्रोल की खोज	,,
	पैस्तूर	१८८२	फ्रांस	पागल कुत्ते द्वारा काटे जाने पर इलाज	
	कोच	१८८२	जर्मनी	टी. बी. के कीटाणुओं की खोज	
	वाटरमैन	१८८४	अमेरिका	फाउन्टेन पैन	
	?	१८८४	जर्मनी	सर्वप्रथम मोटरगाड़ी	
	स्टैनले	१८८५	?	विद्युत परिवर्तक (ट्रांस-फोरमर)	
	डनलप	१८८६	स्कोटलैण्ड	टॉयर (मोटर का)	
	वीजमैन	१८९२	जर्मनी	वंशानुक्रम में पित्र्य-द्रव्य (Germ plasm) का सिद्धान्त	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	ऐडिसन	१८९३	अमेरिका	चलचित्र (सिनेमा), शिकागो में प्रथम तमाशा	,,
	रोंटजन	१८९५	,,	क्ष-रश्मि (X–Ray)	
	बैंकरल	१८९५	फ्रांस	यूरेनियम में तेजोद्‌करण क्रिया।	
	मार्कोनी	१८९६	इटली	बेतार का तार	
	प्रो० थोमसन	१८९७	इंगलैण्ड	विद्युदण का पता लगाना एवं उसका पृथक्कीरण	
	डीजल	१८९७	जर्मनी	तैल-ऐंजिन	
	ऐडिसन	१८९८	अमेरिका	टॉकिंग पिक्चर्स (बोलते चित्र)	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	क्यूरी (दम्पत्ति)	१८९८	फ्रांस	रेडियम का पता निकालना	,,
	प्लांक	१९००	जर्मनी	क्वांटम सिद्धान्त (ऊर्जाणुवाद)	
	होलैण्ड	१९००	अमेरिका	पनडुब्बी (सबमैरीन)	
	ह्यूगोव्रीस	१९०१	होलैण्ड	परिवर्तनवाद (म्यूटेशन)	
	माइकलसन	१९०२	जर्मन-अमेरिकन	प्रकाश का प्रवेग (गति)	
	—	१९०२	—	रेडियो द्वारा प्रथम संवाद ग्रहण	
	राइट बंधु	१९०३	अमेरिका	हवाई जहाज	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	गाल्टन	१९०४	इंगलैण्ड	नस्ल सुधार विज्ञान (यूजेनिक्स) का संस्थापन	,,
	आईंस्टाइन (महानतम-वैज्ञानिक)	१९०५	जर्मनी	सापेक्षवाद का सिद्धान्त; पदार्थ एवं शक्ति एक दूसरे में परिवर्तनशील—सूत्र $E=mc^2$	
	फ्रायड	१९०८	आस्ट्रिया	मनोवैज्ञानिक विश्लेषण	
	मोर्गन	१९०९	अमेरिका	वंशानुक्रम की यांत्रिक प्रक्रिया एवं पित्र्यसूत्र (क्रोमोसोम) में पित्र्यैक (जीन्स) की स्थिति का पता लगाना ।	
	ब्रीक्वैट	१९०९	?	हैलीकोप्टर	
	पैवलोव	१९१०	रूस	सिद्धान्त कि मानसिक वेग शरीर की यांत्रिक क्रियाओं पर आधारित है ।	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	रदरफोर्ड	१९११	इंगलैण्ड	यह सिद्धान्त कि अणु तो मुख्यतः दिक् (Space) है; अथवा परमाणु केन्द्रक (न्यूक-लीयस) का सिद्धान्त	,,
	नीलसबोर	१९१३	डैनमार्क	विद्युदणु सिद्धान्त–परमाणु केन्द्रक के चारों ओर विद्युदणु घूमते रहते हैं	
	स्विनटन	१९१४	×	युद्ध-टैंक	समाजवाद की ओर प्रगति
	द ब्रोगली	१९२४	फ्रांस	विद्युदणु का तरंग-स्वभाव का सिद्धान्त	
	बेअर्ड	१९२५	इंगलैण्ड	टैलीविजन	
	प्लांक	१९२६	जर्मनी	क्वांटम मैकेनिक्स (ऊर्जाणु-यांत्रिकी)	,,

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	शैडविक	१९३२	जर्मनी	न्यूट्रन का पता लगाना	,,
	कोकरोफ्ट	१९३२	,,	अणु का विपाटन (Splitting of atom)	
	लोरेंस	१९३२	अमेरिका	साईक्लोट्रोन	
	ई० फरमाई	१९३६	इटली, उपरान्त अमेरिका	इलैक्ट्रोन द्वारा यूरेनियम पर प्रहार	
	जूलियट क्यूरी	१९३६	फ्रांस	कृत्रिम रेडियोस्टोपस का निर्माण	
	हैन एवं स्ट्रैसमैन	१९३९	जर्मनी	यू-२३५ का विपाटन (यूरेनियम के नाभिकण-केन्द्रक के विखंडन (Fission) से अणु शक्ति का निर्माण	

युग	आविष्कारक			आविष्कार	तत्कालीन सामाजिक संगठन
	नाम	काल	देश		
,,	फरमाई	१९४२	इटली, अमेरिका	परमाणु रिएक्टर (अणु-भट्टी)	,,
	?	१९४५	अमेरिका	अणुबम	
	—	१९४६	—	कृत्रिम पैनीसिलीन; एवं स्ट्रेपटोमाईसीन	
	—	१९५७	रूस	अन्तर्महाद्वीपीय विध्वंसक अस्त्र	
	—	१९५७	भारत	विद्युदणुओं से भी एक हजार गुणा शक्तिशाली आधारभूत कण K-Messons (के-मैसन्स) का पता लगाना	

औद्योगिक क्रांति (१७५०-१८५०)

१८वीं सदी के उत्तरार्द्ध और १६वीं सदी के पूर्वार्द्ध में, यूरोप में विशेषकर इङ्गलैंड फ्रांस, और जर्मनी में वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप एक जबरदस्त यांत्रिक क्रांति हुई। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों ने यह क्रांति पैदा की उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। वैज्ञानिक और इंजीनियर लोग इस बात की चिंता किये बिना कि उनके आविष्कारों से राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा अपने आविष्कार किये चले जा रहे थे। यँत्रों की मदद से अब मानव पहिले की अपेक्षा दस गुना, सौ गुना अधिक तेज रफ्तार से चल सकता था, हवा में उड़ सकता था, हजारों मील दूर बैठा हुआ दूसरे आदमी से बातचीत कर सकता था। यंत्र की सहायता से ऐसे भारी काम जो पहिले हजारों आदमी भी एक साथ अपनी शक्ति लगाकर नहीं कर सकते थे अब वह अकेला कर सकता था। क्या यह क्रांति अद्भुत नहीं थी ?

इस यांत्रिक क्रांति के साथ साथ पच्छिमी देशों में औद्योगिक क्रांति हो रही थी। नये नये यांत्रिक आविष्कारों का प्रभाव सामाजिक और आर्थिक जीवन पर पड़ा ही। अनेक शताब्दियों से एक ढङ्ग से चले आते हुए पारिवारिक और सामाजिक जीवन में बुनियादी परिवर्तन पैदा हुए। इस क्रांति के पूर्व व्यवसाय की इकाई कुटुम्ब थी। गांव में बसा हुआ घर ही उस इकाई का कारखाना था। अर्थात् लोहार को जो कुछ बनाना होता था, खाती को जो कुछ बनाना होता था, कुम्हार को जो कुछ बनाना होता था, जुलाहे को जो कुछ बनाना होता था—यह सब काम वह अपने घर पर बैठा बैठा कर लेता था और सारे कुटुम्ब वाले उसमें मदद कर देते थे। श्रम का कोई विशेष विभाजन नहीं था, दुनिया के प्राय: सभी देशों में यही हाल था। औद्योगिक क्रांति के बाद पूंजीपति तो हो गया व्यवसाय या उद्योग का मालिक, काम करने का स्थान घर न होकर मिल या कारखाना और वहां काम करने वाले पैदा होगए, पूंजीपति पर आश्रित, वेतन भोगी मजदूर। जुलाहे के घर की जगह

अब कपड़े की मिल बनगई, लोहार के घर की जगह बड़े बड़े लोहे और इस्पात के कारखाने और कुम्हार के घर की जगह पोटरी के कारखाने। प्राय: १९वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों तक इङ्गलैंड, फ्रांस और जर्मनी में गृह एवं हस्त उद्योग यांत्रिक-फैक्टरी प्रणाली में परिवर्तित हो चुके थे। उन दिनों लंकाशायर दुनिया की औद्योगिक चहल पहल का मानो एक केन्द्र सा बन गया था। अमेरिका में प्राय: १८३० ई० तक ऊनी सूती कपड़े बनाने के लिए सब हस्त उद्योग बंद हो चुके थे और उनके स्थान पर वस्तुओं का यंत्र से उत्पादन करनेवाले कारखाने खुलगए थे। गांवों से सैकड़ों गरीब लोग अपना घर छोड़ छोड़कर कमाई के लिये कारखानों की ओर जाने लगे। बड़े बड़े कारखाने खुल गये जिनमें हजारों मज़दूर काम करते थे, मज़दूरों के रहने के लिये कारखानों के आसपास ही सस्ते घर बन जाते थे—उनमें सफाई का कोई ख्याल नहीं रखा जाता था। ये घर, गलियां सब नर्क की गन्दगी से भी बुरी होती थीं—मानव रहवास के बिल्कुल अयोग्य। औद्योगिक नगरों में जनसंख्या में भी खूब वृद्धि हो गई थी, उसकी वजह से भी कई नई समस्यायें उत्पन्न होगईं। कई नई नई तरह की बीमारियां पैदा होने लगीं, लोगों का स्वास्थ्य गिरने लगा।

एक ओर तो कारखानों की कमाई से, कारखानों के मालिक पूंजीपतियों के हाथों में अतुल सम्पति एकत्र हो रही थी और दूसरी ओर यह प्रयत्न हो रहा था कि मजदूरों से अधिकाधिक काम लेकर उनको कम से कम वेतन दिया जाए—बस इतना कि खाकर काम करने के लिये जिन्दा रह सकें। जनता में अभी शिक्षा का प्रसार नहीं हो पाया था और न यह मानवीय भावना ही कि मानव के व्यक्तित्व का कुछ मूल्य होता है। अत: निःसंकोच छोटे छोटे बच्चों से, स्त्रियों से भी, कारखानों में १२–१२, १४–१४ घण्टे काम लिया जाता था। जहां जहां भी यान्त्रिक उद्योग का विकास हुआ वहां वहां ऐसी ही अवस्थायें पैदा होती गईं। राज्य की ओर से कोई दखल नहीं दिया गया, क्योंकि यह देखा गया कि

जहां व्यवसायिक क्रांति के पूर्व राज्य सत्ता का आधार भूमि थी अब वह आधार व्यवसायिक समृद्धि थी। औद्योगिक क्रांति के पूर्व इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि सब कृषि प्रधान थे, कुछ हस्त कला-कौशल वाले कारीगरों, व्यापारियों को छोड़कर प्राय: समस्त लोग अन्य सब देशों की तरह कृषि काम में ही लगे रहते थे। खाद्य के मामले में सब स्वावलम्बी थे किन्तु औद्योगिक क्रांति के बाद इङ्गलैड और जर्मनी में विशेषकर, और फ्रांस में भी ५० प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या नगरों में बस गई और यांत्रिक उद्योगों में लग गई; जनसंख्या में भी बड़ी तीव्रता से वृद्धि होने लगी,—अत: इन देशों को खाद्यान्न के लिये दूसरे देशों से आयात पर निर्भर होना पड़ा। जिन देशों में औद्योगिक विकास हुआ उनको अन्न और कच्चा माल जैसे कपास, तेल इत्यादि मंगाने के लिये और यन्त्रों द्वारा बहुतायत से उत्पादित वस्तुओं को बेचने के लिये दूसरे देशों की जरूरत पड़ी। अत: उपनिवेश और साम्राज्यवाद का प्रसार होने लगा। भिन्न भिन्न देशों में इस प्रकार आर्थिक, राजनैतिक, सम्बन्धों में वृद्धि हुई। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन, बैंक इत्यादि स्थापित हुए, जिनमें एक दूसरे देश के लेनदेन के हिसाब साफ होते रहें। इस प्रकार देशों की आर्थिक-व्यवस्था ही मूलत: बदल गई। मानव समाज में एक नया तत्व पैदा हो रहा था—वह तत्व था, विशाल क्षेत्र में कार्यों, व्यवसायों, हलचलों इत्यादि का कुशल केन्द्रीय संगठन, अर्थात् समाज के भिन्न भिन्न अंग, दुनिया के भिन्न भिन्न देश एक सुयोजित संगठन में गठित होकर एक केन्द्रीय संस्था द्वारा परिचालित हों। समाज और दुनिया में एक नई संगठन-कर्त्री प्रतिभा का उदय हो रहा था। औद्योगिक क्रांति के पूर्व तो व्यक्ति का काम, कारोबार, लेनदेन, व्यवसाय, शिक्षा-दीक्षा इत्यादि सब, व्यक्ति या कुछ पड़ोसियों तक या उसके गांव तक ही सीमित था—कह सकते हैं कि ऐसे संगठन में सरलता थी व्यक्ति के लिये अपने काम में स्वतन्त्रता थी। औद्योगिक क्रांति के पश्चात समाज और दुनिया में जीवन-संगठन का दूसरा ही रूप आने लगा। अब व्यक्ति

का काम बहुत बड़े कारखाने के विशाल काम का अंश मात्र था, उसका लेनदेन अब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने पड़ोसी से ही सम्बन्धित नहीं था किन्तु दूर दूर दुनिया के भिन्न भिन्न देशों से सम्बन्धित था, अन्य देशों में क्या आर्थिक हलचल होती है उसका प्रभाव उस पर पड़ता था। वह अब विशाल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संगठित कारोबार, अर्थ-योजना का एक अंश मात्र था। ऐसे संगठन में सरलता नहीं, पेचीदापन होता है; व्यक्ति स्वतन्त्रता बहुत सीमित होती है। किन्तु मानव समाज की प्रगति इसी दिशा की ओर होने लगी:—सरलता से पेचीदापन की ओर, सीमित व्यक्तिगत संगठन से विशाल सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की ओर; किन्तु कम सुविधा से अधिक सुविधा की ओर, संकुचित दृष्टिकोण से विशाल दृष्टिकोण की ओर, स्थानीय सम्पर्कता से सर्वदेशीय सम्पर्कता की ओर।

समाज संगठन के आधारभूत तत्व बदले अतः इस परिवर्तन ने नई समस्यायें, नये विचार उत्पन्न किये।

यूरोप में १६वीं शताब्दी में पुनर्जागृति (रिनेसां) काल से नया जीवन, नये विचार, नई भावनायें पैदा होने लगीं, सामाजिक, मानसिक, धार्मिक रूढ़ियों से वह मुक्त होने लगा। प्रकृति, व्यक्ति और समाज, शरीर, मन और जीवन—इन सबका अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए निष्पेक्ष भाव से होने लगा। मुक्त वैज्ञानिक निरीक्षण और अध्ययन की परम्परा अब भी चल रही है, और चलती रहेगी। इस परम्परा में मानव ने कई क्षेत्रों में स्वतन्त्रता की ओर विकास किया। मानसिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता की गति रूढ़धर्म और रूढ़ दार्शनिक विवेचन से विज्ञान की ओर हुई; राजनैतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता की गति राजतन्त्र की ओर से जनतन्त्र की ओर हुई; आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता की गति सामन्तवाद से पूंजीवाद की ओर, एवं पूंजीवाद से समाजवाद-साम्यवाद की ओर। शिक्षा क्षेत्र में भी इस मान्यता की ओर विकास हुआ कि बच्चे का स्वतन्त्र विकास हो।

यह ध्यान रखना चाहिए कि मानव एक इकाई है, उसके भिन्न भिन्न क्षेत्र अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरे को सर्वथा पृथक नहीं किया जा सकता; मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, साहित्यिक इत्यादि क्षेत्र एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

इन क्षेत्रों में विकास की गति हमेशा सम नहीं रहती; क्रिया प्रतिक्रियायें होती रहती हैं जैसे राजतन्त्र (एकतन्त्र) फिर जनतन्त्र फिर एकतन्त्र; व्यक्तिवाद फिर समाजवाद और फिर व्यक्तिवाद की ओर झुकाव इत्यादि, इत्यादि। क्रिया, प्रतिक्रिया होकर समन्वयात्मक विचारों और स्थापनाओं का उद्भव भी होता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति, समाज और मानव गतिमान बने रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सत्य केवल एक है और वह यह कि "यह सब कुछ" गतिमान है, स्थिर नहीं।

पुनरुत्थान काल से उपरोक्त क्षेत्रों में इस गति का अध्ययन करना बाकी है।

राजनैतिक क्षेत्र—जनतन्त्रवाद

जनतन्त्रवाद एक विशेष जीवन दृष्टि-कोण है, केवल एक राजनैतिक सिद्धान्त नहीं। इसके मूल में यह विचार तत्वतः मान लिया है कि प्रत्येक प्राणी में अपनी व्यक्तिगत कुछ जन्मजात शक्तियां हैं, कुछ प्रेरणायें और आकांक्षायें हैं; कुछ विशेष प्रकार की अनुभूतियां जैसा प्रेमानन्द और सौन्दर्यानुभूति—करने की इच्छा है। व्यक्ति को इन शक्तियों के विकास की, और इच्छाओं की पूर्ति की स्वतन्त्र सुविधायें मिलनी चाहिएं, अन्यथा जीवन और चेतना जो इस सृष्टि में प्रकट हुई हैं निरर्थक जाएंगी; सृष्टि का विकास रुक जाएगा। व्यक्ति ही समाज और प्रकृति का केन्द्र है। चेतना-पुञ्ज व्यक्ति के लिये ही समाज और प्रकृति की स्थिति है। जनतन्त्रवाद में तत्वतः ये विचार मान्य हैं, समाज में इस विचार के व्यवहारिक प्रयत्न का अर्थ यह हुआ कि समाज और राज्य सब व्यक्तियों को समान समझे, सबको पूर्ण स्वतन्त्रता दे। समाज और राज्य का संगठन व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समानता के आधार पर हो। मध्य युग में

राजाओं, पोप और सामन्तों का राज्य था। उसमें व्यक्ति स्वतन्त्रता और समानता का अभाव था; इसके पश्चात् १६वीं १७वीं शताब्दी में सामन्तों और पोप का अधिकार तो खत्म हुआ और उनकी जगह एक राजा की, राजतन्त्र की स्थापना हुई। इस परिवर्तन में व्यक्ति को विशेषतः व्यापारी वर्ग को कुछ स्वतन्त्रता मिली किन्तु अनेक अंशों तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित ही रही। फिर फ्रांस की १७८९ ई० की राज्य क्रांति, और यूरोप में १८३२ और १८४८ ई० की राज्य की क्रांतियों में राजाओं के एकतन्त्र के विरोध में प्रतिक्रियायें हुईं और धीरे धीरे समाज और राज्य का जनतन्त्र की ओर विकास हुआ। धीरे धीरे सब व्यक्तियों को स्त्री और पुरुष दोनों को (इङ्गलेंड में यह स्थिति १९१८ तक प्राप्त हो चुकी थी, और इसके पश्चात् अन्य यूरोपीय देशों में भी, और आज प्रायः सभी जनतन्त्र देशों में यह स्थिति है) यह समानाधिकार मिला कि समाज के कार्य–भार–संचालन के लिये, उसकी व्यवस्था और शांति के लिये वे जिन किन्हीं व्यक्तियों को चाहे अपना प्रतिनिधि चुन लें, वे प्रतिनिधि समाज की सरकार हों, जो राजकीय और सामाजिक कार्य का संचालन करें। ऐसी सरकार जनता की सरकार होगी, जनता की मर्जी पर उसका अस्तित्व रहेगा और जनता के आदेशों के अनुसार वह काम करेगी। स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों का यह व्यावहारिक रूप बना व्यवाहारिक रूप बदलता रह सकता है, परिस्थितियों के अनुकूल उसका विकास होता रह सकता है, भिन्न भिन्न देशों में स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल इस व्यावहारिक रूप में भेद भी हो सकता है, किन्तु मूल बात यही है कि समाज में जितना ही अधिक व्यक्ति स्वा-तन्त्र्य होगा और समानता की प्रतिष्ठा होगी उतना ही अधिक जनतन्त्र सफल होगा। १८वीं, १९वीं और २०वीं शताब्दियों में पहिले यूरोप और अमेरिका में और फिर एशियाई देशों में जनतंत्रीय विचार फैलने लगे। इङ्गलेंड में जनतंत्र भावनाओं के मूल पोषक हुए-बेंथम, स्टुअार्टमिल, स्पेन्सर इत्यादि; अमेरिका में थोम्सन, अब्राहमलिंकन, कवि वाल्ट

व्हिटमैन इत्यादि; फ्रांस में रूसो, वोल्टेयर, इत्यादि; एवं अन्य अनेक दार्शनिक और विचारक। किन्तु इस विचार क्षेत्र से परे औद्योगिक क्रांतिवाले देशों ने एक विशेष प्रकार के ही जनतंत्र को जन्म दिया; वह था पूंजीवादी जनतंत्र।

औद्योगिक पूंजीवाद और पूंजीवादी जनतन्त्र

यूरोप में सन् १७५० से १८५० ई० तक जो यांत्रिक औद्योगिक क्रांति हुई, उसी के फलस्वरूप यूरोपीय समाज में, विशेषकर इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी, हालैंड इत्यादि पश्चिमी यूरोप के देशों में आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक पूंजीवाद एवं राजनैतिक क्षेत्र में जनतंत्र की स्थापना हुई। विकेन्द्रित उद्योग जिनका केन्द्र अलग अलग एक एक कुटुम्ब, एक एक घर था प्राय: खतम होगये और उनकी जगह नगरों में विशाल केन्द्रित उद्योग स्थापित होगये जहां हजारों आदमी एक साथ काम करते थे। कारखानों के मालिकों के पास अतुल पूंजी एकत्र होती जाती थी क्योंकि कारखाने केवल व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से चलाये जाते थे और उनको स्वतंत्रता थी कि वे काम करने वालों को चाहे जिन शर्तों पर, चाहे जिस मजदूरी पर काम में लगालें, और काम करने वाले इन मालिकों की शर्तों पर काम करने लग जाते थे क्योंकि गरीबी और बेकारी में उनके लिये और कोई चारा नहीं था।

औद्योगिक क्रांति के पूर्व यूरोप कृषि प्रधान देश था अत: राज्य सत्ता और शक्ति का आधार भूमि थी, किंतु औद्योगिक क्रांति के बाद जब औद्योगिक व्यवसाय का खूब विकास होगया तो कृषि की महत्ता कम होगई और राज्य सत्ता और शक्ति का आधार उद्योग या उद्योगपति बनगये। अत: शासन में औद्योगिक पूंजी अर्थात् पूंजीपतियों या उद्योगपतियों का प्रभुत्व रहा। राजाओं के एकतंत्रीय शासन के बाद जब जनतंत्र आया तो उस जनतंत्रीय शासन में भी पूंजीपतियों का प्रभुत्व रहा, क्योंकि उनके बिना उद्योग व्यवसायों का, जो स्थापित हो चुके थे

और जिन पर राज्यों की खुशहाली निर्भर थी, चलना कठिन था। इस प्रकार राज्य सत्ता और पूंजीपतियों के मेल से यूरोपीय देशों में शक्तिशाली केन्द्रीय राष्ट्रीय राज्यों का जन्म हुआ। वे प्रमुख शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य, जिनका पहिले विकास हुआ, इंगलैंड और फ्रांस थे, और बाद में जर्मनी भी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप में यांत्रिक औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन के ढंग में क्रांतिकारी परिवर्तन हो चुका था; मशीन की सहायता से एक मनुष्य एक ही दिन में इतना कपड़ा या इतनी कोई अन्य वस्तु पैदा कर सकता था जितनी यान्त्रिक क्रांति के पूर्व उतने काल में सैकड़ों आदमी भी नहीं कर सकते थे, अतः कारखानों के मालिकों के पास अतुल पूंजी एकत्र होगई। यह औद्योगिक पूंजी थी। वह पूंजी सुस्त नहीं रह सकती थी। या तो यह अपने ही देश में नये उद्योग खोलने में लगे और जब अपने देश में पूंजी लगाने के लिये अधिक गुंजाइश न हो तो अन्य कोई अविकसित देश मिलना आवश्यक था जहां यह पूंजी लग सकती। इसके साथ ही साथ यंत्रों से जब बेशुमार चीजें पैदा होने लगीं–देश की अपनी आवश्यकताओं से भी बहुत अधिक, तो उनको खरीदने के लिये भी तो कोई अन्य लोग चाहिये थे, एवं उनको तैयार करने के लिये रुई, तिलहन, ऊन, चमड़ा इत्यादि कच्चा माल भी तो चाहिये था। यूरोपीय औद्योगिक देशों की इस जरूरत को पूरा करने के लिये एशिया और अफ्रीका जैसे आर्थिक दृष्टि से अविकसित देश और उन देशों की विशाल जनता पड़ी थी जो यूरोप के पक्के तैयार माल को खरीदती और उसे अपने यहां का कच्चा माल देती। अतः यूरोप के औद्योगिक देश एशिया और अफ्रीका की ओर बढ़े, जहां वे अपना तैयार माल बेचें और सस्ते भाव से कच्चा माल लें। किन्तु यह संभव नहीं हो सकता था जब तक कि उन देशों पर यूरोपवालों का प्रभुत्व स्थापित न हो। अतः यूरोपीय देश एशिया और अफ्रीका में अपना साम्राज्य फैलाने लगे, उनका आर्थिक शोषण करने के लिये। यह पूंजीवादी साम्राज्यवाद

था। वे एशिया के कई देशों में एवं अफ्रीका में अपने यांत्रिक उद्योग बल से और यांत्रिक शस्त्रों से (जो एशिया और अफ्रीका वालों के पास नहीं थे) अपने उपनिवेश अर्थात् साम्राज्य कायम करने में सफल हुए। यूरोपीय देशों ने अपने यहां तो प्राय: जनतांत्रिक शासन रक्खा किंतु इन देशों पर मन चाहा शोषण करने के लिये निरंकुश एकतंत्रीय शासन कायम किया। १८वीं सदी में इङ्गलेंड ने अफ्रीका, भारत एवं एशिया के अन्य स्थानों में अनेक उपनिवेश और राज्य स्थापित किये, रूस भी साईबेरिया और मंचूरिया की ओर बढ़ा, फ्रांस ने भी अफ्रीका और एशिया में कई उपनिवेश एवं राज्य स्थापित किये, हालैंड, बेलजियम, पुर्तगाल आदि देश भी ऐसा करने में सफल हुए। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की इस दौड़ में जर्मनी भी जो कि कई कारणों से पीछे रह गया था, अब (२०वीं सदी के प्रारंभ में) अग्रसर हुआ। वास्तव में १९वीं, २०वीं सदी में पश्चिमी यूरोप के लोगों में यह एक भावना बन गई थी कि मानों वे गौर वर्ण की जाति के लोग एशिया और अफ्रीका के पीत या काले लोगों को सभ्य बनाने के लिये एवं उन पर राज्य करने के लिये ही पैदा हुए हैं। उपरोक्त आर्थिक शोषणके अतिरिक्त पूंजीवादी साम्राज्यवाद की यह रंगभेद की नीति दूसरी विशेषता थी।

तो इस प्रकार औद्योगिक पूंजीवाद की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर यूरोपीय देश अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहे थे—साम्राज्य-वाद की उत्कट महत्वाकांक्षा उनमें घर कर चुकी थी। उस काल में यूरोप के जनतंत्रवादी साम्राज्यवादी देश विशेषतया इङ्गलैंड, फ्रांस और जर्मनी ही सबसे अधिक शक्तिशाली थे, और दुनिया में उन्हीं का महत्व था, यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका और पूर्व में जापान भी यूरोप की तरह यांत्रिक उद्योग अपना चुके थे। यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के इस विस्तार और दौड़ में आखिर कहीं तो आकर टक्कर होनी ही थी–वह टक्कर हुई। विश्व का विनाशकारी प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) ही साम्राज्यवादी देशों के बीच यह टक्कर थी, और इसी टक्कर

के उपरांत दुनिया के एक विशाल भू-भाग में व्यवहारतः समाजवाद-साम्यवाद की स्थापना हुई थी।

समाजवाद—साम्यवाद

समाजवाद : पूर्वोक्त औद्योगिक क्रांति काल में बड़े बड़े व्यवसाय उद्योग, कारखाने खड़े हो रहे थे। उस क्रान्ति के आरम्भिक काल में, सन् १७७६ ई० में इङ्गलंड के एक महान् अर्थ-शास्त्री ऐडम स्मिथ (Adam Smith) की पुस्तक (Wealth of Nations) (राष्ट्रों का धन) प्रकाशित हुई जिसमें उसने औद्योगिक क्षेत्र में "लैसे फेयर" सिद्धान्त का प्रतिपादन किया—जिसका अर्थ था कि व्यवसायिक उत्पादन क्षेत्र में सब लोगों को तथा पूंजी लगाने वालों को, मजदूरों को, पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उन पर ऊपर से राज्य या समाज की ओर से किसी प्रकार का नियंत्रण, प्रतिबन्ध या नियमन नहीं होना चाहिए। ऐडम स्मिथ का खयाल था कि ऐसा होने से स्वाभाविक आर्थिक शक्तियां स्वतः अपना काम करेंगी, कितना उत्पादन होना चाहिए और कितना नहीं इसकी व्यवस्था स्वयं अपने आप "मांग और पूर्ति" के नियमानुसार बैठती रहेगी, पूंजिपतियों और मजदूरों के झगड़े खुली प्रतियोगिता के सिद्धान्त पर अपने आप सुलझते रहेंगे। लैसे फेयर के सिद्धान्तानुसार कुछ वर्ष तो उद्योगों ने काफी तरक्की की, राष्ट्रों के धन में खूब वृद्धि हुई और उद्योगों का खूब विकास भी हुआ किन्तु जैसा ऊपर औद्योगिक क्रांति के विवरण में कह आये हैं अब नई समस्यायें, नये सामाजिक प्रश्न खड़े हो गये थे और औद्योगिक क्षेत्र में लैसेफेयर का सिद्धान्त पालन करते रहने से उन समस्याओं का हल नहीं हो सकता था। बिना किसी ऊपरी नियमन और नियन्त्रण के कारखानेदार क्यों कारीगरों के काम करने के घण्टे कम करने लगे, क्यों उनकी मजदूरी बढ़ाने लगे, क्यों उनके रहने के लिये अच्छे स्वास्थप्रद घर बनाने लगे; लेकिन यह होना आवश्यक था। इसी आवश्यकता ने एक नये सामाजिक सिद्धान्त को उत्पन्न किया, वह सिद्धान्त था—समाजवाद।

सर्व प्रथम सन् १८३३ ई० के लगभग यूरोप में समाजवाद शब्द का प्रयोग हुआ। इस शब्द का प्रयोग इङ्गलैंड के एक बहुत बड़े मिल मालिक रोबर्ट ओवन (Robert Owen) (१७७१-१८५८) के विचारों के सम्बन्ध में हुआ। यह व्यक्ति अपने मजदूरों की अस्वस्थ और पतित हालत देखकर तिलमिला गया था और उसने मजदूरों की दशा सुधारने का पक्का इरादा कर लिया था। उसने अपने मजदूरों के काम के घण्टे कम किये, छोटे बच्चों से काम लेना बन्द किया; मजदूरों के लिये स्वास्थ्यप्रद मकान, भोजन और शिक्षा का प्रबन्ध किया, साथ ही साथ अपने व्यवसाय में पैसा भी कमाता रहा, उसके सब व्यवसाय आदर्श व्यवसाय थे। उसने अपने साथी पूंजीपति और मिल मालिकों को अपने कारखानों में अपनी ही तरह सुधार करने की सलाह दी, ऐसा करने के लिये उसने बहुत लेख लिखे और भाषण दिये किंतु दूसरे कारखानेदारों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में जनता का ध्यान मजदूरों की दशा की ओर आकृष्ट करके उसने सरकारको बाध्य किया कि वह देश के व्यवसायों में दखलन्दाजी करे। फलतः १८१९ ई० में इङ्गलेंड में सर्व प्रथम फैक्ट्री कानून पास हुआ जो काम के घण्टों का नियन्त्रण करता था। लैसेफेयर का सिद्धांत अमान्य समझा गया—उसके विरुद्ध यह पहली कार्रवाई थी। यह प्राथमिक समाजवाद था। रोबर्ट ओवन का यह समाजवाद ऐसा आन्दोलन था जिसमें मिल मालिक ही अपनी ओर से मजदूरों की दशा सुधारने का प्रयत्न करें। स्वयं मजदूरों का यह आन्दोलन नहीं था। इस समाजवाद से प्रचलित व्यवसायिक या आर्थिक संगठन में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होता था। अवश्य इसका कुछ प्रभाव इङ्गलैंड, यूरोप के कुछ देशों में पड़ा, किन्तु बहुत कम, अतः मजदूरों की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। इसका प्रभाव अमेरिका में विशेष पड़ा—अतः वहां मजदूरों की हालत भी अच्छी रही, और वे सन्तुष्ट रहे।

साथ ही साथ मजदूर भी गतिशील होगये थे फलतः इङ्गलैंड में सन् १८२४ ई० में एक कानून पास हुआ जिसके अनुसार मजदूरों को

यह हक प्राप्त हुआ कि वे अपनी दशा सुधारने के लिये कारखानेदारों से अपनी मजदूरी इत्यादि के विषय में सामूहिक रूप से सौदा करने में स्वतन्त्र हैं। इससे मजदूरों के संगठनों (Trades Unions) का खूब विकास हुआ और समाज में मजदूर संगठन एक 'शक्ति' हो गई जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। किन्तु मजदूरों के ये आन्दोलन भी ऐसे आन्दोलन थे जिनका ध्येय यही था कि प्रचलित आर्थिक संगठन कायम रहते हुए उनको अधिकाधिक मजदूरी और सुविधायें मिल सकें। उन्होंने कभी भी इस बात की कल्पना नहीं की कि प्रचलित आर्थिक संगठन को ही समूल बदल दिया जाए, वे स्वयं उत्पादन के साधनों के अर्थात् पूंजी के मालिक बन बैठें, और व्यवसाय को समस्त समाज की भलाई के लिये चलायें। यह कल्पना लेकर सर्व-प्रथम इस दुनिया में आया कार्ल–मार्क्स (१८१८–८३)। उसके लेखों और पुस्तकों से, यथा "कम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो" (साम्यवादी घोषणा) (१८४८) जो एक दूसरे समाजवादी विचारक एंगल्स की सहायता से लिखा गया, एवं दूसरी विशाल पुस्तक "दास कैपीटल" (१८६७–१८८३) से आधुनिक समाजवाद या वैज्ञानिक समाजवाद या मार्क्सवाद की स्थापना हुई।

जिस प्रकार जनतन्त्रवाद एक विशेष जीवन दृष्टिकोण या जीवन दर्शन है केवल राजनैतिक सिद्धान्त नहीं, उसी प्रकार मार्क्सवाद भी एक विशेष जीवन दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन है, केवल एक आर्थिक सिद्धांत नहीं। मार्क्सवाद का दर्शन द्वन्दात्मक भौतिकवाद या वैज्ञानिक भौतिकवाद कहलाता है।

इसके अनुसार व्यक्ति, समाज, या इतिहास की गति या प्रक्रियाओं में किसी अलौकिक, परा प्रकृति, देव, ईश्वर, आत्मा, पूर्व कर्म-फलवाद का दखल नहीं है–ऐसे परा प्रकृति तत्वों का अस्तित्व ही नहीं है। इतिहास और समाज के विकास की अपनी ही प्रक्रियाएं हैं–अपनी ही गति है। चेतनायुक्त मानव प्रकृति और समाज और इतिहास की गति-विधि और प्रक्रियाओं का अध्ययन करके, उनकी सही जानकारी

हासिल करके, स्वयं अपने जीवन और समाज का निर्माण कर सकता है। कार्ल-मार्क्स ने इतिहास और समाज विज्ञान का गहन अध्ययन किया था और अपने अध्ययन के फलस्वरूप इतिहास और सामाजिक संगठन के विषय में उसने अपने कुछ परिणाम निकाले थ। वे ये कि मानव समाज में प्रायः प्रारम्भ से ही मुख्यतया दो वर्ग रहे हैं। एक उच्च शोषक वर्ग और दूसरा निम्न शोषित वर्ग और इन दोनों वर्गों में किसी न किसी रूप में द्वन्द चलता रहा है। जब जब आर्थिक उत्पादन के तरीकों में किसी भी कारणवश परिवर्तन हुए हैं तब तब सामाजिक संगठन के रूप में भी परिवर्तन हुआ है। मध्ययुग के अंत होते होते व्यापार और उद्योग धन्धों के प्रसार के साथ साथ सामन्तवाद का खत्म होना और पूंजीवाद की स्थापना होना अवश्यंभावी था। १८–१९वीं शताब्दियों में यांत्रिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन के तरीकों में जो परिवर्तन हुआ उसके साथ साथ सामाजिक संगठन में भी परिवर्तन होना आवश्यक था। चारों ओर की परिस्थितियों का निरीक्षण एवं अध्ययन कर कार्लमार्क्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि उत्पादन के नये यांत्रिक तरीकों के फलस्वरूप अधिकाधिक धन और पूंजी थोड़े से पूंजीपतियों के हाथ में एकत्र होती जाएगी और इतिहास में प्रच्छन्न या प्रत्यक्ष रूप में चला आता हुआ वर्ग-द्वन्द अधिक तीव्रतम होता जायगा। पूंजीपति वर्ग और मजदूर या सर्वहारा (Proletariat) वर्ग में परस्पर युद्ध होगा, सर्वहारा वर्ग की विजय होगी, उत्पादन के सब साधनों, सब भूमि और सब पूंजी पर सर्वहारा वर्ग, दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व या नियंत्रण स्थापित होगा और इस प्रकार व्यक्तिवादी पूंजीवाद की जगह दुनिया में समाजवाद का प्रचलन होगा। समाजवाद प्रगति करता करता समाज में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देगा कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार (जितनी भी हो, जैसी भी हो) काम करदे और अपनी आवश्यकता के अनुसार धन वस्तु और जीवन साधन समाज के सार्वजनिक भंडार में से लेले। ऐसी स्थिति साम्यवादी स्थिति होगी।

मानव इतिहास में यह एक बिल्कुल नई कल्पना थी। मानव के आदिम काल में किसी प्रकार का समाजवाद या साम्यवाद या भूमि पर सारी जाति (Community) का स्वामित्व रहा हो किन्तु उसकी तुलना आज के विकसित पेचीदे समाज में मार्क्सवादी विचार से नहीं की जा सकती। खैर, मार्क्स ने उपरोक्त आधारभूत नई कल्पना, आधारभूत नये सामाजिक संगठन का आदर्श तो मानव के सामने रख दिया किन्तु व्यवहार में उसका रूप कैसा होगा यह वह पूर्ण-रूपेण नहीं बतला सका। यह काम पूरा करना बाकी रहा उसके अनुयायियों द्वारा। इसका व्यवहारिक रूप हमारे सामने रूस के उदाहरण से आता है। सन् १९१७ में लेनिन के नेतृत्व में रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई, सर्वहारा वर्ग का राज्य स्थापित हुआ और वहां के लोग समाजवादी निर्माण में लगे। अब वहां सब कारखानों और खदानों पर सरकार का अधिकार है, कुछ अपवादों को छोड़कर सब कृषि भूमि पर भी सरकार का अधिकार है, अर्थात् उत्पादन के सब साधनों पर सरकार का अधिकार है। कारखानों में, खदानों में, खेतों में मजदूर लोग काम करते हैं। सरकार उनके कामों के अनुसार उनको वेतन देती है। उत्पादन से जो कुछ आय होती है वह सब की सब मजदूरों को नहीं दे दी जाती किन्तु उसका कुछ भाग समाज निर्माण और रक्षा कार्य जैसे शिक्षा, सेना एवं और नये कारखाने खोलना इत्यादि के लिये, सरकार द्वारा बचा लिया जाता है, शेष भाग ही मजदूरों या कर्मचारियों में उनकी योग्यता और काम के परिणाम के अनुसार वेतन के रूप में दे दिया जाता है। राज्य में सब शिक्षक, डाक्टर, नर्स, कलाकार, साहित्यकार, वैज्ञानिक, क्लर्क इत्यादि भी सरकार के कर्मचारी हैं और उनको उनके कार्य के अनुसार वेतन दिया जाता है। यह व्यवस्था समझने के लिये बस इतनी सी कल्पना काफी है कि पूंजीपति का स्थान सरकार ने ले लिया। वह काम जो पहिले पूंजीपति करता था अब सरकार करती है किन्तु एक बुनियादी फर्क है—पूंजीपति अपनी उत्पादन की योजना मात्र इस एक ध्येय से

बनाता था कि किस प्रकार उसको अधिकाधिक लाभ हो। उसके सामने समाज के हित, अहित का प्रश्न नहीं रहता था। समाजवादी सरकार अपने उत्पादन की योजना इस ध्येय से बनाती है कि किस प्रकार जन साधारण का अधिकाधिक हित हो। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व तीन रूपों में होता है। एक रूप तो यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति धन का उत्पादक होता है। शिक्षण कार्य, साहित्य कार्य, कला कार्य भी एक प्रकार का उत्पादन कार्य समझा जाता है। दूसरा रूप यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति भोक्ता होता है अर्थात् समाज में जो कुछ भी उत्पादन होता है उसका वह प्राप्त वेतन के साधन द्वारा उपभोग करता है। तीसरा रूप यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति नागरिक होता है, प्रत्येक व्यक्ति को नागरिक की हैसियत से कुछ आधारभूत अधिकार मिले हुए होते हैं जैसे मतदान, रहने के लिये घर, कमाई के लिये काम का अधिकार तथा शिक्षादि की सुविधायें आदि।

यह ध्यान देने की बात है कि चूंकि पूंजीपति मालिक की जगह सरकार मालिक है चाहे वह सरकार जनता द्वारा मनोनीत जनता की ही सरकार हो, अतः कारखानों, खेतों, खदानो की व्यवस्था प्रायः सरकार द्वारा नियुक्त कर्मचारियों द्वारा ही होती है। अतः अन्ततोगत्वा ऐसी व्यवस्था की सफलता भी काम करनेवालों की समाज भावना और नैतिकता पर निर्भर करती है। किन्तु समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति अपने आपको आत्मसम्मानित महसूस करता है; उसके चित्त से यह हीन भाव चला जाता है कि वह किसी अन्य पर आश्रित है।

साम्यवाद, समाजवाद की उस स्थिति का नाम है जिसमें धन, भूमि, मकान, उत्पादन के सभी साधन—पर व्यक्तिगत स्वामित्व का सिद्धान्त सर्वथा अमान्य हो, जिसमें व्यक्ति को अपनी आवश्यकता के अनुसार सभी साधन और सुविधाएँ उपलब्ध हों, और वह शक्ति भर समाज की सेवा करता हो। साम्यवाद की चरम परिणति वहां होती

है जहां 'राज्य' का नियंत्रण एवं हस्तक्षेप न्यूनतम होजाता है, और अन्ततोगत्वा राज्य की सत्ता विघटित होजाती है।

साम्यवादी दर्शन के साथ साथ मानव में वस्तुतः यह विश्वास और चेतना प्रतिष्ठित हुई है कि अच्छा खाना-पीना, अच्छा घर, शिक्षा, साहित्य-कला, अच्छा स्वास्थ्य केवल उच्चकुलीय, उच्चवर्गीय, (पूर्व जन्म में अच्छे कर्म करने वाले—या ईश्वर या खुदा के कृपा-पात्र) लोगों के ही भाग्य की वस्तु नहीं, इन पर केवल उन्हींका अधिकार नहीं, वरन् इन पर सभी का अधिकार है; ऐसा जीवन सभी के लिए है, निश्चय ही सभी का होकर रहेगा—इतिहास की प्रगति उसी ओर है।

दार्शनिक क्षेत्र—आध्यात्मिकवाद, भौतिकवाद एवं विकासवाद

१८वीं–१९वीं शताब्दियों में दार्शनिक क्षेत्र में भिन्न भिन्न महान् दार्शनिकों की मान्यताएँ विशेषतया या तो विचारवाद अर्थात् आध्यात्मिकवाद (Idealism) या भौतिकवाद की ओर उन्मुख रहीं।

आध्यात्मिकवाद (Idealism)—इसके सृष्टि का एक मूल आदि या अन्तिम तत्व (Ultimate reality) आत्मा या ईश्वर या भाव (Idea) या कोई चेतन, आध्यात्मिक तत्व है। सृष्टि में जो कुछ भी आज हम देख रहे हैं यथा जल, थल, वायु, आकाश, वृक्ष, जीव, प्राणी, मानव इत्यादि, ये सब आदि चेतन तत्व के भिन्न भिन्न अभिव्यक्त रूप हैं। वह एक चेतन तत्व इन सबमें अदृश्य रूप में समाया हुआ है। सृष्टि की गति इसी ओर है कि सृष्टि या सृष्टि का मानव उस तत्व की पूर्णता को उसके आदर्श और आनन्द को प्राप्त करले। इस दर्शन की परम्परा प्राचीन काल से भारत में, भारत के ऋषियों से, भारत के शंकराचार्य से, प्राचीन ग्रीस के प्लेटो और अरस्तु से चली हुई आती है। आधुनिक काल में इसके मुख्य प्रतिष्ठापक हुए आयरलेंड में बिशप बर्कले जर्मनी में फिक्ट, कान्ट एवं हीगल और इङ्गलेंड में ब्रेडले। इस आध्यात्म-

वादी अद्वैत का आधार मानव की रहस्यात्मक अनुभूतियां रही हैं—प्रत्यक्ष अनुभूत प्रयोगात्मक ज्ञान नहीं। कुछ ऐसे दार्शनिक हुए जैसे देकार्त जिनकी यही मान्यता रही कि सृष्टि के आदि तत्व दो हैं, एक नहीं। ये दो तत्व हैं—पुरुष और प्रकृति या शरीर और मन या अचेतन भूत पदार्थ और चेतन आध्यात्मतत्व। ये दार्शनिक द्वैतवादी कहलाते हैं। किंतु अधिकतर विचारधारा अद्वैत की ओर ही उन्मुख है—या तो भौतिकवादी अद्वैत या अध्यात्मवादी अद्वैत। ये दार्शनिक विचार-धारायें एक बार प्राचीन युग में उद्भासित होकर मध्य युग सामन्तवादी काल में लुप्त सी होगई थीं किंतु रिनेसां के बाद फिर से ये उद्भासित और विकसित हुईं। आज भी ये दार्शनिक विचार मानव को प्रभावित किये हुए हे और उसको चिंतन में डुबोये हुए हैं।

भौतिकवाद:—इस दर्शन में सृष्टि का "आदि एक मूल तत्व" (Ultimate reality) "द्रव्य पदार्थ" (Matter) है, जो एक स्थिर नहीं किन्तु गत्यात्मक वस्तु है। आज जो कुछ भी इस सृष्टि में दिखलाई देता है यथा जल, थल, आकाश, वायु, वृक्ष, फल-फूल और प्राण चेतना इत्यादि सब उस एक ही मूल तत्व के विकसित रूप हैं। प्रारम्भ में उस मूल तत्व द्रव्य पदार्थ में प्राण और चेतना नहीं थे। कालान्तर में अरबों, करोड़ों वर्षों में विशेष भौतिक रसायनिक परिस्थितियाँ उपस्थित होने पर उस मूलभूत द्रव्य पदार्थ में गुणात्मक परिवर्तन द्वारा प्राण और चेतना का उदय हुआ। यह सब स्वचालित (Self-moving) गति है। ऊपर से या और कहीं से अर्थात् किसी परा प्रकृति तत्व से इसका परिचालन नहीं होता—इस दर्शन के अनुसार कोई परा प्रकृति तत्व या ईश्वर या आत्मा कुछ है ही नहीं। इस सृष्टि स्वयं में कोई प्रयोजन या उद्देश्य निहित नहीं है, किन्तु जब चेतनायुक्त मानव का उदय हो गया तब से अवश्य ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि वह मानव अपने जीवन में समाज में किसी उद्देश्य की कल्पना कर सकता था। जिस प्रकार विकास होते होते मानव-प्राणी और चेतना-विचार

उत्पन्न हुए उसी से यह भासित होता है कि इस सृष्टि और मानव के विकास की कल्पनातीत अनेक संभावनायें हैं। "यह सब कुछ" एक गति है। आधुनिक काल में भौतिकवाद के मुख्य प्रतिष्ठापक जर्मनी के कार्लमार्क्स हुए, और उसके पोषक अनेक वैज्ञानिक। वैसे इस दर्शन के तत्व प्राचीन काल में भी मौजूद रहे। इसकी परम्परा में प्राचीन काल में ग्रीस के दार्शनिक थेल्स, डेमोक्रीटस इत्यादि माने जा सकते हैं। इसी प्रकार १७वीं शताब्दी में इङ्गलैंड के होब्स, १८वीं शती में फ्रांस के डिडरोत, १६वीं शती में जर्मनी के हीकल। इस भौतिकवादी अद्वैत का आधार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उपार्जित, प्रत्यक्ष अनुभूत, प्रयोगात्मक ज्ञान रहा है। इस वैज्ञानिक भौतिकवाद का जीवन के उस भौतिकवादी दृष्टिकोण से कोई सम्बन्ध नहीं जो कहता है, "खाओ, पीओ, और मौज उड़ाओ।"

विकासवाद:—उपर्युक्त दार्शनिक विचारों के साथ साथ मानव के इस सृष्टि रचना सम्बन्धी विचारों में भी विकास हुआ। १६ वीं शताब्दी के मध्य तक मानव प्रायः यही मान रहा था कि किसी विशेष काल में ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना की, आज जो कुछ भी दृश्य या अदृश्य इस सृष्टि में है उस सब की रचना एक बार परमात्मा ने कर दी थी; किन्तु १६ वीं शती के आरम्भ में कुछ वैज्ञानिक जैसे जर्मनी में हीकल, फ्रांस में लमार्क (Lamarck) इत्यादि पैदा हुए जिन्होंने प्राणी शास्त्र विज्ञान (Biology) की स्थापना की और फोसिल (पथराई हुई वस्तु) के रूप में प्राप्त अति प्राचीन प्राणियों की हड्डियों के आधार पर यह अनुमान लगाया कि प्राणी का विकास तो धीरे धीरे सरलतर प्राणियों से हुआ है और इस विकास में लाखों, करोड़ों वर्ष लगे हैं। वे इस बात की कल्पना करने लगे थे कि सृष्टि में सब जातियों के प्राणी किसी एक पुरुष या परमात्मा की रचना नहीं है वरन् यह प्रकृति में व्याप्त विकास प्रक्रिया के फल हैं। फिर सन् १८५८ ई० में इंग्लैंड के प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्र-वेत्ता चार्ल्स डारविन की दो क्रांतिकारी पुस्तकें प्रकाशित हुईं—"ओरिजन ऑफ स्पीसीज" (जीव जातियों का मूल) और

डीसेन्ट ऑफ मैन (मानव की अवतारणा)। इन दो पुस्तकों ने तो इस सिद्धान्त की प्रायः स्थापना करदी कि जीव जगत किसी एक व्यक्तिगत ईश्वर की रचना नहीं है। किन्तु प्रकृति में किन्हीं नियमों के अनुसार परिवर्तन और विकास होता रहता है और परिणाम-स्वरूप भिन्न भिन्न जाति के जीव उत्पन्न और लुप्त होते रहते हैं। धीरे धीरे ज्योतिष वैज्ञानिकों ने भी यह सिद्ध किया कि सूर्य, चन्द्र, ग्रह किसी काल विशेष में कार्य कारण परम्परा के अनुसार किन्हीं पूर्व स्थित नक्षत्र से विकसित हुए हैं। इस बात ने भी यह सिद्ध करने में सहायता दी कि यह सृष्टि, सूर्य, चन्द्र, ग्रह और तारे व्यक्तिगत ईश्वर की रचना नहीं है, किन्तु स्वयं-चालित प्रकृति की गति और प्रक्रिया में कुछ नाम रूपात्मक परिणाम हैं। इन सब तथ्यों की वजह से १९ वीं शताब्दी के अन्त होते होते और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक ज्ञान, विज्ञान की यह प्रस्तावना बहुधा स्वीकृत होगई कि सृष्टि किसी खास ईश्वर की रचना नहीं है वरन् प्रकृति की या आदिभूत द्रव्य पदार्थ की एक विकासात्मक प्रक्रिया मात्र है।

शिक्षा क्षेत्र:—जिस प्रकार दार्शनिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में नई उद्भावनायें हो रही थीं उसी प्रकार शिक्षा साहित्य आदि के क्षेत्र में भी पुनर्जागृति काल के बाद नई उद्भावनायें हुईं।

शिक्षा के क्षेत्र में स्विटजरलैंड के शिक्षाशास्त्री पेस्टालोजी ने एक युग-परिवर्तन उपस्थित किया। दार्शनिक रूसो इत्यादि से प्रभावित होकर उसने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि बच्चों का शिक्षक स्वयं प्रकृति हो न कि मानव। बच्चे में किसी विशष सत्य, किसी विशेष भावना को प्राप्त करने की जो स्वाभाविक उत्कण्ठा है, उस उत्कण्ठा को प्रतिफलित होने दो, उसको दबाओ मत। उसके ऊपर किसी चीज को मत थोपो किन्तु उसके अन्दर ही जो जन्मजात क्षमतायें या विभूतियां हैं, उन्हीं का विकास करो। साथ ही साथ मनोविज्ञान का भी विकास हो चुका था। पेस्टालोजी का शिक्षा-सिद्धान्त मनोविज्ञान के तथ्यों पर

आधारित था। शिक्षा में इसी नई कल्याण भावना से अनुप्राणित और शिक्षा-शास्त्री भी हुए जैसे जर्मनी में फ्रोबेल और गेटे और बीसवीं सदी में इटली में मेरिया मोंटेसरी, इङ्गलैंड में बर्टरण्डरसेल और अमेरिका में डीवी।

क्षिक्षा सिद्धान्तों में इस परिवर्तन के साथ साथ शिक्षा क्षेत्र में भी विकास हुआ। १८वीं सदी तक शिक्षा का प्रसार बहुत कम था। १८३२ ई० में इङ्गलैंड में राष्ट्र-सभा ने शिक्षा प्रसार का काम अपने हाथ में लिया। १८३३ ई० में फ्रांस ने एक कानून पास किया कि प्रत्येक गांव में एक प्राइमरी स्कूल हो। फिर १८५२ ई० में स्वीडन ने, १८७० में स्विटजरलैंड ने, १८८० में फ्रान्स ने, १८६८ में ब्रिटेन ने, और १६०१ ई० में होलेण्ड ने प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क बनाई। इस तरह से १६वीं सदी के अन्तिम वर्षों तक आकर यूरोप में (विशेषकर पच्छिमी यूरोप में) प्रायः ऐसी स्थिति आ पाई कि प्राथमिक शिक्षा तो कम से कम सब बच्चे प्राप्त करलें। यह स्थिति रूस में सन् १६२४ के बाद जाकर आ पाई। एशियाई देशों में तो अभी यह स्थिति बहुत दूर है। दस प्रतिशत लोग भी अभी ऐसे नहीं हैं जो प्राथमिक रूप से भी शिक्षित कहलाये जा सकें। किन्तु मानव ने जाना है कि शिक्षा होनी चाहिये और अपने हजारों वर्षों के इतिहास में आज वह सचेष्ट होकर यह प्रयास कर रहा है कि सब बच्चे शिक्षित हों, सब स्त्री पुरुष शिक्षित हों।

साहित्य और कला—मानव के उच्चतम सौंदर्यमय रूप के दर्शन हमें उसकी कला और साहित्य में होते हैं, मानो कविता, कला और संगीत में मानव चेतना प्रकाश और आनंद की उच्चतम शिखर को छूजाती हो, और साथ ही साथ वह समाज के और संसार के आदर्श रूप की भी स्पष्ट कल्पना हमें करा जाती हो। वस्तुतः एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के साथ, समस्त मानव और प्राणी जाति के साथ, इतिहास के एक युग ने दूसरे युग के साथ जब जब किन्ही विचक्षण घड़ियों में एकात्मता की अनुभूति की है,—वह अनुभूति

उसने कविता, कला और संगीत की रसानुभूति द्वारा अभिव्यक्त की है। कला व्यक्ति का शेष सृष्टि के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। अतः इतिहास में और जन जन के जीवन में कवि, कलाकार और सृष्टा हमेशा याद आते रहे हैं। रिनेसां और शेक्सपियर युग के बाद यूरोप के साहित्य में अनेक नाम आते हैं जिनमें सब प्रमुख लोगों का नाम भी यहां याद नहीं किया जा सकता है-चलते चलते किन्हीं को याद कर सकते हैं। १८ वीं सदी में इङ्गलैंड और फ्रांस का साहित्य संकुचित नियमों में बद्ध था, उसमें हृदय की अभिव्यक्ति कम किंतु नियम पालन विशेष था। इसी काल में इङ्गलैंड के जोनाथनस्विफ्ट (१६६७-१७४५) ने १७२६ ई० में अपनी "गुलीवर्स ट्रेविल्स (Gullivers Travels) प्रस्तुत की जो मानव प्रकृति और समस्त मानव जाति पर, उसकी बेवकूफियों और नैतिक पाखंड पर, एक अद्भुत व्यंगात्मक लेख है। फिर अनेक कवियों एवं नाटककारों और गद्य रचनाकारों से मिलते हुए हम १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ में रोमाञ्च युग (Romantic Age) में पहुंचते हैं। अब शुष्क बन्धनों के विरुद्ध मानव मन में प्रतिक्रिया होती है और वह कल्पना और भाव में तल्लीन होकर स्वच्छंद गाने लगता है। इटली में मिलविया रेलिको की संवेदनात्मक आत्म कथा प्रकाशित होती है जिसमें स्वतन्त्रता के लिये एक चीख है। इङ्गलैंड में महाकवि शैली मुक्त मधुर स्वर से गाता है,-प्रेम से अनुप्राणित होकर। उसकी चेतना समाज और धर्म के सब झूठे बन्धनों को काटती हुई एक स्वतन्त्र सुखी विश्व समाज की कल्पना करती है और वह स्वयं समस्त विश्व के साथ एक रागात्मक अनुभूति करता है। क्या तब से आज तक मानव अनेक बन्धनों से मुक्त नहीं हो गया? इङ्गलैंड में ही दूसरा कवि कीट्स, मानव को सौंदर्यानुभूति के लिये दृष्टि देता है और उसको यह बतलाता है कि दुनिया में समझने की केवल एक वस्तु है और वह यह कि सौन्दर्य सदा आनन्दोत्पादक होता है। तीसरा कवि बायरन निशंक मुक्ति और वेदना के गीत गाता है और वर्डस्वर्थ मानव को सरल प्राकृतिक जीवन में और प्राकृतिक

सौन्दर्य में जो सुखानन्द और उदात्तता निहित है, उसकी अनुभूति करवाता है। फ्रांस में सर्वोच्च व्यक्तित्व प्रकाशित होता है विक्टर ह्यूगो का, जो अपने उपन्यास 'ला मिसरेवल्स' में जो कुछ भी मानवता है उसका पक्ष लेकर खड़ा होता है। चित्रकला में फ्रांस का दीलाक्रो रोमांच भावना की अभिव्यक्ति करता है; जर्मनी के चित्रकार वोनश्विदे अपने चित्रों में अभिव्यक्ति करते हैं और इङ्गलैंड के टर्नर शान्त प्रकृति और परमात्मा के दर्शन करते हैं। १९ वीं शताब्दी में एक महान् व्यक्तित्व है जर्मन गायक वीथूवन का; जिसके गीत आज भी मानव को प्रेरणा देते हैं—और उसके मानस को एक अद्‌भुत अलौकिक लोक की अनुभूति कराते हैं। १९ वीं शताब्दी का महानतम मानव है जर्मन कवि गेटे। सर्व युगों का, सर्व मानवों का प्रियजन जिस प्रकार इटली में दांते है, इङ्गलैंड में शेक्सपियर, भारत में रवीन्द्र उसी प्रकार जर्मनी में गेटे है। गेटे (१७४९-१८३५) का जीवन और काव्य मानवात्मा के पतन, उत्थान, और प्रगति की कहानी है।

रोमांटिक युग के बाद १९वीं शती के उत्तरार्ध में नवीन विशेषताओं को लिये हुए एक नवीन युग प्रारंभ होता है। इस काल में विज्ञान और बुद्धिवाद ने धार्मिक संस्कारों और विश्वासों को, प्रचलित सामाजिक मान्यताओं को एक धक्का लगाया था। धर्म और विज्ञान, भावना और बुद्धि का यही द्वन्द मुख्यतः इस काल के साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। मनोविज्ञान का भी गहन अध्ययन हुआ था, अतः इसका प्रभाव भी साहित्य और कला पर पड़ता है। इस युग में उपन्यासकार डिकस इङ्गलैंड में, बेलजक फ्रान्स में, दोस्तोवस्की रूस में, अपने अपने ढङ्ग से मानव चरित्र और मानव जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हैं। १९ वीं शती में अमेरिका में भी कई महान् साहित्यकार हुए जैसे थोरो, इमरसन, व्हिटमैन इत्यादि। ये सब जीवन की सरलता और नैसर्गिकता, मानवीय भावनाओं की उदात्तता, और व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समानता के विचारों से अनप्राणित थे।

यहीं पर स्वीडन के प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलफ्रेड नोबल (Alfred (Nobel) (१८३३–१८९६) के नाम का उल्लेख कर देना जरूरी है जिन्होंने एक मानवजाति की भावना से प्रेरित होकर दो करोड़ पौंड धन राशि का एक ट्रस्ट कायम किया जिसमें से प्रति वर्ष ८-८ हजार पौंड के ५ पुरस्कार भौतिक, रसायनक, औषधि विज्ञान एवं साहित्य और विश्व शान्ति स्थापन के क्षेत्र में ५ महानतम् व्यक्तियों को दिये जाते हैं।

१९वीं और २०वीं सदियों के संगम पर खड़े कुछ महान् साहित्यकों के नाम यहां उल्लेखनीय हैं। फ्रान्स के उपन्यासकार जोला और रोमन रोलाँ, इङ्गलैंड के थोमस हार्डी और गेल्सवर्दी, स्वीडन के नाट्यकार इबसन और बेलजियम के मेटरलिंक; रूस के उपन्यासकार टॉलसटोय और गोर्की;—इन सब ने प्राचीन समाज, कुटुम्ब, धर्म और विचारों में विच्छेदन होती हुई स्थिति का सुन्दर चित्रण किया है और यह आभास मानव को कराया है कि कुछ नई चीज, समाज और धर्म के कुछ नए आधार, विश्व में अवतरित हो रहे हैं। अनेक नई नई उद्भावनायें १९वीं शती में प्रतिफलित हुईं। मानो १९वीं शती इतिहास का एक महत्वपूर्ण युग है। जिसे हम आज की दुनिया कहते हैं। आज सन् १९५० में जो हमारे विचार, भावनायें और मान्यतायें हैं उन सबका विकसित रूप हम १९वीं शती में देखते हैं। १९वीं शती के पहले दुनिया हमसे प्रायः भिन्न थी जब तक न तो रेलें थीं, न तार, न डाक, न स्टीमर, न वायुयान, न रेडियो, न यांत्रिक व्यवसाय, न प्राणी-शास्त्र, न विकासवाद और न अन्तर्राष्ट्रीयता और न एक मानव समाज की कल्पना या भावना। ये सब बातें सर्व प्रथम सहसा १९वीं शती में प्रकट हुईं; मानो १९वीं सदी से इतिहास के विकास में जो तब तक बहुत ही मन्थर गति में हो रहा था, कुछ नई स्फूर्ति, कुछ नई तीव्रता आ गई; मानो १९वीं सदी से इतिहास की रूप रेखा, उसका रंग रूप ही बदल गया।

(५५)

विश्व-राजनीति और विश्व इतिहास का युग आरम्भ

विश्व-इतिहास (१८७०–१९१९ ई०)

प्रस्तावना:–सन् १८७० से यूरोप का इतिहास और यूरोप की राजनीति एक दृष्टि से विश्व-इतिहास और विश्व राजनीति में परिणित हो जाती है–तब से विश्व के देश एक दूसरे के निकट इतने सम्पर्क में आने लगते हैं मानो किसी भी देश की हलचल विश्व हलचल का एक अभिन्न अंग मात्र हो। अतः तब से आगे के इतिहास को समझने के लिये पहिले यहां पर देशों का इतिहास संक्षेप में जान लेना आवश्यक है जो विश्व को नये नये ही ज्ञात होते हैं एव जिनका विशेष उल्लेख अब तक नहीं हो पाया है यथा अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड इत्यादि जो यूरोपीय लोगों के उपनिवेश और साम्राज्य विस्तार के सिलसिले में ही विश्व इतिहास में प्रवेश करते हैं।

यूरोप का उपनिवेशिक एवं साम्राज्यवादी विस्तार

सन् १४९२ ई० में अमरीका एवं सन् १४९८ ई० में भारत के नये सामुद्रिक रास्ते की खोज के बाद यूरोपीय लोगों का फैलाव धीरे धीरे यूरोप से बाहर के देशों में यथा, पच्छिम में अमरीका और पच्छिमी द्वीप समूह और पूर्व में भारत, लंका, चीन, पूर्वीय द्वीप समूह इत्यादि में होने लगा। पहिले तो यह सम्पर्क केवल व्यापार के लिये होता था, किन्तु धीरे धीरे यूरोपीय लोग उन देशों में, जहां की जनसंख्या बहुत कम थी, जहां के आदि निवासी अर्धसभ्य थे, जो देश अभी अन्धेरे में

अविकसित पड़े थे जैसे अमरीका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, फिलीपाइन द्वीप, न्यूजीलैंड इत्यादि, स्वयं जाकर रहने लगे और अपने उपनिवेश बसाने लगे। एवं उन देशों में जो पहिले से ही विकसित थे, जहां प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की परम्परा चली आरही थी और जहां बड़े बड़े राज्य संगठित थे जैसे भारत, चीन इत्यादि,—वहां यूरोपीय लोगों ने पहिले तो अपना व्यापारिक सम्पर्क स्थापित किया, एवं तदंतर यदि किसी देश की राजनैतिक स्थिति को अस्त व्यस्त और निशक्त पाया तो वे वहीं अपना साम्राज्य स्थापित करने लगे। ऐसा साम्राज्य स्थापित करने में विशेषतया वे भारत, हिन्देशिया और लंका में सफलीभूत हुए। किस प्रकार यूरोपीयन लोग दूर दूर अज्ञात देशों में अपने उपनिवेश बसा सके और अपने साम्राज्य स्थापित कर सके, इसमें कोई विशेष रहस्य नहीं है। एक दृष्टि से तो यूरोपीय देशों का भी राजनैतिक संगठन कुछ बहुत सुव्यवस्थित और शक्तिशाली नहीं था, और न वहां के लोग कुछ विशेष प्रतिभाशाली। किन्तु उनमें एक नई जागृति, एक नया साहस पैदा हो चुका था जो भारत और चीन जैसे प्राचीन और स्वयं-सतुष्ट देश के लोगों में नहीं था। उनकी नई क्रिया-शीलता और साहस से ही वे धीरे धीरे बिना किसी पूर्व निश्चित योजना के बढ़ने लगे और अपना विस्तार करने लगे। प्रायः १६ वीं शती के पूर्वार्द्ध तक तो—यह गति बहुत धीरे रही किन्तु १६ वीं शती के उत्तरार्द्ध में जब यूरोप में यांत्रिक क्रांति हो चुकी थी, रेल, तार, डाक और अगन-बोटों का प्रचलन होचुका था, एवं अनेक यांत्रिक उद्योग और बड़े बड़े कारखाने खुल चुके थे, तब यूरोपीय उपनिवेश और साम्राज्य विस्तार की गति में तेजी आने लगी। यूरोप की जनसंख्या भी बढ़ चुकी थी, खाने के लिये अधिक अन्न की आवश्यकता थी जितना वहां पैदा नहीं होता था, एवं अपने कारखानों के लिये हर कच्चे माल जैसे रुई, ऊन, तिलहन, रबर, लकड़ी, मिट्टी का तेल, रेशम इत्यादि की जरूरत थी, अतः उपनिवेश बसाने और राज्य

का विस्तार करने में वे अब संगठित रूप से काम करने लगे और वे यहां तक सफल हुए कि २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक विश्व के अनेक भागों में उनके अनेक उपनिवेश और साम्राज्य स्थापित होगये, जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है।

साम्राज्य—(१) ब्रिटिश साम्राज्य :—कनाडा, न्यूफाउन्डलैंड, ब्रिटिश गिनी, दक्षिण अफ्रीका संघ, मिश्र, सूडान, भारत, लंका, मलाया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, तस्मानिया, उत्तर बोर्नियो, न्यूगिनी एवं अन्य अनेक छोटे छोटे द्वीप।

(२) फ्रांसीसी साम्राज्य :— फ्रेंच गिनी, पच्छिमी फ्रेंच अफ्रीका, मेडागास्कर, फ्रेंच इन्डोचाइना एवं भारत में ४–५ फ्रांसिसी नगर।

(३) डच (होलैंड) साम्राज्य :–डच गिनी, एवं पूर्वीय द्वीप समूह (सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, पच्छिमी न्यूगिनी)

(४) रूसी साम्राज्य :—समस्त उत्तरी एशिया अर्थात् साइबेरिया।

(५) जर्मन, इटालियन, पोर्तगीज, स्पेनिश साम्राज्य :—इन्होंने अफ्रीका महाद्वीप के भिन्न भिन्न भाग अपने कब्जे में किये।

उपनिवेश–किन किन देशों में किन किन लोगों के उपनिवेश बसे :–

कनाडा	मुख्यत: अंग्रेज और फ्रांसीसी	ये सब उपनिवेश अब उन्हीं यूरोपियन लोगों के स्वदेश और राष्ट्र हैं जो वहां जाकर बस गये थे।
संयुक्त राज्य अमेरिका	मुख्यत: अंग्रेज	
मेक्सिको, मध्य-अमेरिका एवं समस्त दक्षिण अमेरिका	मुख्यत: स्पेनिश	
आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड	मुख्यत: अंग्रेज	
फिलीपाइन द्वीप	मुख्यत: स्पेनिश	

अब प्रत्येक उपनिवेश एवं यूरोपियन साम्राज्यान्तर्गत प्रत्येक देश का संक्षिप्त विवरण पृथक पृथक दिया जाता है, यह दिखलाते हुए कि किस प्रकार इन देशों में नई बस्तियां बसीं एवं साम्राज्य स्थापित हुए।

भारत–भारत के मुग़ल सम्राट जहांगीर के जमाने में सन् १६०० ई० में अंग्रेज प्रतिनिधि सर टामसरो ने भारत में कुछ व्यापारिक कोठियां खोलने की आज्ञा ली, तभी से पहिले तो अंग्रेजी व्यापार में वृद्धि होना शुरू हुआ, फिर भारत की राजनैतिक अस्त-व्यस्तता, कमजोरी और राष्ट्रीय भावना की हीनता को देखकर अंग्रेज लोग धीरे धीरे वहां अपना राज्य जमाने लगे। कह सकते हैं कि सन् १७४८ ई० में आरकोट के घेरे से प्रारम्भ करके जबकि ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पहली बार भारतीय राजाओं के मामलों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया, १८४८ ई० में कम्पनी की पंजाब पर विजय तक के १०० वर्षों के काल में ब्रिटिश आधिपत्य धीरे धीरे समस्त भारत पर छा चुका था—मुगल या मराठा भारत ब्रिटिश भारत हो चुका था।

चीन-चीन में यूरोपीयन लोगों का प्रवेश १७वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। वहां पर उन्होंने अपने व्यापार की अभिवृद्धि की, व्यापारिक अभिवृद्धि के लिये कुछ युद्ध भी हुए किंतु होंगकोंग बन्दर (ब्रिटिश), मकाओ नगर (पुर्तगीज), और शांघाई नगर (अंतर्राष्ट्रीय) को छोड़कर वहां पर वे अपना राज्य कायम नहीं कर सके। लेकिन उन्होंने अनेक कारखानों में अपनी लाखों, करोड़ों की सम्पत्ति लगाकर एक प्रकार से आर्थिक क्षेत्र में अपना प्रभाव अवश्य जमा लिया था।

लंका—लगभग ८० लाख (१९५०) आबादी वाला, एवं चावल, गन्ना, नारियल; चाय, दालचीनी, लोंग; रबर, पुखराज (रत्न) और मोती में धनी देश लंका, भारतवर्ष की मुख्य भूमि से केवल २२ मील दूर धुर दक्षिण में एक टापू है। यहां के मूल निवासी तो अर्ध-सभ्य वेद्दा लोग हैं जिनकी संख्या २० हजार से अधिक नहीं। देश के प्रमुख प्राचीन निवासी, मख्यतया द्रविड़ और आर्य उपजातियों के सम्मिश्रण से बनी

सिंहल जाति के लोग हैं (लंका का एक प्राचीन नाम सिंहल द्वीप भी था) जो अपनी ही सिंहाली भाषा जिसमें आर्यभाषा संस्कृत और पाली के शब्दों का बाहुल्य है बोलते हैं। दक्षिण भारत से जाकर बसे हुए तामिल लोगों की जनसंख्या भी काफी है। लंका के प्राचीन उपलब्ध साहित्य, पाली भाषा में लिखित 'महावंश' के आधार पर यह माना जाता है कि लंका का सर्वप्रथम राजा विजय था जो ५०४ ई० पू० में पूर्वी भारत से वहां गया था, और अपने राज्यवंश की स्थापना की थी। ३०७ ई० पू० में भारत सम्राट अशोक का पुत्र महेन्द्र, जो बौद्ध भिक्षुक बनगया था, बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए लंका गया और तभी से बौद्ध-धर्म वहां के निवासियों का प्रमुख धर्म रहा है। प्राचीन काल में दक्षिण भारत से हिन्दू धर्मावलम्बी तामिल राजा भी लंका गए और देश के कुछ प्रदेशों में अपने राज्यवंश चलाए। प्राचीन काल से ही भारत विशेषकर दक्षिण भारत और लंका का घनिष्ठ राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। प्राचीन बौद्ध एवं हिन्दू मन्दिर, बुद्ध और देवी-देवताओं की मूर्तियां एवं भित्तिचित्र, एवं सिंहाली लोगों के नृत्य लंका की सांस्कृतिक थाती हैं। १५०५ ई० में पुर्तगाली नाविक फ्रांसिस्को दी ऐलमीडा लंका में उतरा। १५१७ ई० में लंका की आधुनिक राजधानी कोलम्बो में प्रथम पुर्तगाली किला बनाया गया। उस समय लंका के विभिन्न प्रांतों में ७ राजा राज्य करते थे। पुर्तगाली लोगों ने राजाओं को आपस में लड़ाकर भेदनीति से धीरे धीरे सारे देश पर अपना कब्जा कर लिया। देश में लगभग १४० वर्ष तक पुर्तगाली राज्य रहा। १६०२ ई० में डच ऐडमिरल स्पीलबर्ग लंका में उतरा और डच लोगों ने १७वीं शताब्दी के मध्य तक पुर्तगालियों को देश से खदेड़कर बाहर किया और अपना प्रभुत्व स्थापित किया। लगभग १४० वर्ष तक डच राज्य रहा। १८वीं शताब्दी का अंत होते होते अंग्रेज आए; १७९६ ई० में अंग्रेजों ने डच लोगों को हराकर लंका में अपना राज्य स्थापित किया। ४ फरवरी १९४८ के दिन लंका अंग्रेजी राज्य से मुक्त हुआ।

मलाया, हिंदेशिया और हिंदचीन—इन प्रदेशों में यूरोपीयन लोगों का प्रवेश १७वीं शताब्दी में हुआ; मलाया में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हुआ, हिंदेशिया में डच लोगों का और हिंदचीन में फ्रांस का (विशेष विवरण देखिये अध्याय ५०)

साइबेरिया—रूस को अपने विस्तार का अवसर अमरीका, अफ्रीका आदि देशों में कहीं भी नहीं मिला अतः उसने अपना विस्तार यूरोप से ही जुड़े हुए एशिया के भूभाग साइबेरिया में करना शुरू किया। साइबेरिया प्राय: खाली पड़ा था, उधर ही रूसी लोग बढ़ने लगे। १७वीं १८वीं शताब्दी में वहां का पूर्व स्थापित मंगोल साम्राज्य प्राय: खत्म हो चुका था। १८वीं शताब्दी के मध्य तक रूसी लोग बढ़ते बढ़ते मगोलिया की सीमा तक, और १८६० ई० में प्रशान्त महासागर तक बढ़कर वे समस्त साइबेरिया के अधिपति हो चुके थे। इस विस्तृत साम्राज्य का निरंकुश सम्राट था रूस का जार। पूर्व में प्रशान्त महासागर में रूस ने ब्लाडीवोस्टक एक प्रमुख बन्दरगाह बना लिया था किन्तु वह सर्दियों में बन्द रहता था, अतः रूस की दृष्टि दक्षिण में मंचूरिया की तरफ रहती थी जहां पोर्टआर्थर अच्छा बन्दरगाह था।

आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड एवं तस्मानिया—सन् १७६८ में इङ्गलैंड का केप्टन कुक आस्ट्रेलिया पहुंचा और तब से १७७६ तक उसने वहां की तीन बार यात्रा की। सन् १६४२ में न्यूजीलैंड और तस्मानिया की खोज हो चुकी थी। इन प्रदेशों में काले या ताम्र रंग के असभ्य लोग बसे हुए थे। ये लोग अनेक भिन्न भिन्न समूह व जातियों में विभक्त थे। जंगलों में झोपड़ियां बना कर रहते थे। अधिकतर शिकार से अपना पेट पालते थे। बहुधा नग्न रहते थे, पत्तों से या खाल से थोड़ा थोड़ा अपना तन ढक लेते थे। कहीं कहीं खेती भी होती थी किन्तु बहुत ही प्रारम्भिक ढंग की। इनका कोई संगठित धर्म नहीं था, अजीब कल्पित देवी-देवताओं को वे पूजते थे, बलि चढ़ाते थे और अनेक प्रकार के सामूहिक नाच करके उनको खुश करने के प्रयत्न किया करते थे। यद्यपि १७वीं सदी

में इन देशों का पता लग चुका था किन्तु तब तक यहां पर यूरोपीय लोग आकर बसने नहीं लगे थे। १९वीं शताब्दी के मध्य में इन प्रदेशों में उपनिवेश बसने लगे। यहां अधिकतर अंग्रेज लोग ही आये। १८४२ में आस्ट्रेलिया में तांबे की खानों का पता लगा और १८५१ में सोने की खानों का। तभी से आस्ट्रेलिया में अधिक बस्तियां बसने लगीं। धीरे-धीरे यातायात के साधनों में तरक्की की जाने लगी। १९वीं शताब्दी के अन्त तक कुछ रेल्वे-लाइनें भी बनाई गईं, एवं समस्त आस्ट्रेलिया को ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग बना लिया गया। १८४० ई० में न्यूजीलैंड भी जोड़ लिया गया। कनाडा की तरह आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड इस समय ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के स्वशासित सदस्य हैं। सम्पूर्ण शासन व्यवस्था वहीं पर बसे हुए अंग्रेजों के हाथ में है; इङ्गलैंड राज्य का एक प्रतिनिधि मात्र गवर्नर जनरल के रूप में इन देशों में रहता है। ये देश अपनी विदेशी तथा युद्धनीति इङ्गलैंड की सलाह से तय करते हैं।

उत्तर अमेरिका

(इसका आज तक का इतिहास)

अमेरिका का प्राचीन इतिहास—हम लोगों को अमेरिका का पता सन् १४९२ ई० में कोलंबस की खोज के बाद लगा। उसके पहिले यूरोप, एशिया, उत्तर अफ्रीका के लोग जो एक दूसरे को जानते थे और जो एक दूसरे से कम या अधिक प्राचीन काल से सम्बन्धित थे, यही समझ बैठे थे कि बस एशिया, यूरोप और उत्तर अफ्रीका ही यह दुनिया है, इसके परे या इससे अन्य और कोई भूमि नहीं। इसीलिए सन् १४९२ में जब कोलम्बस अमरीका की भूमि पर उतरा तो यही समझा गया कि वह भारत भूमि है जहां एक नये रास्ते से प्रवेश किया गया है। किन्तु कुछ वर्षों बाद जब लोगों को यह भान हुआ कि वह तो बिल्कुल ही एक नया प्रदेश था तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही और वे इस नव ज्ञात भूमि को "नई दुनियां" ही कहने लगे।

ऐसी बात नहीं है कि अमेरिका का उसकी खोज के पूर्व कोई इतिहास नहीं था, या वहां कोई मानव ही नहीं रहता था। उस महाद्वीप के प्रागैतिहासिक और प्राचीन इतिहास के विषय में ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्राचीन पाषाण युग के उत्तरार्द्ध में या नव पाषाण युग के आरंभिक काल में उत्तर पूर्वीय एशिया से कुछ लोग (संभवतः मंगलोइड उपजाति के लोग) बेहरिंग और अलास्का के रास्ते से होकर अमेरिका पहुंच गये थे; उस समय एशिया व अमेरिका महाद्वीप बेहरिंग और अलास्का के पास जुड़े हुए होंगे। इन लोगों के पहुंचने के पूर्व तो अमेरिका मानव-हीन विशाल भूखंड थे जहां जंगली भैंस, विशालकाय मैगामेरियन और ग्लिपटोडन नामक जानवर इधर उधर घूमा फिरा करते थे। तदुपरांत बेहरिंग जल-मार्ग द्वारा दोनों महाद्वीप पृथक हो गये अतएव एशिया और अमेरिका में किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रहा। तब से यूरोप और एशिया वासियों के लिये अमेरिका कोलम्बस की खोज तक बिल्कुल लुप्त रहा। वे प्राचीन लोग जो प्रागैतिहासिक काल में अमेरिका पहुंचे थे, धीरे धीरे दक्षिण की ओर बढ़ते गये थे और उन्होंने खेती और पशु पालन के आधार पर अपनी सभ्यताओं का विकास किया था। कैसी यह सभ्यता थी इसका विवरण हम यथास्थान १६ वें अध्याय में कर आये हैं। यह सभ्यता प्रागैतिहासिक कालीन काष्र्णोय सभ्यता से कुछ मिलती जुलती थी; शेष दुनियां से उसका कुछ भी सम्पर्क न रहने की वजह से उसमें विशेष बौद्धिक या आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो पाई थी। १६ वीं शताब्दी में यूरोप के लोग जब धीरे धीरे अमरीका जाकर बसने लगे उस समय भी वहां उपरोक्त आदि निवासियों की सभ्यतायें विद्यमान थीं जो यूरोप-वासियों के उन देशों में फैलने के साथ साथ लुप्त हो गईं। अमेरिका के ये आदि निवासी ताम्रवर्ण के लोग थे; यूरोप वासियों ने इनको रेड-इंडियन नाम से पुकारा। ये लोग जगह जगह थोड़ी थोड़ी संख्या में फैले थे; देश की विशालता को देखते हुए तो इनकी संख्या बहुत ही कम थी। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के आदि

निवासियों की कुल संख्या लगभग एक करोड़ होगी। ये आदि निवासी कई भिन्न भिन्न समूहगत जातियों (Tribes) के लोग थे। इन सबकी सभ्यता एक श्रेणी की नहीं थी। ठेठ उत्तर के भाग में जो बहुत ठण्डे थे और जो बर्फ से ढके रहते थे लोगों के जीवन का जलवायु के अनुरूप, इतना ही विकास हो पाया था कि वे फर (जानवर की बालदार खाल) से अपने शरीर को ढकते थे, बर्फ की ही गोल गोल झोपड़ियां खोदकर उनमें रहते थे और मांस व मछली पर जीवन निर्वाह करते थे। उत्तर पश्चिमी भागों में लोग विशेषतया शिकार पर अपना जीवन निर्वाह करते थे, उस भाग में जंगली भैंसे बहुत थे उन्हीं का शिकार होता था। ये लोग प्राय: असभ्य थे। पूर्वी भागों में कई समूह व जातियों के लोग गांव बसाकर बसे हुए थे। इन गांवों में सुव्यवस्थित ढङ्ग से मकान बने थे; देवता और आग के सामने ये नृत्य भी करते थे। वे शिकार भी करते थे किन्तु साथ ही साथ खेती भी; मुख्यतया मक्का की खेती होती थी। बिना किसी प्रकार की प्रगति किये किसी प्रकार अनेक शताब्दियों से ये रहते हुए आरहे थे। पच्छिम में जो आधुनिक केलीफोर्निया है वहां के रेड-इंडियन कुछ विशेष सभ्य थे—वे खेती करते थे, कपड़ा बुनते थे, मिट्टी के बर्तन बनाते थे, पत्थर के मकान बनाते थे। किन्तु सबसे अधिक सभ्य स्थिति यूरोपीय लोगों को दो भागों में मिली; एक भाग तो वह था जो आधुनिक मैक्सिको है; दूसरा वह भाग जो आधुनिक पीरू है। इन दोनों प्रदेशों में उसी स्थिति की सभ्यता विद्यमान थी जिसका उल्लेख १६ वें अध्याय में हो चुका है। मैक्सिको में ऐजटैक्स लोग थे। उनकी कृषि, शासन प्रणाली स्थापन कला काफी विकसित थी। कई नगर वसे हुए थे जिनमें सड़कें थीं, विशाल मन्दिर थे और राजा के महल थे। एक विशेष प्रकार की चित्र लेखन कला का उनको पता था ये सब बातें थीं किन्तु बलि प्रधान था, देवता के आगे हजारों व्यक्तियों की बलि चढ़ादी जाती थी। इसी सभ्यता में विशेष कमी यही थी कि एक तो इनका धर्म इतना अविकसित स्थितिका था और दूसरा सिवाय

कांसी (Bronze) के ये लोग और किसी प्रकार की धातु के प्रयोग से परिचित नहीं थे; यातायात के साधनों में पहिये से भी परिचित नहीं थे। घोड़ा, या बैल उन प्रदेशों में नहीं थे। बोझा ढोने का काम 'अम्मा' (Amma) नामक जानवर की पीठ पर होता था, जिस पर तेज सवारी नहीं की जा सकती थी। स्पेनिश नाविक कोर्टेज जिसने इस प्रान्त का पता लगाया उसी ने ऐंजटैक्स राजा से युद्ध कर उस प्रान्त को जीता। यूरोपीयन लोग ऐंजटैक्स लोगों को जीत सके उसका यही एक कारण था कि यूरोपीयन लोगों के पास बारूद था और वे सवार होकर लड़ने के लिये अपने जहाजों में घोड़े ले आये थे।

प्रायः मैक्सिको की तरह दक्षिण अमेरिका के उस भाग में जो आधुनिक पीरू है वहां पर भी नगरों में बड़े बड़े मन्दिरों, राजा और सुव्यवस्थित शासन वाली, एक "इनका" जाति के लोगों की सभ्यता थी। इस प्रान्त में सोने और चांदी की बहुत खानें थीं। स्पेनिश नागरिक पिज़ारों ने "इनका" राजा को परास्त कर वहां स्पेनिश प्रभुत्व स्थापित करना प्रारम्भ किया। अमेरिकन आदिवासियों में यातायात के साधन इतने कम थे कि उपरोक्त मैक्सिको और पीरू की सभ्य जातियां भी एक दूसरे से परिचित नहीं थीं। ऐंजटैक्स लोगों को पता नहीं था कि कहीं और भी उन जैसी सभ्यता उनके प्रदेश से थोड़ी ही दूर पर प्रचलित है। इन दो सभ्यताओं को छोड़कर जैसा ऊपर कह आये हैं अमेरिका के और प्रदेशों में तो प्रायः असभ्य स्थिति के ही लोग रहते थे अमेरिका विशाल भूखंड है, यूरोप से कई गुना बड़ा; और १५ वीं सदी में जब यूरोपवासी सर्वप्रथम वहां पहुंचे, उपरोक्त कुछ छोटे छोटे प्रदेशों को छोड़कर वह समस्त विशाल भूखंड अविकसित अपनी प्राकृतिक स्थिति में पड़ा था। ऐसे अपरिचित नव भूखंड में यूरोपवासी गये, वहां बसे, उसे अपना ही एक देश बना लिया और दो तीन शताब्दियों में ही वे इतनी प्रगति कर गये कि आज २०वीं शती में दुनियां में अमेरिका (संयुक्त राज्य अमेरिका) का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

अमेरिका में यूरोपवासियों का बसना और अपने राज्य स्थापित करना—सन् १४६२ में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया, पहिले तो नाविकों ने समझा कि यह भारत है। कुछ वर्षों बाद अमेरिगोवेस्पुस्सी, नामक एक नाविक ने यह पता लगाया कि यह तो भारत नहीं किंतु एक नया संसार है। उसने इस नये संसार का एक रोमांचकारी विवरण प्रकाशित किया, उसीके नाम पर इस देश का नाम अमेरिका पड़ा। तदुपरान्त अन्य यूरोपीय यात्री वहां पर गये और उन्होंने अमेरिका के भिन्न भिन्न भागों का पता लगाया, जैसे सन् १४६७ में जोहनकबोर्ट ने न्यूफाउण्डलैंड का, १५०० ई० में पेड्रो ने पुर्तगाल के लिये ब्राजील का, १५१६ ई० में स्पेन के कोर्टेज़ ने मैक्सिको का, १५३२ ई० में पीज़ारो ने पीरू का, १५८४ ई० में इङ्गलैंड के रेले ने वर्जिनिया प्रदेश का इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार यूरोपवासी स्पेनिश, पुर्तगीज, डच, फ्रेन्च, अंग्रेज धीरे धीरे नई दुनियां में धन की खोज में, काम की खोज में, नये घरों की खोज में एवं नई नई साहसपूर्ण यात्राओं की खुशी में आते गये, बीहड़ जंगलों को साफ करते गये, वहां के आदि निवासियों से टक्कर लेते गये, और वहां बसते गये। उत्तरी अमेरिका के उस भाग में जो आज संयुक्त अमेरिका राज्य कहलाता है, सर्व प्रथम बस्ती १६०७ ई० में उस जगह बसाई गई जो आज जेम्सटाउन नगर है। इस प्रकार उसके बाद भिन्न भिन्न बस्तियां एवं नगर बसते गये।

बस्तियां—ज्यों ज्यों आगन्तुक लोग नये नये नगर बसाते जाते थे त्यों त्यों अपनी सामाजिक व्यवस्था के लिये स्थानीय जनतन्त्रीय शासन व्यवस्था भी कायम करते जाते थे। सन् १७६० तक संयुक्त अमेरिका के पूर्वीय किनारे पर इस प्रकार प्रायः १३ राज्य स्थापित हो चुके थे। इनमें अधिकतर बसने वाले अंग्रेज लोग ही थे। फ्रांसीसी लोग भी आये थे किन्तु वे लोग तटीय प्रांतों को छोड़कर अन्तर प्रदेशों में अधिक चले गये थे जहां उन्होंने अपने किले भी स्थापित किये थे। वे कृषि, व्यापार और व्यवसाय के लिये इतने व्यवस्थित ढंग से नहीं बस पाये जितने कि

अंग्रेज लोग बसे। वे साहसपूर्ण खोज, नई बातों के उद्घाटन और अमेरिका के मूल निवासियों में ईसाई धर्म प्रचार करने की तमन्ना में अधिक रहगये। अमेरिका में बसने और व्यापारिक वृद्धि करने के लिये फ्रांसीसियों और अंग्रेजों में परस्पर झगड़े अवश्य हुए किन्तु इनका फैसला इङ्गलैंड और फ्रांस के सप्तवर्षीय (१७५६-१७६३) युद्ध में होगया। फ्रांस की हार हुई और यह निश्चय हुआ कि अमेरिका के समस्त फ्रांसीसी उपनिवेश अंग्रेजों के आधीन कर दिये जायें। इस प्रकार समस्त उत्तर अमेरिका,—कनाडा और संयुक्त राज्य में मैक्सिको और मध्य अमेरिका के कुछ प्रदेशों को छोड़कर अंग्रेजों का अधिकार मान्य हुआ।

अमेरिका का स्वतंत्रता युद्ध—इंगलैंड से आकर जो लोग अमेरिका में बसे थे और बसते जा रहे थे वे अपने आप को इङ्गलैंड के राजा की प्रजा समझते थे। उन्हीं दिनों यूरोप के राज्यों ने आपस में बात करके यह कानून तय किया था कि यदि कोई मनुष्य किसी अज्ञात देश को मालूम करके वहां पर अपने राजा की पताका गाड़ देगा तो वह देश उस देश के राजा का समझा जायेगा। इसी सबब से इङ्गलैंड का राजा अमेरिका में बस हुए अंग्रेजों पर अपना शासनाधिकार समझता था। इसी तरह के कई कारणों से यही समझा जाने लगा कि अमेरिका उपनिवेश पर इङ्गलैंड का ही राज्य है। वैसे भी अमेरिका निवासी अंग्रेज अपना व्यापार इङ्गलैंड से ही करते थे और इङ्गलैंड ने भी ऐसे कई कानून बनाये थे कि अमेरिका वासी अंग्रेज केवल इङ्गलैंड से ही या इङ्गलैंड द्वारा व्यापार कर सकें। इङ्गलैंड का राजा अपना प्रतिनिधि स्वरूप अमरीका में एक वायसराय (Viceroy) भी रखने लग गया था, जो अमेरिका के सब राज्यों का अधिनायक माना जाता था। ये वायसराय भिन्न भिन्न राज्यों के कानूनों को मान्यता न देकर खुद अपने कानून बनाते थे। इन्होंने इंगलैंड के लिये कर वसूल करना भी प्रारम्भ कर दिया। कई प्रकार के कर उन पर लगा दिये गये। इंगलैंड की फौज

भी अमेरिका में रहने लग गई। अमेरिका में जो लोग बस गये थे वे लोग इंगलैंड की इस बात को सहन नहीं कर सके–वे स्वतन्त्र रहना चाहते थे, स्वतन्त्र अपना विकास करना चाहते थे, किसी दूसरी जगह की दखलन्दाजी उन्हें पसन्द नहीं थी अतः इन अमेरिका वासियों ने इंगलैंड से छुटकारा पाने के लिए अपने आन्दोलन प्रारम्भ कर दिये। इंगलैंड से असहयोग करना शुरू कर दिया, कर देने से इन्कार कर दिया। इंगलैंड से चाय के भरे तीन जहाज अमेरिका आये थे; बोस्टन बन्दरगाह में ये चाय के जहाज लगे,चाय पर इंगलैंड की ओर से महसूल कर लगा हुआ था। कर देने की बजाय अमेरिका वासियों ने उन चाय के बोरों को ही समुद्र में डुबा दिया। झगड़ा बढ़ गया, इंगलैंड और अमेरिका में युद्ध घोषित हुआ। अमेरिका की स्वतन्त्रता का यह युद्ध था। इंगलैंड से फौजें आईं, उधर अमेरिका ने भी पहिले स्वयं सेवक खड़े किये और फिर उनको सैनिक-शिक्षण देकर अपनी सेनायें बना लीं। ४ जुलाई सन् १७७६ के दिन अमेरिका ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी–और साथ ही साथ उन्होंने एक ऐसे सिद्धान्त की घोषणा की जो मानव, मानव समाज में आधारभूत एक नई वस्तु थी,–एक ऐसी वस्तु जो युग युग तक मानव समाज संगठन का बुनियादी आधार बनी रहेगी। यह घोषणा थी:–"इस सत्य को हम स्वयं सिद्ध समझते हैं कि सब प्राणियों को समान उत्पन्न किया जाता है—उनको उनके रचयिता (परमात्मा) की ओर से कुछ अपरिवर्तनशील अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों में ये हैं—प्राण, स्वतन्त्रता और आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न। सरकारें भी इसलिये स्थापित रहती हैं कि मानव के ये अधिकार सुरक्षित रहें। इन सरकारों की शक्ति शासित लोगों की सम्मति पर ही आधारित है। जब कभी कोई सरकार इन उद्देश्यों की अवहेलना करे तो लोगों का यह अधिकार है कि ऐसी सरकार को बदल दें या खत्म करदें और उसकी जगह नई सरकार स्थापित कर दें।"

मानव मानव में समता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, और जनतन्त्रवाद—इन तीनों आदर्शों की, इन तीनों सिद्धान्तों की, यह एक अद्वितीय घोषणा थी। आज के मानव की भी ये ही आकांक्षायें हैं—समाज में ये ही उसके आदर्श हैं। विश्व में, संयुक्त राज्य अमेरिका एक नई रचना थी, आज से केवल १५० वर्ष पूर्व उस नई रचना का जन्म हुआ था उपरोक्त सिद्धान्तों के साथ साथ।

यह घोषणा तो अमेरिका के तत्कालीन १३ संयुक्त राज्यों ने कर दी किन्तु इंगलैंड नहीं माना, उसने युद्ध जारी रक्खा। अमेरिकन फौज का सेनापति बना जार्ज वाशिंगटन। सन् १७७६ से सन् १७८३ तक दोनों देशों में ७ वर्ष तक युद्ध चलता रहा, अन्त में अमेरिका में इंगलैंड की हार हुई और सन् १७८३ में अमेरिका पूर्ण स्वतन्त्र हुआ।

युद्ध समाप्त होने पर, देश स्वतन्त्र होने पर, अमेरिका के १३ राज्य बिखरने से लगे किन्तु जार्ज वाशिंगटन तथा अन्य राजनीतिज्ञों ने परिस्थिति को संभाला। सन् १७८७ में फिलाडेलफिया नगर में सभी राज्यों के प्रतिनिधि वाशिंगटन के सभापतित्व में एकत्रित हुए, सब ने मिलकर एक शासन विधान बनाया—सन् १७७६ में घोषित समता, स्वतन्त्रता, जनतन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर। विधिवत् संयुक्त राष्ट्र अमेरिका राज्य का निर्माण हुआ। चेतन तत्व था कुछ महान् व्यक्तियों का—टोमपेन, बेन्जामिन फ्रेंकलिन, जेफरसन, हेमिलटन, वाशिंगटन। अमेरिका के शासन विधान के अनुसार अमेरिका एक संघ राज्य है। संघीय सरकार अध्यक्षात्मक है—अर्थात् मुख्य कार्यवाहक अध्यक्ष हैं—कोई मन्त्री मण्डल नहीं। व्यवस्था सभा (कांग्रेस) के दो हाउस हैं—सिनेट और प्रतिनिधि गृह। संघ के सदस्य, भिन्न भिन्न राज्य, स्थानीय मामलों में बिल्कुल स्वतन्त्र हैं, और सब प्रजातन्त्र राज्य हैं।

विधान के अनुसार जार्ज वाशिंगटन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का सन् १७८९ में प्रथम अध्यक्ष चुना गया। उसके बाद से अब तक हर चौथे वर्ष अमेरिका के राष्ट्रपति (President) चुने जाते रहे हैं।—

दुनियां के सामने और दुनियां की राजनीति में संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि स्वरूप वहां के अध्यक्ष का स्थान महत्वपूर्ण रहा है।

अमेरिका में दास प्रथा और वहां का गृह युद्ध

(१८६०–६५):—प्रारम्भ में जो यूरोपीय लोग अमेरिका में बसे, वे वहां के आदि निवासियों को आतंकित कर उस देश के स्वामी के रूप में बसे। अपेक्षाकृत उत्तरी भाग में जो लोग बसे उन्होंने तो स्वतन्त्र अपनी ही खेतीबाड़ी करना प्रारंभ किया, वे विशेषतः 'खुद-किसान' और व्यापारी थे किन्तु जो दक्षिणी भागों में बसे थे और जहां पर उस काल में खानों में, और तम्बाकू की खेती में अधिक काम होता था, वे प्रारंभ से ही बड़े बड़े जमींदार थे, विशाल क्षेत्रों में एवं खानों में वे स्वयं काम नहीं कर सके। उन्हें यह आवश्यकता हुई कि वे वहां के आदि निवासियों से जबरन खानों और तम्बाकू के खेतों में काम करवायें। वहां के आदि निवासी रेड-इंडियन इस कठिन परिश्रम के काम के लिये अयोग्य निकले—वे बीमार पड़ जाते थे। अतः दक्षिणी प्रान्तों के उपनिवेश-वासियों के सामने यह एक समस्या थी। उसी समय सन् १६१६ में अफ्रीका के नीग्रो लोगों से भरा एक जहाज अमेरिका पहुंचा। कुछ स्पेनिश एवं अंग्रेज साहसी मल्लाहों ने अपना एक पेशा ही बना लिया था कि वे लोग अफ्रीका जाते थे, वहां से काले हबशी लोगों को जबरदस्ती पकड़ लाते थे, और उनको इङ्गलैंड या अमेरिका में जहां मजदूरों की आवश्यकता होती थी, बेच देते थे। १६वीं सदी में जब से स्पेन और पुर्तगाली लोगों ने दक्षिण अमेरिका एवं पच्छिमी द्वीप समूहों में अपने उपनिवेश बसाना शुरू किया था, तभी से यह काम शुरू होगया था। इस प्रकार १६ वीं सदी में अजीब ही एक दास प्रथा का प्रारम्भ हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण भाग के राज्यों में नीग्रो दास लोगों का एक व्यापार ही चल पड़ा था। दासों को खरीदा जा सकता था उनसे चाहे जितना और जैसा काम लिया जा सकता था। यह नहीं कि

नीग्रो लोगों का एक दास कुटुम्ब एक ही मालिक के पास रहे; ऐसा भी होता था कि कुटुम्ब का पिता कहीं बिक जाता था, माता कहीं और बच्चे कहीं। दर असल उनका एक बाजार लगता था और वे नीलाम होते थे; अमेरिका के इतिहास में वहां का यह काला धब्बा है। समझ में नहीं आता कि जहां एक ओर तो समता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की दुहाई दी जाती थी वहीं दूसरी ओर मानव सब अधिकारों से वंचित एक दास था।

किंतु धीरे धीरे इङ्गलेंड में उदार विचारों का प्रचार हो रहा था, वहां की पार्लियामेंट ने सन् १८०७ में किसी भी बृटिश नागरिक के लिये गुलामों का व्यापार करना गैर कानूनी घोषित कर दिया था। १८८३ ई० में समस्त बृटिश साम्राज्य में दास प्रथा गैर कानूनी घोषित कर दी गई थी। अमेरिका में भी उसका प्रभाव पड़ा। सब सभ्य लोगों की ओर से यह मांग पेश हुई कि दास प्रथा समूल हटा दी जाये। इसी प्रश्न को लेकर सन् १८६० में अमेरिका में एक गृह युद्ध छिड़ गया जिसमें एक ओर तो उत्तरी राज्य थे जो दास प्रथा को सर्वथा बन्द कर देना चाहते थे और दूसरी ओर दक्षिणी राज्य जो दास प्रथा को अपने स्वार्थवश कायम रखना चाहते थे। दक्षिणी राज्यों ने यहां तक धमकी दी कि यदि उनकी बात नहीं मानी गई तो वे संघ राज्य से ही अलग हो जायेंगे। इस समय अमेरिका के प्रेजीडेण्ट अब्राहम लिंकन थे जो एक महान् पुरुष थे। उनका व्यक्तित्व मानवता से व्याप्त था, उन्होंने देखा कि समाज में दास नहीं रह सकते चाहे युद्ध करना पड़े। फलतः १८६० ई० में उत्तरी और दक्षिणी राज्यों में गृह युद्ध हुआ। लिंकन ने उत्तरी राज्यों का,—उदारता और मानवता का नेतृत्व किया। सन् १८६२ में घोषणा की कि दासता नहीं रहेगी—सब दास मुक्त हैं। १८६५ ई० तक युद्ध चलता रहा, लिंकन की विजय हुई, दासता खत्म की गई। अमेरिका के ४० लाख दास मुक्त हुए, उत्तर और दक्षिण राज्य और भी अधिक सुदृढ़ता से एकीकृत हुए।

अमेरिका के प्रभाव में वृद्धि—संयुक्त राज्य अमेरिका ने धीरे धीरे अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करना प्रारम्भ किया। सन् १८६० में कनाडा के ठेठ उत्तर पच्छिम का भाग अलास्का जो रूसी लोगों का उपनिवेश था, रूस राज्य से खरीद लिया गया। अलास्का का महत्व उस समय मालूम नहीं होता था किन्तु द्वितीय महायुद्ध काल में (१९३९–४५) लोगों ने उसके महत्व को महसूस किया। सन् १८९२ प्रशान्त महासागर के महत्वपूर्ण हवाई द्वीप अमेरिकन राज्य में सम्मिलित किये गये। इससे अमेरिका प्रशान्त महासागर की दूसरी महाशक्ति जापान के निकट आया। सन् १८९८ ई० में उपनिवेश सम्बन्धी कुछ प्रश्नों को लेकर स्पेन से युद्ध हुआ, जिसमें अमेरिकन विजय के साथ साथ स्पेन अधिकृत फिलीपाइन द्वीप अमेरिका के हाथ लगे। याद होगा जापान के दक्षिण में स्थित इन फिलीपाइन द्वीपों में १६वीं १७वीं शताब्दी में स्पेनिश लोग जाकर बस गये थे और उसे अपना उपनिवेश बना लिया था—उसी पर अमेरिका का अधिकार हुआ। २०वीं शती के आरम्भ में उस डमरु-मध्य के भूभाग को जो उत्तर और दक्षिण अमेरिका को जोड़ता है, अमेरिका ने अपने अधिकार में लिया और सन् १९०४ में वहां 'पनामा नहर' बनवाना प्रारम्भ किया। इससे अटलांटिक महासागर से प्रशान्त महासागर तक पहुंचने के लिये अब पूरे दक्षिण अमेरिका का चक्कर लगाना आवश्यक नहीं रहा। व्यापारिक एवं सामाजिक दृष्टि से यह एक बहुत महत्वपूर्ण बात थी। २०वीं सदी के प्रारम्भ से ही देश का औद्योगिक विकास तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। इन सब बातों से अमेरिका का प्रभाव बढ़ गया। सन् १९१२ में विलसन अमेरिका के प्रेजीडेण्ट चुने गये; सन् १९१४ में यूरोप में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। अमेरिकन लोग नहीं चाहते थे कि यूरोपीय देशों के झगड़े में किसी प्रकार पड़ा जाय किन्तु जर्मनी के बढ़ते हुए खतरे ने और प्रेजीडेण्ट विलसन की चेतावनी ने अमेरिका को बाध्य किया कि वे इंगलैंड और फ्रांस की रक्षा के लिए अवतरित हों। सन् १९१७ में अमेरिका युद्ध में

कूद पड़ा। तभी से युद्ध ने पलटा खाया और जर्मनी और उसके साथी राष्ट्रों की यथा आस्ट्रिया और टर्की की हार हुई एवं इंगलैंड और फ्रांस की विजय। विलसन एक आदर्शवादी पुरुष थे-दूरदर्शी भी थे। उनको प्रेरणा हुई कि संसार से युद्ध के खतरों को रोकने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना होनी चाहिये। एक जहाज में बैठे बैठे उसकी योजना बनी, और युद्ध की समाप्ति के बाद एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ बना किन्तु खेद कि वही देश जिसके नेता की प्रतिभा से वह संघ खड़ा हुआ था, उसमें शामिल नहीं हुआ। अमेरिका के लोगों ने निर्णय किया कि अमेरिका शेष दुनियां से पृथक रहना ही पसन्द करेगा। फिर भी प्रथम महायुद्ध काल से अमेरिका के इतिहास का एक नया युग प्रारम्भ हुआ। अब अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक शक्तिशाली राष्ट्र माना जाता था और दुनियां की राजनीति में उसका एक महत्वपूर्ण स्थान था। वह देश धनी भी हो गया था और दुनिया के देशों का साहूकार; अब दूसरे देश उसके कर्जदार थे। कठोर नियम बना दिये गये कि विश्व के और किसी देश के लोग (चाहे इंगलैंड, फ्रांस, आयरलैंड इत्यादि कहीं के भी हों) अब सामूहिक रूप से अमेरिका में ज़ाकर नहीं बस सकते थे जैसा कि ये नियम पास होने के पूर्व सम्भव था और अनेक लोग वहां जाकर बस भी जाया करते थे;–आखिर यूरोप के लोगों ने ही तो धीरे धीरे अमेरिका में बसकर अमेरिका को बनाया था। शेष दुनियां से पृथकता की यह नीति चलती रही, साथ ही साथ अमेरिका का व्यापारिक और आर्थिक उन्नति के होते हुए सन् १९३९ में यूरोपीय देशों की गुटबन्दी से दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, फिर जर्मनी के बढ़ते हुए खतरे ने अमेरिका को बाध्य किया कि वे भी युद्ध में सम्मिलित हों। अबकी बार यह खतरा एक विचार धारा का खतरा था, जर्मनी एकतन्त्रवादी तानाशाही का प्रतीक था, अमेरिका जनतन्त्र का पोषक। अन्त में अमेरिका की सहायता से जनतन्त्रवादी इंगलैंड, फ्रांस आदि देशों की विजय हुई और जर्मनी, इटली, जापान की हार। इस युद्ध ने

अमेरिका को दुनिया की सर्वोच्च जनतन्त्रवादी शक्ति के रूप में खड़ा कर दिया।

अमेरिका का जीवन—मानव के उद्भव के बाद हजारों वर्षों तक जो भूखण्ड सभ्य संसार से प्रथम अज्ञात पड़ा रहा वह १८वीं शती में सहसा दुनिया के इतिहास में एक नई चहल पहल के साथ उत्थित हुआ। जहां कोरे बीहड़ जंगल थे, अन्धेरा था, वहां अब भूमि पर गेहूं, मक्का, चावल, कपास, फल फूल लहलहाने लगे; लोहा, कोयला, सोना, चांदी, सीसा–तांबा, जमीन में से अटूट परिणाम में निकाले जाने लगे; जगह जगह जमीन के नीचे तेल की खोज हुई और तेल के कुए बनाये गये। १८वीं १९वीं सदियों में जब यूरोप में वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप अनेक अद्भुत प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार हुआ तो उनका प्रभाव अमेरिका में एक दम फैल गया। सन् १८६५ से १९०० ई० तक रेलों का एक जाल सा देश में फैल गया, सन् १८८१ में सर्वप्रथम वह रेल बनी जो अमेरिका के पूर्वी छोर से ठेठ पश्छिमी छोर तक पहुंची। शुरूआत में यूरोप से जो लोग अमेरिका में बसने आये थे, उसको यूरोप और अमेरिका के बीच अटलान्टिक महासागर पार करने में लगभग दो महीने लग जाते थे किन्तु १९वीं सदी के प्रारम्भ में भाप यन्त्र से चलने वाले जहाजों का आविष्कार हो चुका था। सन् १८३३ तक अटलान्टिक महासागर में चलने वाले प्रायः सभी जहाज पल्लों (Sails) से चलने वाले न होकर भाप के इञ्जिन से चलने वाले हो चुके थे। जहां पहिले इंगलैंड से अमेरिका पहुंचने में आठ सप्ताह तक लग जाते थे वही यात्रा १९वीं सदी के मध्य में तीन सप्ताह में ही हो जाती थी। इस प्रकार अमेरिका का यूरोपीय देशों से खूब सम्पर्क व व्यापार बढ़ता रहा और अनेक लोग यूरोप से, विशेषकर इंगलैंड से, आकर अमेरिका में बसने लगे। १९वीं शताब्दी के मध्य तक उस तमाम भूखंड में जो आज संयुक्त राष्ट्र अमेरिका है यूरोपवासियों के उपनिवेश बस चुके थे। अब सन् १७७६ के १३ राज्यों की जगह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ४८ राज्य

थे और वहां की यूरोपीयन आबादी धीरे धीरे १६वीं शती के प्रारम्भ में एक हजार से भी कम से लेकर, लाखों और फिर करोड़ों तक पहुंच रही थी। आज संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में १५ करोड़ जन हैं। यद्यपि यूरोप के कई भागों के कई भाषा-भाषी लोग संयुक्त राज्य अमरीका में आकर बसे थे किन्तु उनमें अधिकतर संख्या अंग्रेजों की होने की वजह से राष्ट्र-भाषा अंग्रेजी रही, रहन सहन, पहनावा भी अंग्रेजी। धर्म उनका ईसाई ही रहा, किन्तु इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि कोई भी व्यक्ति किसी भी चर्च संघ का सदस्य या अनुयायी हो सकता था, चाहे रोमन कैथोलिक हो चाहे प्रोटेस्टेन्ट। अधिकांश जन प्रोटेस्टेन्ट ही रहे। अनेक बड़े बड़े नगर बस गये थे—न्यूयार्क, शिकागो, केलीफोर्निया, वाशिंगटन आदि जहां आकाश भेदी पचास पचास साठ साठ मंजिलों के मकान बनने लगे थे। प्रत्येक क्षेत्र में यांत्रिक कुशलता (Technology) का अभूतपूर्व विकास हुआ, अमेरिकनों ने कई महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक आविष्कार किए। सन् १६२० से तो अमरीका टेकनोलोजी में यूरोपीय देशों को भी पछाड़ने लगा। आज वहां का सामाजिक जीवन बहुत ही व्यवस्थित है, गांवों का भी, नगरों का भी। सभी चीजें या काम (Services) व्यवस्थित ढंग से, साफ सफाई से, और ईमानदारी से उपलब्ध होती हैं। दैनिक जीवन में किसी को भी कोई परेशानी नहीं होती। राष्ट्रीयता की भावना भी, कि अमरीका तो पृथक एक अमरीकन राष्ट्र है, यूरोप और यूरोपीय जीवन से भिन्न, वहां घर कर गई। यहां तक कि सन् १८२३ में अमरीका के प्रेसीडेण्ट मुनरो ने एक सिद्धान्त की घोषणा की कि कोई भी यूरोपीय देश अमरीका के मामलों में हस्तक्षेप न करें। धीरे धीरे ऐसे भी नियम बना दिये गये कि और अधिक नये लोग अमरीका में आकर न बस सकें।

१६वीं शताब्दी के मध्य से अभूतपूर्व आर्थिक औद्योगिक विकास और उन्नति के साथ साथ ही सांस्कृतिक उन्नति भी होने लगी। जगह जगह सुव्यवस्थित विद्यालय, महाविद्यालय और विश्व-विद्यालय स्थापित हुए, देश में कई प्रसिद्ध वैज्ञानिक, दार्शनिक, लेखक और कवि हुए। वाल्ट

व्हिटमैन (Walt Whitman १८१६-६२) कवि हुए, जिसमें जनतन्त्र और मानव समानता की भावना सुन्दरतम रूप में अभिव्यक्त हुई, जिसने गाया—"A vast similitude interlocks all," एक अद्भुत समानता सब प्राणों को एक दूसरे से संबद्ध किये हुए हैं। लेखक थोरो (१८१७-६२) एवं इमरसन (१८०३-८२) हुए जिन्होंने जीवन की कृत्रिमता को हटा उसमें सारल्य और सुचिता की अवतारणा की; मार्क ट्वेन (Mark Twain—१८३५-१९१०) हुए जिसने अपनी हास्यमयी रचनाओं से मानव के मन में गुदगुदी पैदा की; और आज की लेखिका, नोबुल पुरस्कार विजेत्री पर्ल बक (Pearl Buck) हैं जो साधारण उपेक्षित जन के साधारण से जीवन में भी सौन्दर्य का दर्शन करती हैं और जो मानव मात्र के जीवन में—वह चीन का मानव हो, भारत का मानव हो, कहीं का मानव हो. इसी दुनिया के सुख की उपलब्धि चाहती हैं। दार्शनिक जेम्स (James) और जोहन डीवी हुए; और वे वैज्ञानिक हुए जिनने अणुबम बनाया और जो अणु शक्ति का अध्ययन कर रहे हैं।

वास्तव में एक दृष्टि से अमेरिका एक नया ही देश है, वहां एक नया ही समाज खड़ा हुआ है। वहां पर जो लोग गये उनको यह सुविधा और लाभ प्राप्त था कि उनके साथ जहां पर वे बसे उस विशेष स्थल की अथवा वहां के किसी प्राचीन समाज की कोई परम्परा या लाग-लपेट नहीं थी। अतः वे नये सिरे से, अपनी समझ के अनुसार देखभाल करके, अपनी स्वतन्त्र इच्छा से मनचाहे समाज का निर्माण कर सकते थे। ऐसा अवसर और ऐसी सुविधायें उन लोगों के हाथ में थी। इनका बहुत कुछ उपयोग इन्होंने किया भी। एक शक्तिशाली, औद्योगिक सुव्यवस्थित राष्ट्र का उन्होंने निर्माण किया। किन्तु फिर भी ऐसी परिस्थितियों और सुविधाओं में (क्योंकि उन्हें तो शुरू से ही एक नई चीज बनानी थी और जैसा वे चाहते बना सकते थे) जैसा आदर्श सामाजिक संगठन वे बना सकते थे वैसा उन्होंने नहीं किया। बहुत कुछ

परिस्थितियों के ही भरोसे वे चलते रहे और एक ऐसे समाज का संगठन होगया जहां रुपये का अधिक आदर था और कला व मानवता का कम। किन्तु फिर भी अमेरिका के जन समाज में वहां के सामाजिक संगठन में कुछ दो-तीन अच्छी बातें बुनियादी तौर से स्थापित होगई। वे बातें थीं–समानता, व्यक्ति स्वातंत्र्य और जनतन्त्र (Equality, Individual Freedom, Democracy)। अमेरिका में कानून की दृष्टि में सब समान हैं, एक-से-राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं, यह भावना नहीं कि अमुक तो उच्च वर्ग का प्राणी है अमुक निम्न वर्ग का; कोई भी जन ऐसा नहीं जिसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हों; कोई भी जन यदि उसमें योग्यता है तो राज्य के उच्च से उच्च पद पर पहुंच सकता है। समानता के सिद्धान्त का हनन वहां दो बातों में होता है। पहिली यह कि अमेरिका के भूतपूर्व गुलाम नीग्रो को एवं वहां के आदि निवासी रेड इंडियन लोगों को, चाहे वे अमेरिका राज्य के स्वतन्त्र नागरिक हैं तथापि व्यवहार में उनको निम्न प्राणी समझा जाता है, उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है; किन्तु धीरे धीरे ज्यों ज्यों उदार विचारों का प्रसार होरहा है, ऐसी बातें कम होरही हैं। नीग्रो लोग सभ्य बनते जारहे हैं, उनके विद्यालय, विश्वविद्यालय स्थापित होरहे हैं, राज्य में कई बड़े बड़े पदों पर वे नियुक्त हैं,–वे स्वयं अब खड़े होने लगे हैं। उनका प्राचीन असभ्य स्थिति का पेगन धर्म छूटता जारहा है और वे ईसाई या स्वतन्त्र धर्मी बनरहे हैं। दूसरी बात जिसमें समानता देखने को नहीं मिलती वह है आर्थिक क्षेत्र। कोई करोड़पति है, कोई केवल पेट मात्र भरता है। इसका मुख्य कारण यह है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य के दूसरे सिद्धान्तानुसार जहां व्यक्ति के धार्मिक, आध्यात्मिक विचारों और विश्वासों में कोई भी बाहरी हस्तक्षेप या बल प्रयोग सहन नहीं किया जाता वहां व्यक्ति के, या व्यक्तियों की समितियों के व्यापारिक, औद्योगिक कामों में भी शासन का (सरकार का) हस्तक्षेप सहन नहीं किया जाता। सब को समानाधिकार प्राप्त हैं, शिक्षा दीक्षा की प्रायः समान सुविधायें। यदि

कोई व्यक्ति अपनी विशेष योग्यता से, सूझ से, परिश्रम और अध्यवसाय से दूसरों की अपेक्षा अत्यधिक धन कमा लेता है, और फिर उस धन को अपने ही व्यक्तिगत उद्योगों के विकास में खर्च करता है और इस प्रकार अपना व्यवसाय बढ़ाता है, तो इसमें वहां का समाज और शासन कोई हस्तक्षेप नहीं करसकता। अमेरिका में आज के अनेक बड़े उद्योग-पति, व्यवसायी, यहां तक कि संसार में सर्वाधिक धनी अमेरिका के रोकफेलर एवं हेनरीफोर्ड भी पहले साधारण स्थिति के ही आदमी थे। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद (व्यक्ति स्वातंत्र्य) के सिद्धान्त ने दुनिया में पूंजीवाद को जन्म दिया और पूंजीवाद से अनेक अनिष्टकर परिणाम निकले, जिनसे मुक्त होने के लिये राजकीय समाजवाद, साम्यवाद एवं राज्य द्वारा नियंत्रित पूंजीवाद आदि आर्थिक संगठनों का कहीं कहीं प्रचलन हुआ। किन्तु अमेरिका में इनका प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर रहा। सन् १९२९–३२ में अत्यधिक सस्ती के कारण एक संसारव्यापी अर्थ संकट आया था जिसके असर से अमेरिका भी मुक्त नहीं था। ठीक है उस समय अमेरिका के तत्कालीन प्रेजीडेन्ट रुजवेल्ट ने अपनी "न्यूडील" (New Deal) आर्थिक योजना द्वारा व्यक्तिगत आर्थिक क्षेत्र में राज्य की दखलअन्दाजी शुरू की थी और कहीं कहीं राज्य की ओर से भी नये उद्योग शुरू किये गये थे, किन्तु उपरोक्त आर्थिक संकट के गुजर जाने के बाद राज की दखलन्दाजी फिर खत्म होगई। वस्तुतः जैसे पहिले था, वैसे आज भी अमेरिका का प्रायः समस्त आर्थिक संगठन व्यक्ति स्वातंत्र्य के ही सिद्धान्त पर स्थित है, किंतु इस संगठन में यह अवश्य ध्यान रक्खा गया है कि समाज में इससे किसी भी जन को अनुचित हानि नहीं पहुंचे। इसकी कल्पना हम इस प्रकार कर सकते हैं; मानों उद्योग व्यवसाय का काम एक खेल (Game) है; इस खेल को सुचारु रूप से चलाने के लिये सब लोगों की प्रतिनिधि सरकार द्वारा कुछ नियम निर्धारित करलिये गये हैं, जैसे मजदूर नियमित घण्टों के अतिरिक्त काम नहीं करेंगे, अमुक मजदूरी मिलेगी, इत्यादि। इन नियमों के अनुसार खेल के

दल यथा एक ओर तो उद्योगपति, व्यवसायी आदि, दूसरी ओर मजदूर, उपभोक्ता आदि अपना अपना काम करते जायें। इन नियमों का यह अर्थ नहीं कि सरकार ने उद्योग या व्यवसायों की व्यवस्था अपने हाथ में लेली हो;—नहीं, व्यक्ति स्वातंत्र्य के आधार पर ये चलते रहते हैं केवल इनसे संबंधित व्यक्तियों को खेल के नियम पालन करने पड़ते हैं। किसी भी व्यक्ति या दल द्वारा नियम तोड़े जाने पर फैसला करने को न्यायालय हैं, सरकार उनमें दखल नहीं कर सकती। अमेरिका ने इस रास्ते पर चलकर अपनी आशातीत अभूतपूर्व उन्नति की है, वह बड़ा और समृद्ध बना है, अतः अमेरिकन लोगों के मानस में अब यह बात पक्की तरह जम गई है कि प्रगति और उन्नति का रास्ता स्वतंत्र उद्योग-व्यवसाय ही है, जिस प्रकार रूस वालों के मानस में यह बात जमगई है कि प्रगति और उन्नति का रास्ता केवल साम्यवाद है। यही विश्वास भेद दोनों देशों में द्वन्द का कारण भी है। समानता और व्यक्ति स्वातंत्र्य के आधार पर ही अमेरिका का जनतन्त्र में दृढ़ विश्वास बना हुआ है; जहां जनतन्त्र नहीं वहां व्यक्ति स्वातंत्र्य नहीं, वहां चेतन व्यक्तित्त्व का हनन होता है, अतः जनतन्त्र आवश्यक है। व्यक्ति स्वातंत्र्य के आधार पर अमेरिका का दार्शनिक दृष्टिकोण भी विशेषतया अध्यात्मवादी या आदर्शवादी (Idealist) है। उन लोगों का विश्वास भी, जो दुनिया और जीवन के विषय में कुछ भी सोचते विचारते हैं, अध्यात्मवाद (Idealism) में ही है। अध्यात्मवाद इस अर्थ में कि इस सृष्टि का अंतिम सत्य, इसका आदि कारण कोई चेतनशक्ति है न कि कोई अचेतन पदार्थ। किन्तु इस दार्शनिक विचारधारा का उन पर यह असर नहीं पड़ता कि वे किन्हीं स्वप्नमय आदर्शों में विचरण करने लग जायें—वे पक्के व्यवहारवादी होते हैं। इसी दुनिया में, इसी जीवन में, क्या है, क्या उपलभ्य है, क्या जीवन में हो सकता है और बन सकता है, यही वे देखते हैं। वे व्यवहारिक आदर्शवादी (Pragmatic Idealists) हैं।

कनाडा—जिस प्रकार १६वीं १७वीं शताब्दियों में दक्षिण अमेरिका एवं अमेरिका का वह भाग जो आधुनिक संयुक्त राज्य अमेरिका है— इसमें यूरोपवासी लोग आकर अपने उपनिवेश बसाने लगे, उसी प्रकार वे लोग उत्तरी अमेरिका के उत्तरी भाग में जो अर कनाडा कहलाता है, बसने लगे। विशेषतया अंग्रेज और फ्रांसीसी लोग कनाडा में बसे। प्रारम्भ में तो कनाडा फ्रांस के अधिकार में रहा, किन्तु फ्रांस और इङ्गलैंड के सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६–१७६३) के फलस्वरूप फ्रांस को कनाडा इङ्गलैंड के हाथ सुपुर्द करना पड़ा। कनाडा के उपनिवेश इङ्गलैंड के आधीन रहे। कई बार यह भी प्रयत्न हुआ कि कनाड़ा इङ्गलैंड से सर्वथा मुक्त हो जाय, कई बार यह भी प्रयत्न हुआ कि संयुक्त राज्य अमेरिका में ही कनाड़ा को मिला लिया जाये, किन्तु अंत में १८६७ में ग्रेट ब्रिटेन ने कनाड़ा को एक औपनिवेशिक राज्य घोषित कर दिया, और तब से आज तक कनाड़ा की यही स्थिति है;—यूरोप से आकर बसे हुए लोगों का वहां स्वशासन है, इङ्गलैंड राज्य का (ब्रिटिश राज्य का) प्रतिनिधि स्वरूप केवल एक गवर्नर जनरल वहां रहता है।

कनाड़ा के आदि निवासी रेड-इन्डियन जातियों के लोग हैं; संख्या में अपेक्षाकृत वे बहुत कम हैं। यूरोपीयन लोगों ने वहां पर कृषि और औद्योगिक क्षेत्र में बहुत उन्नति की है। कनाड़ा गेहूं का भण्डार कहलाता है और विशेषतया मोटरकार निर्माण के अनेक कारखाने वहां हैं। एक पार्लियामेण्ट और मन्त्री मण्डल द्वारा वहां का शासन होता है–देश में दो भाषायें प्रमुख हैं अंग्रेजी एवं फ्रांसीसी। अंग्रेज लोग प्रायः प्रोटेस्टेन्ट हैं और फ्रांसीसी कैथोलिक। द्वितीय महायुद्ध में कनाड़ा ने भी मित्र राष्ट्रों की अमेरिका के साथ साथ काफी सहायता की और ऐसा प्रतीत होता है कि इङ्गलैंड, कनाड़ा, और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका इन तीनों देशों की विचारधारा एक है, भावना एक है।

दक्षिण अमेरिका—में प्रायः सब जगह स्पेनिश लोगों के ही उपनिवेश बसे। नये देशों की खोज की दौड़ में स्पेनिश लोग ही सबसे

आगे रहे थे और कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज के बाद, सर्व प्रथम स्पेनिश लोग ही इस नई दुनिया में आकर बसे थे। ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि किस प्रकार एक स्पेनिश नाविक कोर्टेज ने मेक्सिको के आंतरिक भागों का पता लगाया और वहां के सभ्य ऐज्टेक लोगों के राजा को परास्त कर वहां स्पेनिश राज्य कायम किया और फिर वहां से वह मध्य अमेरिका की ओर बढ़ा। यह भी उल्लेख किया जा चुका है कि किस प्रकार एक दूसरे स्पेनिश नाविक पिजारो ने सन् १५३२ ई० में दक्षिण अमेरिका का वह भूखण्ड ढूंढा जो आधुनिक पीरु है, और वहां पर स्पेनिश बस्तियां बसाई। इसी प्रकार पिजारो का एक साथी अलमेग्रो दक्षिण अमेरिका के प्रदेश चिली पहुंचा; १५३६ ई० में एक दूसरा स्पेनिश नाविक कोल्मबिया नामक प्रदेश में पहुंचा और वहां बगोटा नगर की जो आज कोल्मबिया की राजधानी है, स्थापना की। १५८० ई० में दक्षिण अमेरिका के एक दूसरे प्रदेश अर्जेनटाइना में ब्यूनिस-आर्यस नगर की स्थापना हुई। १६वीं शती के अन्त तक दक्षिण अमेरिका में स्पेनिश लोग प्रायः दो सौ छोटे मोटे नगर बसा चुके थे। क्या क्या तकलीफें इन लोगों को यह नया महाद्वीप बसाने में पड़ी, किस प्रकार वहां के आदि निवासी रेड-इण्डियन लोगों से इनको मुकाबला करना पड़ा, इत्यादि बातें उत्तर अमेरिका का विवरण करते समय लिख आये हैं। कई बार वहां के आदि-निवासियों ने इन नव-आगन्तुक स्पेनिश लोगों के विरुद्ध विद्रोह भी किये, किन्तु वे सब दबा दिये गए। उत्तर अमेरिका में तो यह प्रयत्न भी किया गया था कि रेड-इण्डियन लोगों की नस्ल को ही खत्म कर दिया जाये, किन्तु यह संभव नहीं हो सका। दक्षिण अमेरिका में धीरे धीरे अनेक स्पेनिश लोगों के आकर बस जाने से एक दृष्टि से यह देश दूसरा विशाल स्पेनिश प्रदेश ही बन गया,—वही स्पेनिश भाषा, वही स्पेनिश स्थापत्य-कला, वही स्पेनिश शासन व्यवस्था, और वही स्पेनिश रोमन कैथोलिक धर्म। जो स्पेनिश लोग दक्षिण अमेरिका में आकर बसते थे वे स्पेन के सम्राट से एक

आज्ञा-पत्र लेकर ही अमेरिका आते थे, इसका अर्थ था कि जो स्पेनिश लोग अमेरिका में आकर बसते थे वे स्पेन के सम्राट की प्रजा थे। अतः उन पर शासन कायम रखने के लिए स्पेन का सम्राट एक वायसराय नियुक्त करके अमेरिका के उपनिवेशों में भेजा करता था। धीरे धीरे वे स्पेनवासी जो अमेरिका जाकर बस गये थे और अब अमेरिका ही जिनका घर होगया था,—उनकी दो तीन पीढियों बाद, उनमें और स्पेन में बसने वाले स्पेनिश लोगों में कुछ अन्तर पड़ गया था। किन्तु फिर भी स्पेन के सम्राट का उन उपनिवेशों पर पूरा आधिपत्य था और उनके व्यापार पर भी पूरा नियन्त्रण। मुख्य व्यापार यही था कि पीरु और मैक्सिको की खानों से सोना, चांदी स्पेन जाता था और जो खदानों के प्रदेश नहीं थे, वहां धीरे धीरे कृषि का विकास किया जा रहा था, और वहां से खाद्यान्न का निर्यात किया जाता था।

जब कि स्पेनवासी मैक्सिको, पीरु, अर्जेन्टाइना, चिली इत्यादी प्रदेशों का विकास कर रहे थे उस समय सन् १५०० ई० में एक पुर्तगीज नाविक ने ब्राजिल की खोज की। उसी प्रदेश में धीरे धीरे पुर्तगीज लोग आकर बसे; धीरे धीरे उन्होंने अपने कस्बे बसाये। १५६७ ई० में उन्होंने ब्राजिल की राजधानी राइडेजंनेरो की स्थापना की। ब्राजिल में गन्ने की खूब खेती होती थी, उसी काम में पुर्तगीज लगे, मजदूरी का काम करने के लिये अफ्रीका के नीग्रो गुलाम खरीद लिये जाते थे। रेड-इन्डियन लोगों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, वे मजदूरी नहीं कर सकते थे, वे धीरे धीरे कम होते जा रहे थे। बाद में वहां सोने और हीरे की खानों का भी पता लगा और उनके व्यापार से पुर्तगाल एक बहुत धनी देश बन गया। ब्राजिल एक विशाल प्रदेश है, संयुक्त राज्य अमरीका से भी बड़ा, किन्तु अभी तक वह बहुत हद तक अविकसित और अनन्वेषित पड़ा है। दक्षिण अमेरिका के उपनिवेशों में उपनिवेश वासियों की संख्या धीरे धीरे बढ़ती हुई जा रही थी। यूरोपवासी जहां १६०० ई० में सारे उपनिवेशों में लगभग ५० लाख होंगे, सन् १८०० ई० तक

उनकी संख्या लगभग डेढ़ करोड़ हो गई। ये लोग स्पेन के सम्राटों द्वारा लगाये गये करों से असन्तुष्ट होते जा रहे थे, स्पेन से जो वायसराय और वायसराय के साथ अनेक अन्य शासक और कर्मचारी लोग आते थे, उनसे भी असन्तुष्ट होते हुए जा रहे थे। स्वतन्त्रता के विचार और भावनायें धीरे धीरे उनमें फैल रही थीं; इन विचारों की हवा उत्तरी अमेरिका से आ रही थी जहां के उपनिवेशों ने ब्रिटेन के खिलाफ स्वतन्त्रता का युद्ध जीता था; और फिर ऐसे ही विचार फ्रांस की राज्य क्रांति से उनके पास पहुंचते रहते थे, यद्यपि शासक इस बात का प्रयत्न करते रहते थे कि स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के विचार उनके पास न पहुंचे। उत्तर अमेरिका की तरह दक्षिण अमेरिका में भी उपनिवेश वासियों ने स्वतन्त्रता संग्राम आरम्भ किया। यह खटपट प्राय: १९ वीं शती के आरम्भ से होने लगी। लगभग २० वर्ष तक किसी रूप में यह युद्ध चलता रहा और अन्त में सन् १८२४ ई० में दक्षिण अमेरिका के उपनिवेश स्पेनिश शासन से मुक्त हुए। अमेरिका में तीन सौ वर्ष पुराना स्पेनिश साम्राज्य समाप्त हुआ। किन्तु साथ ही साथ एक बात हुई;—स्पेनिश शासन के अधिकार में तो सब उपनिवेश एक ही राज्य के रूप में संगठित थे किन्तु वह शासन हटने के बाद उस विशाल राज्य में से कई भिन्न भिन्न स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए, जैसे मैक्सिको, पीरू, चिली, अर्जेन्टाइना, यूरेग्वे, कोलम्बिया, बोलिविया, इत्यादि। पुर्तगीज उपनिवेश ब्राजिल भी लगभग इसी समय स्वतन्त्र हुआ। इन सब नवोत्पन्न राज्यों में अध्यक्षात्मक जनतन्त्र शासन (Republic) कायम हुए-जो अब तक चले आ रहे हैं।

छोटे बड़े मिलाकर ये कुल १२ राज्य हैं जिनमें ब्राजिल सबसे बड़ा है, उससे छोटा अर्जेन्टाइना जो क्षेत्रफल में ग्रेट ब्रिटेन से लगभग १२ गुना बड़ा है। सबसे छोटा राज्य हेटी है, जो बेलजियम जितना बड़ा भी नहीं है। अर्जेन्टाइना, चिली, यूरुग्वे, कोस्टेरिका की आबादी प्राय: यूरोपीय वंशजों की है (अधिकतर स्पेनिश) कुछ राज्यों में जैसे

मैक्सिको, पीरू, बोलविया, पराग्वे, ग्वेटमाला में अधिक संख्या वहां के आदि निवासी रेड-इंडियन्स की है, कुछ राज्यों में जैसे कोलम्बिया में यूरोपीयन और रेड-इंडियन लोगों की वर्णसंकर, मिली जुली आबादी है। ब्राजिल में यूरोप के प्रायः अनेक देशों के वासी रहते हैं–जैसे अंग्रेज, फ्रांसीसी, पुर्तगीज, इटालियन, जर्मन, स्केन्डिनेवियन इत्यादि एवं नीग्रो। इन सब राज्यों में अर्जेन्टाइना ही विशेष विकसित और समृद्ध है। वैसे सभी राज्यों में अभी विकास होने की बहुत गुंजाइश है। यद्यपि १९वीं सदी के अन्त में वहां रेल, तार, डाक स्थापित होने लगे थे, किन्तु वे बहुधा समुद्रतटीय भागों तक सीमित हैं, देश के दूर आंतरिक भाग में अभी पहुंचने बाकी हैं। इनमें से कोई भी देश अभी तक विकास और उन्नति की उस स्थिति तक बिल्कुल नहीं पहुंच पाया है जहां तक कनाड़ा पहुंच चुका है, संयुक्त राज्य अमेरिका तो दूर रहा। दक्षिण अमेरिका के ये सब राज्य लेटिन अमेरिका कहलाते हैं, क्योंकि उनमें लेटिन अर्थात् रोमन कैथोलिक धर्म विशेप प्रचलित है; प्रायः समस्त देशों की प्रचलित भाषा स्पेनिश है। ये देश अभीतक विशेषतः खेतीहर हैं–भेड़ और पशु-पालन भी लोग करते हैं, अतः इनका आर्थिक जीवन तेल, काफी, शक्कर, मांस, अन्न, ऊन, चमड़ा इत्यादि के निर्यात व्यापार पर आधारित है। लोहा, कोयला, धातु की खदानें भी इन देशों में बहुत हैं, अतः बहुत सी आबादी खदानों के काम में भी लगी हुई हैं। अभी तक भूमि के बड़े बड़े भागों के मालिक जमींदार हैं, साधारण जनता यथा–किसान, मजदूर, भेड़ पालने वाले इत्यादि गरीब एवं अरक्षित हैं–जिनमें इन देशों के आदि निवासी और यूरोपीयन (स्पेनिश) सभी हैं। इन देशों में किन्हीं किन्हीं में समाजवादी हलचल भी चलती रहती है किन्तु आर्थिक संगठन अभी प्रायः व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार पर ही है। प्रथम महायुद्ध तक तो इन देशों का संसार की राजनीति में कोई विशेष महत्व नहीं हो पाया था। द्वितीय महायुद्ध में यद्यपि ये लड़ाई के मैदान में नहीं आये किन्तु इन सबकी सहानुभूति (संयुक्त राज्य) अमेरिका के

साथ ही रही। आज सभी देश राष्ट्र संघ के सदस्य हैं एवं राष्ट्र संघ के मामलों में अधिक सक्रिय भाग लेने लगे हैं।

अफ्रीका—सन् १८५० ई० तक मिश्र और कुछ तटीय प्रदेशों को छोड़कर समस्त अफ्रीका दुनिया में अज्ञात था। तब तक यह अन्धेरे में पड़ा था। यहां के तटीय प्रदेशों से निःसंदेह १७वीं शती से ही डच, स्पेनिश नाविक काले हब्शी लोगों को पकड़ पकड़ कर ले जाते थे, और उनको गुलाम की हैसियत से इङ्गलैंड, अमेरिका में बेच देते थे। किन्तु इस सम्पर्क को छोड़कर अफ्रीका की और कोई भी बात शेष दुनिया को मालूम नहीं थी—अफ्रीका का कुछ भी ज्ञान किसी को नहीं था। कई साहसी यात्री अफ्रीका के बीच तक यात्रा कर आये थे और उन्होंने वहां के अद्भुत अद्भुत विवरण प्रकाशित किये थे। इन्हीं से प्रेरित होकर यूरोपीय देशों के लोग अफ्रीका में १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में घुसने लगे। अफ्रीका एक बड़ा महाद्वीप है। उसके भिन्न भिन्न भागों में सैंकड़ों समूहगत जातियों के काले असभ्य हब्शी लोग, पिग्मी लोग इत्यादि बसे हुए थे। अनेक भिन्न भिन्न भाषायें ये बोलते थे। जैसा आस्ट्रेलिया के विवरण में कह आये हैं वैसे ही ये लोग प्रायः अर्ध नग्न रहते थे और शिकार करके अपना पेट भरते थे। कहीं कहीं ऐसी भी जातियां थीं जो मनुष्य को मारकर ही खाती थीं। अजीब देवी-वेवताओं की पूजा करते थे, जादू टोना में इनका विश्वास था। ये किसी भी प्रकार का लिखना पढ़ना नहीं जानते थे;—लिखना पढ़ना भी कुछ होता है, यह भी ज्ञान इन्हें नहीं था। या तो ये लोग जंगलों, गुहाओं में रहते थे, या कहीं कहीं गांव भी बसे हुए थे—गांवों में सिर्फ झोंपड़ियां होती थीं।

ऐसे विशाल अज्ञात महाद्वीप में यूरोपीयन लोगों ने १८५० में आना शुरू किया और भिन्न भिन्न भागों में अपना अधिकार जमाना शुरू किया। केवल ५० वर्षों में सारे महाद्वीप की भौगोलिक बातों का पता लगा लिया गया और सन् १९०० ई० तक यह सारा का सारा देश यूरोप के भिन्न भिन्न देशों के अधिकार में आ गया। यूरोपीय जातियों

में इस देश के बंटवारे में अनेक झगड़े हुए—कई युद्ध भी हुए जो सब बेईमानी और दगाबाजी के आधार पर लड़े गये, केवल इसी उद्देश्य से कि अधिकाधिक भूमि के प्रत्येक देश अपने अधिकार में कर ले। पच्छिमी किनारे पर लाइबेरिया एक छोटे से प्रदेश को छोड़कर जहां मुक्त हब्शी लोग बस गये थे; उत्तर में एक छोटे से प्रदेश मोरक्को को छोड़कर जहां एक अरबी मुसलमान सुल्तान का राज्य रहा और पूर्व में अबीसीनिया प्रदेश को छोड़कर जहां का राज्य वहीं के आदि निवासी जाति का है, किन्तु जो पुराने जमाने से ही ईसाई होगया था;—इन तीन प्रान्तों को को छोड़कर सारा अफ्रीका यूरोपीयन लोगों के आधीन होगया। अब भी अफ्रीका में जनसंख्या की दृष्टि से वहां के आदिनिवासी यूरोपीयन लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। आजकल वहां के आदि निवासी खेतों में, खदानों में मजदूरी का काम करते हैं। धीरे धीरे अनेक उनमें से ईसाई बन गये हैं, उनमें धीरे धीरे सभ्यता और शिक्षा का प्रचार हो रहा है और यह भावना पैदा होरही है कि यूरोपीयन जातियों का शासन उन पर से हटे।

प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) के पहिले दुनिया पर एक दृष्टि

यूरोप:—१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप की दुनिया में एक नई प्रकार की चीज पैदा होगई थी; वह थी साम्राज्यवाद। यूरोप में यांत्रिक क्रान्ति के फलस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन के ढंग में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुका था, और मशीन की सहायता से एक मनुष्य एक ही दिन में इतना कपड़ा या इतनी कोई अन्य आवश्यक वस्तु पैदा कर सकता था जितना यांत्रिक क्रान्ति के पूर्व सौ आदमी भी नहीं कर सकते थे अतः उन देशों में जिनमें यांत्रिक उद्योगों का विकास हुआ, वस्तुओं का खूब उत्पादन होता था। इन बड़े बड़े उद्योगों के मालिक कुछ थोड़े से ही व्यक्ति हुआ करते थे जिनके पास लाखों करोड़ों की सम्पत्ति

एकत्रित हो गई थी। इन उद्योगों में हर प्रकार की चीजें पैदा होती थीं जैसे कपड़े के सिवाय रेलगाड़ियां, एंजिन, मोटर, रेल की लाइनें, बाइसिकल, हर प्रकार के औजार, लोहे की हर प्रकार की वस्तुयें—छोटी से लेकर बड़ी तक—दुनियां में बिरली ही ऐसी कोई चीज हो जो इनमें पैदा नहीं होती हो। अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि कारखानों के मालिकों का कितना जबरदस्त प्रभुत्व समाज के आर्थिक जीवन पर था। जब बेशुमार चीजें पैदा हो रही थीं उनको खरीदने के लिये भी तो कोई चाहिये था। विशाल एशिया और अफ्रीका की जनता पड़ी थी जो उन चीजों को खरीदती। एशिया एवं अफ्रीका में अपनी बढ़ती हुई चीजों के लिये स्थाई बाजार मिलें यही यूरोप के औद्योगिक देशों की कोशिश थी। उद्योग की दृष्टि से इस समय यूरोप में तीन ही प्रधान देश थे यथा इङ्गलेंड, फ्रांस व जर्मनी, जिनमें पुराने जमाने से परस्पर विरोध केवल इसी बात पर चला आता था कि यूरोप में अपनी अपनी शक्ति बढ़ाने की दौड़ में कोई एक दूसरे से आगे न निकल जाए। १९वीं शती में इङ्गलेंड ने अमेरिका, अफ्रीका और एशिया में अनेक उपनिवेश और राज्य स्थापित कर लिये थे, वह मानो तमाम दुनिया का साहूकार हो। इङ्गलेंड की आकांक्षा यहीं समाप्त नहीं हो चुकी थी, वह चाहता था कि और भी राज्य और दुनिया के देश उसके आधीन हों। यूरोप के दूसरे देश इसलिये इङ्गलेंड से द्वेष रखने लग गये थे। रूस का विस्तार पच्छिम में बाल्टिक समुद्र से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक हो चुका था, उसकी सीमायें भारत, चीन, ईरान से लगती थीं—इङ्गलेंड को यह खतरा रहता था कि कहीं रूस भारत पर आक्रमण न कर दे। रूस की पूर्व में बढ़ती हुई शक्ति की टक्कर १९०४–५ में जापान से हुई, उसमें रूस की पराजय हुई; फलतः रूस मंचूरिया की ओर आगे नहीं बढ़ सका किन्तु भारत पर उसकी तलवार लटकती ही रही।

फ्रांस को भी अपने साम्राज्यवादी विस्तार का अवसर मिला था, उसके भी कई उपनिवेश और राज्य अफ्रीका और एशिया में स्थापित हो चुके थे।

इस दौड़ में यूरोप की तीसरी महान् शक्ति जर्मनी पीछे रह गई। एक तो जर्मनी का एकीकरण और उत्थान ही देर से हुआ, यथा १८७० ई० में, और तभी वहां के मंत्री बिसमार्क की प्रबल राष्ट्रीय उद्भावनाओं से जर्मनी तरक्की करने लगा। थोड़े से वर्षों में उसका उद्योग, उसका जीवन, उसकी सैन्य शक्ति इतनी पूर्ण कुशल ढङ्ग से व्यवस्थित और संगठित हो गई कि दुनिया के लिये वह एक चमत्कारिक वस्तु थी। अब जर्मनी, जहां के यांत्रिक उद्योग विकसित थे, जहां की सेना मशीनों द्वारा पैदा किये गये आधुनिक अस्त्र शस्त्र जैसे राइफल, पिस्तौल, बम, डिनेमाइट, मशीन गन इत्यादि से सुसज्जित थी,—कब पीछे रह सकता था। उसके दिल में यह खयाल पैदा हो चुका था कि जर्मन जाति उच्च जाति है और दुनिया में उसका भी साम्राज्य, और उसके भी माल के लिये बाजार होना चाहिए। अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिम में एवं पूर्व तट पर कुछ प्रदेश उसके हाथ आ गये थे यथा, १८८४ ई० में टोगो, केमरून एवं जर्मन दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका किन्तु उसके लिये वे बहुत छोटे थे;—बाकी दुनिया में और कहीं उसके लिए जगह नहीं छूटी थी।

वास्तव में १९वीं २०वीं शतियों में पच्छिमी यूरोप के लोगों में यथा अंग्रेज, फ्रांसीसी और जर्मन लोगों में यह भावना पैदा हो गई थी कि मानों ये गौर वर्ण की जाति के लोग शेष समस्त दुनिया में राज्य करने के लिये ही, और काले लोगों को सभ्य बनाने के लिये ही पैदा हुए हैं। उपरोक्त आर्थिक शोषण के अतिरिक्त साम्राज्यवाद की यह एक दूसरी विशेषता थी। इनके साम्राज्यों का पंजा कहां तक फैल चुका था यह ऊपर वर्णन किया ही जा चुका है।

संयुक्त राज्य अमेरिका भी काफी उन्नति कर चुका था और काफी शक्तिशाली हो गया था किन्तु उसका क्षेत्र अभी तक अपनी सीमा तक ही महदूद था। दक्षिण अमेरिका के जनतन्त्र राज्यों ने मानों अभी जीवन प्रारम्भ ही किया था, वे धीरे धीरे उभर रहे थे। ऐसी स्थिति

में वे अभी तक नहीं आ पाये थे कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय हलचल में महत्वपूर्ण क्रियात्मक खटपटी पैदा कर सकते।

"पूर्वी समस्या"—यह तो हाल पच्छिमी यूरोप का था—यथा साम्राज्य विस्तार के लिये परस्पर प्रतिस्पर्धा और उस प्रतिस्पर्धा में सफल होने के लिये एवं एक दूसरे को दबाने के लिये तीव्र गति से युद्ध के लिये तैयारियां। पूर्वीय यूरोप में एक दूसरी ही हालत थी—एक दूसरी ही समस्या। १५वीं शताब्दी से समस्त बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्की साम्राज्य स्थापित था। तुर्की साम्राज्य तीन महाद्वीपों को मिला था—यूरोप, एशिया और अफ्रीका। यदि तुर्क लोगों में नव जागृति पैदा हो जाती, पच्छिम यूरोप से सम्पर्क रखकर वे भी ज्ञान-विज्ञान और व्यापार की प्रगति से जानकारी रखते और स्वयं प्रयत्नशील रहते तो उनके लिये एक बहुत जबरदस्त अवसर था कि उनका टर्की एक शक्तिशाली और उन्नत राज्य बन जाता। किन्तु इस बड़े साम्राज्य में सुल्तान अपने मध्ययुगीय अन्धे रास्तों पर चलते रहे, अपने मजहबी रस्म रिवाजों में फंसे रहे, अपनी शान शौकत, आराम-ऐश में ही दिन बिताते रहे। साथ ही साथ फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद बाल्कन प्रायद्वीप के ईसाई देशों में यथा यूनान, रूमानिया, सरविया, बलगेरिया, मोटीनिगरो इत्यादि में राष्ट्रीय भावना की लहर पैदा हो चुकी थी और वे तुर्की उस्मानी साम्राज्य से पृथक हो स्वतन्त्र बनना चाहते थे। अतः उन्होंने टर्की के विरुद्ध वि ोह प्रारम्भ कर दिये थे। इन विद्रोहों का जोर १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खूब बढ़ा। इसी समय टर्की के ऊपर एक दूसरी जबरदस्त आफत मंडरा रही थी। वह था रूस का फैलता हुआ पंजा। रूस के जार की नजर टर्की की राजधानी कुस्तुनतुनियां पर थी। रूस समझता था कि यदि कुस्तुनतुनियां उसके हाथ आ गया, तो उसका काले सागर पर अधिकार हो जायगा और वह अपनी सामुद्रिक शक्ति बढ़ा सकेगा। इसलिये रूस ने कई बार टर्की पर हमला किया। एक बात मजे की देखिये। तुर्क लोग ईसाई प्रजा पर घोर अत्याचार किया

करते थे इससे यूरोप के सभी ईसाई देश इङ्गलैंड, फ्रांस और आस्ट्रिया भी उससे नाराज हो गये। किन्तु रूस ने जब टर्की पर हमला किया तो इङ्गलैंड और आस्ट्रिया रूस के खिलाफ टर्की की मदद करने के लिये खड़े हो गये। इसका केवल यही एक उद्देश्य था कि कहीं रूस की शक्ति बढ़ न जाए। १८५४ ई० में रूस ने टर्की पर चढ़ाई की, इङ्गलैंड की फौजें तुरन्त टर्की की मदद करने के लिये आई और रूस को काले सागर के उत्तर में क्रीमिया प्रान्त में रोक दिया; इससे टर्की का बचाव हो गया। यह क्रीमिया का युद्ध था जहां सबसे पहिले शिक्षित मध्यवर्ग की महिला इङ्गलैंड की फ्लोरेंस नाइटिंगेल जख्मी पीड़ितों की सहायता करने के लिए उपचारिका (Nurse) बनकर गई थी, इसी एक बात ने पश्चिम के सामाजिक जीवन में एक क्रान्ति पैदा कर दी। वस्तुतः स्त्रियों की स्वतन्त्रता और उन्नति में यह एक महत्वपूर्ण कदम था।

किन्तु रूस अपनी टकटकी लगाए हुए था और फिर १८७७ ई० में उसने टर्की पर हमला कर दिया और उसको हरा दिया। किन्तु फिर यूरोप की दूसरी शक्तियां इसी उद्देश्य एवं द्वेष भाव से कि कहीं कोई देश अपेक्षाकृत आगे नहीं बढ़ जाये, बीच बचाव में पड़ीं। १८७८ ई० में बर्लिन में इन शक्तियों का टर्की के प्रश्न को लेकर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, जिसमें यूरोप के तत्कालीन बड़े बड़े राजनैतिज्ञ जैसे जर्मनी के बिसमार्क, इङ्गलैंड के डिजरेली इत्यादि शामिल थे। बर्लिन में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार बल्गेरिया, सर्विया, रोमानिया और मोंटीनीग्रो तुर्की साम्राज्य से पृथक होकर स्वतन्त्र हुए—किन्तु टर्की को फिर बचा लिया गया, टर्की के अधिकार में आड्रियाटिक सागर से काला-सागर तक के प्रदेश छोड़ दिये गये।

किन्तु १९१२ ई० में अबकी बार बाल्कन प्रायद्वीपों ने स्वयं टर्की को बिल्कुल उखाड़ फेंकने का इरादा किया—टर्की की हार हुई—सिवाय कुस्तुनतुनिया और ऐड्रिआनोपल नगरों के उसके पास कुछ नहीं बचा।

इस प्रकार लगभग ४५० वर्ष पुराना यूरोप का तुर्की साम्राज्य ख़त्म हुआ–यूरोप में वह एक छोटा सा राज्य रह गया।

पूर्वीय यूरोप :—यूरोप में टर्की साम्राज्य समाप्त हो चुका था। बाल्कान प्रायद्वीपों के देश स्वतन्त्र हो चुके थे किन्तु ये छोटे छोटे देश भी परस्पर द्वेष रखते थे और यह भावना रखते थे कि एक दूसरे को दबाकर स्वयं शक्तिशाली बन जाए। ये सभी देश आर्थिक एवं उद्योग की दृष्टि से अविकसित थे। इनके जीवन पर एशियाई प्रभाव अधिक और पाश्चात्य यूरोपीय सभ्यता का प्रभाव कम। भिन्न भिन्न छोटी छोटी जातियों और भिन्न भिन्न भाषाओं के ये प्रदेश थे, गो कि धर्म इन सबका ईसाई था (प्राचीन ग्रीक चर्च)। इन बाल्कन प्रदेशों में दो बड़े राष्ट्रों के यथा रूस और आस्ट्रिया के हित आकर टकराते थे। रूस चाहता था और वह यह घोषणा भी करता था कि स्लैव जाति और भाषा-भाषी बाल्कन प्रदेशों की रक्षा और जीवन का भार उस पर है। उधर आस्ट्रिया चाहता था कि जितने भी प्रदेशों पर वह कब्जा कर सके उतना ही ठीक, पश्चिम की तरफ तो उसके लिये बढ़ने को रास्ता था नहीं। इस प्रकार यूरोप के सभी शक्तिशाली राष्ट्रों के लिये (इङ्गलेंड, फ्रांस, आस्ट्रिया, जर्मनी एवं रूस के लिये) बाल्कन देश तनातनी का कारण बने हुए थे।

१९१४ ई० में यह तो यूरोप और अमेरिका की राजनैतिक अवस्था थी। प्रत्येक देशों में जन-सत्तात्मक शासन प्रणाली थी, किंतु इस जन सत्ता और जनतन्त्र के सिद्धान्त का ये पाश्चात् देश अपने आधीन देशों में पालन नहीं करते थे, वहां इनका सिद्धान्त आतंकवादी साम्राज्यवाद था। पाश्चात्य देशों के लोग अपने व्यक्तिगत जीवन में, अपने सामाजिक जीवन में प्राय: सच्चे, ईमानदार, स्पष्ट और सहानुभूतिपूर्ण थे। किन्तु जहां एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से सम्बन्ध आ जाता था वहां ये ही लोग बेईमान, आतंकवादी और घोर पाखंडी बन जाते थे–अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में झूठ और दगाबाजी में जो बाजी लेजाता था वही कुशल और सफल

समझा जाता था। इन देशों में आर्थिक क्षेत्र में इस समय पूंजीवाद का प्रचलन था–आर्थिक शक्ति, उद्योगपतियों, कारखानेदारों एवं बैंक के मालिकों में निहित थी। प्रायः सभी देश (रूस और पूर्वी यूरोप को छोड़कर) यांत्रिक उद्योग में उन्नत थे, और जो देश इस दिशा में उन्नत नहीं थे वे भी गति तो इसी ओर कर रहे थे। कहीं कहीं मध्ययुगीय सामन्तवादी प्रथा प्रचलित थी, विशेषतया रूस में। उपरोक्त पूंजीवादी उद्योग ने समाज में एक नया तत्व एवं एक नया वर्ग पैदा कर दिया था। वह नया तत्व था समाजवाद और नया वर्ग मजदूर वर्ग। इसका विशेष विवरण अन्यत्र हो चुका है। उद्योगपतियों के लालच और स्वार्थ भावना से पिसकर मजदूर वर्ग का जीवन अमानवीय और यातनापूर्ण हो चुका था। उनकी हालत में सुधार के लिये अनेक हलचलें हुई थीं किन्तु फिर भी बीसवीं शती के प्रारम्भ में पूंजीपति कारखाने वालों में, मध्य वर्ग और मजदूर वर्ग में संघर्षात्मक भावनायें जोर पकड़े हुई थीं। प्रत्येक देश में ऐसी संघर्षात्मक दशा थी, कहीं ज्यादा कहीं कम; उदाहरण स्वरूप अमेरिका में कम जहां प्राकृतिक धन और सुविधायें अधिक थीं और जन संख्या कम; इङ्गलैंड में भी कम जहां साम्राज्यवाद की लूट का कुछ धन मजदूरों के हाथ भी लगता था; अपेक्षाकृत फ्रांस, रूस और जर्मनी में अधिक। इन देशों में तो उपरोक्त संघर्षात्मक भावना यहां तक बढ़ गई थी कि कोई कोई यह कहने लगे थे कि मजदूर का हित राष्ट्र हित से भी बढ़कर है।

एशिया—२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एशिया का विशाल महाद्वीप प्रायः सारा का सारा यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा पदाक्रांत था। नाम मात्र को, कह सकते हैं कि, अफगानिस्तान, ईरान, चीन, जापान और स्याम एशिया के स्वतंत्र देश थे, किन्तु वस्तुतः ये देश अकेले जापान को छोड़कर किसी न किसी रूप में यूरोपीय साम्राज्यवादी प्रभुत्व से मुक्त नहीं थे। चीन में अंग्रेजी, फ्रांसीसी एवं जर्मन आर्थिक हित कायम होरहे थे, अफगानिस्तान से इङ्गलैंड जो कुछ चाहता करवा सकता था, और

ईरान पर भी इङ्गलैंड एवं रूस का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जोर था, स्याम भी फ्रांसीसी या अंग्रेज लोगों की मरजी पर ही मुक्त था।

बात यह है कि १६वीं १७वीं शताब्दी से जब यूरोप में एक नव जागृति पैदा हुई थी, वहां के लोग प्रकृति और दुनियां की खोज में जुट गये थे, अपने पुराने अन्ध-विश्वासों, रीति-रस्मों को छोड़ मानसिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होने लगे थे, नये विचार, नई भावनायें, सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र में नये नये परीक्षण, वैज्ञानिक आविष्कार एवं यांत्रिक उद्योगों ने यूरोप में एक नया संसार एक नया मानव पैदा कर दिया था। यूरोप में जब यह होरहा था तब एशिया सोता रहा। एशिया में प्रायः बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भी नवजीवन का प्रकाश नहीं आया, नई हलचल की गति नहीं आई, वह अपने मध्ययुगीय विचार और विश्वासों में, और आलस में डूबा रहा। साधारणतया यह एशिया की हालत थी।

जापान—एशिया में केवल यही एक ऐसा देश था जो यूरोप को समझ चुका था और यूरोप के ही अस्त्रों से तथा यन्त्र उद्योग और साम्राज्यवाद से, यूरोप से टक्कर लेने को तैयार था। यहां वालों ने अपने देश में अभूतपूर्व औद्योगिक उन्नति करली थी, सैनिक दृष्टि से अपने आपको शक्तिशाली बना लिया था, सन् १६०५–६ में यूरोप के विशाल देश रूस से टक्कर लेकर उसको परास्त कर चुका था और यूरोप के दिल पर अपनी शक्ति की छाप बैठा चुका था। कोरिया को अपने साम्राज्य का अंग बना चुका था और मंचूरिया पर उसकी आंखें गड़ी हुई थीं। जापान का सम्राट हिरोहितो अपनी एकाधिपत्य सत्ता द्वारा एक नाम मात्र की पार्लियामेन्ट की सलाह से यह सब कुछ कर रहा था।

चीन—कई शताब्दियों से मंचु सम्राटों की परम्परा चली आरही थी। सन् १६१२ में जनतन्त्रात्मक क्रांति हुई। पुरानी मंचु सम्राटशाही खत्म की गई और डा० सनयातसन क्रांति का नेता, चीन जनतन्त्र का प्रथम अध्यक्ष बना। पुरानी, मध्ययुगीय सामन्तवादी, सम्राटशाही की

जगह एक आधुनिक जनतन्त्रात्मक शासन की स्थापना तो हो चुकी थी किन्तु इस शासन की केन्द्रीय शक्ति अभी जम नहीं पाई थी, यह अभी बहुत कमजोर थी। वास्तव में चीन का महादेश अनेक योद्धा सामन्ती सरदारों के भिन्न भिन्न प्रान्तों में विभक्त था और वे अब तक केन्द्रीय प्रजातंत्र के अंकुश को बिल्कुल मान्यता नहीं देते थे। कई वर्षों तक चीन की ऐसी ही स्थिति बनी रही। डा० सनयातसन के नेतृत्व में नानकिंग में एक नियमित जनतन्त्रात्मक सरकार कायम रही, और वह कोशिश करती रही कि किसी प्रकार सामन्ती सरदारों का अन्त होकर समस्त चीन एक केन्द्रीय शक्तिशाली शासन के आधीन हो।

भारत—यह विशाल सभ्य, धनी देश अंग्रेजी साम्राज्य का अंग था। धीरे धीरे राष्ट्रीयता की भावना यहां के लोगों में पैदा होने लगी थी। आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान की ओर भी यह देश सचेत होने लगा था।

लंका, मलाया (सिंगापुर), उत्तरी बोर्नियो, पच्छिमी न्युगिनी—के ये सब धनी, उपजाऊ देश या द्वीप अंग्रेजी साम्राज्य के अंग थे।

सुमात्रा, जावा, बोर्नियो एवं अन्य पूर्वी द्वीप समूह—मसाले, रबर, चीनी और पेट्रोल तेल के भण्डार ये द्वीप डच (होलैण्ड) साम्राज्य के अंग थे।

हिन्द चीन—फ्रांस साम्राज्य का अंग था।

फिलीपाइन द्वीप समूह—अमेरिकन साम्राज्य के अंग थे।

अफगानिस्तान—में स्वतन्त्र अफगानी बादशाह एवं ईरान में स्वतन्त्र ईरानी शाह राज्य कर रहे थे।

अरब, ईराक, फिलिस्तीन, सीरीया, एशियामाइनर—इत्यादि समस्त मध्य पूर्वीय देश कई सदियों से विशाल तुर्की साम्राज्य के अंग थे।

समस्त उत्तरी एशिया अर्थात् साइबेरिया—यूरोपीय रूस साम्राज्य का अंग था।

भारत, चीन, जापान, मंचूरिया को छोड़ यातायात के आधुनिक साधनों का अर्थात् रेल, तार, डाक का विकास अभी अन्य एशियाई प्रदेशों में नहीं हो पाया था, इन एशियाई देशों में कृषि एवं जीवन के साधन प्रायः आदि-कालीन थे। शासन में परिवर्तन होते रहते थे किन्तु साधारण दैनिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हो पाया था।

अफ्रीका—समस्त महाद्वीप पर भिन्न भिन्न यूरोपीय राष्ट्रों का आधिपत्य था। अफ्रीका के आदिनिवासियों की भिन्न भिन्न जातियां सब अब तक असभ्य स्थिति में थीं।

आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड—ब्रिटिश साम्राज्य के अंग थे। यहां के आदि निवासियों की भी हालत अब तक असभ्य थी।

प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८ ई०)

सन् १९१४ में एक महायुद्ध हुआ—ऐसा महायुद्ध, ऐसा भयंकर और भीषण जैसा मानव इतिहास में पहिले कभी नहीं हुआ था। यह महायुद्ध होने के पहिले दुनिया के इतिहास का एक युग समाप्त होता है। युद्ध प्रारम्भ होने के पहिले दुनिया की क्या हालत थी, इसका सिंहावलोकन हम कर आये हैं। यूरोप की दशा का जब हम अध्ययन कर रहे थे तब मालूम हुआ होगा कि वहां का तमाम वातावरण ऐसा बना हुआ था कि जिसमें युद्ध अनिवार्य था। मानव इतिहास में पहले अनेक युद्ध हुए थे, उन सबकी भिड़न्त और मारकाट केवल युद्ध क्षेत्र में सिपाहियों तक ही सीमित रहती थी। किन्तु बीसवीं शताब्दी में युद्ध के नये तरीके, अद्भुत अस्त्र शस्त्र मानव के हाथ लगे थे जिनमें केवल सिपाहियों का ही विनाश नहीं होता था किन्तु युद्ध क्षेत्र से बहुत दूर साधारण जनता का भी भयंकर अनिष्ट किया जा सकता था, और गांवों के जीवन को उखाड़ा जा सकता था।

युद्ध के कारण—इस युद्ध के जड़ में तो थी यूरोप के प्रमुख शक्तिशाली राष्ट्रों के दिल में एक दूसरे के प्रति द्वेष की भावना। उस द्वेष का कारण था इन राष्ट्रों की साम्राज्यवाद के विस्तार की

महत्वाकांक्षा। इङ्गलैंड तो इतने उपनिवेश अपने कब्जे में कर गया, फ्रांस ने भी देश हथियाये, अब जर्मनी क्यों पीछे रहने वाला था। जर्मनी ने कुछ ही वर्षों में अद्भुत औद्योगिक उन्नति की थी, अपने आपको एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाया था और वह समझने लगा था कि वह सर्वाधिक योग्य है, सबसे अधिक श्रेष्ठ; राष्ट्र के जन जन में यह भावना भर गई थी और उनके दिल में यह स्वप्न घर कर गया था कि जर्मनी संसार का अधिपति होगा। सचमुच अद्वितीय संगठन शक्ति, अनुशासन और कार्यकुशलता उन लोगों में थी। तेजी से उनके शस्त्रों, उनकी सेनाओं एवं उनके जहाजों में वृद्धि हो रही थी। आखिर कहीं तो उनका प्रयोग होता! जर्मनी ने टर्की से मिलकर यह भी तय कर लिया था कि जर्मनी की राजधानी बर्लिन से पच्छिमी मध्य एशिया के प्रमुख नगर बग़दाद तक एक रेलवे बनेगी। इसने इङ्गलैंड को डरा दिया कि कहीं उधर से उसकी सोने की चिड़िया' भारत पर ही हमला नहीं होजाये। जर्मनी की देखा देखी इङ्गलैंड और फ्रांस भी इसी शस्त्रीकरण में लग गये। बालकन देशों में अभी युद्ध समाप्त ही हुए थे। किन्तु उनके बाद भी सर्बिया, जिसके पक्ष में रूस था, अपनी सीमाओं को बढ़ा रहा था। आस्ट्रिया इस बात को सहन नहीं कर सकता था, क्योंकि सर्बिया के विस्तार में उसे यह स्पष्ट दिखलाई दे रहा था कि उससे रूस की शक्ति में अभिवृद्धि हो रही है। आखिर यूरोप की परम्परा के अनुसार यूरोप की शक्तियों में संतुलन तो कायम रहना चाहिए था ना! सबके दिल में यह बैठ गई थी कि युद्ध होने वाला है अतः भिन्न भिन्न राष्ट्रों में मैत्री होने लगी और गुट बनने लगे। एक गुट बना इङ्गलैंड, फ्रांस और रूस का; दूसरा गुट बना जर्मनी; आस्ट्रिया और टर्की का। यूरोप दो खेमों में विभक्त था, युद्ध चालू होने के लिये बस एक चिंगारी की जरूरत थी।

युद्ध का प्रारम्भ—२८ जून सन् १९१४ के दिन आस्ट्रिया का युवराज बोसनिया की राजधानी सेराजीवो में घूम रहा था। उस समय किसी ने उसका वध कर डाला, बोसनिया थोड़े ही दिन पहिले आस्ट्रिया

की गुलामी से मुक्त हुआ था और इस मुक्ति में उसका मुख्य सहायक था सर्बिया। इसलिये आस्ट्रिया ने सर्बिया पर भी यह इल्जाम लगाया कि उसी के इशारे से आस्ट्रिया के युवराज की हत्या की गई है अतएव उसने तुरन्त ही सर्बिया को युद्ध की चेतावनी देदी और इस प्रकार यूरोप के क्षेत्र में जिसमें बारूद भरा था चिनगारी लग गई।

१९१४ से १९१८ ई० तक, ४ वर्ष तक यह युद्ध चला। इस युद्ध में एक तरफ इङ्गलेंड, फ्रांस और रूस और दूसरी तरफ जर्मनी, आस्ट्रिया और टर्की ही नहीं थे किन्तु ज्यों ज्यों युद्ध की गति बढ़ने लगी त्यों त्यों उसमें दुनिया के और भी देश सम्मिलित हो गये। युद्ध में भाग लेने वाले देशों की स्थिति इस प्रकार थी—

मित्रराष्ट्र पक्ष	जर्मन पक्ष
(इङ्गलेंड, फ्रांस, रूस)	(जर्मनी, आस्ट्रिया, टर्की)
सर्बिया, वेलजियम, अमेरिका, जापान, चीन, रूमानिया, यूनान और पुर्तगाल, ब्रिटिश साम्राज्य के सब देश यथा भारत दक्षिण अफ्रिका इत्यादि।	बलगेरिया,

लड़ाई में भाग लेने वाले देशों की स्थिति से तो यह साफ जाहिर होता है कि मित्र पक्ष के साधन जर्मन पक्ष से कहीं अधिक थे। कह सकते हैं जर्मनी दुनिया के अधिकांश हिस्से से अकेला लड़ रहा था।

युद्ध के क्षेत्र—जब आस्ट्रिया ने सर्बिया पर हमला कर दिया तो उसके तुरन्त बाद जर्मनी ने बेलजियम को दबाकर फ्रांस पर हमला कर दिया, उधर पूर्व से रूस भी सर्बिया की मदद को आया। इस प्रकार यूरोप में युद्ध क्षेत्र बेलजियम, फ्रांस, जर्मनी, सर्बिया, आस्ट्रिया और रूस आदि देशों की भूमि रही। किंतु यह युद्ध क्षेत्र इन्हीं देशों की भूमि तक सीमित नहीं था। टर्की साम्राज्य के समस्त एशियाई देशों में यथा ईराक, सीरिया, फिलस्तीन, मिश्र इत्यादि में, अफ्रीका में जर्मनी के दोनों उपनिवेशों में और चीन में (उस नगर में) जो जर्मनी का एक छोटा सा उपनिवेश था।—इन देशों में भी दोनों पक्षों में अनेक लड़ाइयां हुईं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युद्ध ने दुनिया के अनेक देशों में हलचल पैदा करदी थी।

नये अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग—इस युद्ध में सर्व प्रथम ऐसे अस्त्र-शस्त्र काम में लाये गये जो पहिले दुनिया को ज्ञात नहीं थे, यथा पनडुब्बी (Submarines), जो पानी के अन्दर चलती थी और बड़े बड़े जहाजों में छेद करके उनको डुबो देती थी। इनका आविष्कार जर्मनी ने किया था। टैंक-(Tank) ये लोहे की चादरों से चारों ओर से ढकी हुई एक प्रकार की मोटर गाड़ी होती है जो सभी प्रकार के फौजी सामान से भरी होती है और जिसके पहिये पर मजबूत सांकलें जुड़ी हुई होती हैं-जिससे कि ये ऊंची, नीची सभी जगहों पर जा सकती हैं।

हवाई जहाज—इसी लड़ाई में सर्व प्रथम जर्मनी ने एक विशेष प्रकार की बड़ी हवाई जहाज का जिसे जेपलिन (Zeplin) कहते हैं, प्रयोग किया। इन हवाई जहाजों से शहरों और कस्बों पर बम गिराये गये, जिससे शान्त और बेकसूर जनता त्राहि त्राहि करके भस्म हो जाती थी। इस हवाई जहाज का प्रयोग फिर दोनों पक्षों की ओर से होने लगा था।

जहरीली गैसें—युद्ध के अन्तिम महीनों में दोनों पक्षों की ओर से जहरीली गैसों का भी प्रयोग हुआ। ये गैसें ऐसी होती थीं जो हवा में फैलादी जाती थीं और उस हवा में सांस लेते ही आदमी तड़फ तड़फ कर मर जाता था।

इस प्रकार इन भयङ्कर विनाशकारी शस्त्रों से यह विश्व-व्यापी युद्ध चलता रहा। चार वर्ष तक यह युद्ध चला। लगभग ढाई करोड़ आदमी मरे, दो करोड़ जख्मी हुए, ९० लाख बच्चे अनाथ हुए, ५० लाख स्त्रियां विधवा। अनुमान किया जाता है कि लगभग ५६ अरब पौंड सब देशों का इस युद्ध में खर्च हुआ। जीवन और धन की कितनी भयङ्कर यह बर्बादी थी-मानव चेतना का प्रतिपीड़न।

प्रारम्भ के वर्षों में तो जर्मनी विजय करता हुआ चला जा रहा था—उसकी युद्ध की तैयारी अद्भुत थी। उस समय अमेरिका का अध्यक्ष विलसन था; उसने प्रयत्न किया था कि युद्ध शांत हो जाये, कोई संधि हो जाये—उसकी बात नहीं सुनी गई। आखिर सन् १९१७ में अमेरिका मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में कूद पड़ा, तभी से युद्ध ने पलटा खाया। जर्मनी की शक्ति का दुनिया के इतने देशों के विरुद्ध लड़ते लड़ते ह्रास हो चुका था, जर्मनी पस्त हुआ,—जर्मन सम्राट अपना देश छोड़कर भाग गया, जर्मनी के लोगों ने प्रजातन्त्र की घोषणा की। ११ नवम्बर १९१८ को लड़ाई बंद हुई। १९१८ में लड़ाई बंद होने के पहिले दुनिया में एक और महत्वपूर्ण क्रांतिकारी घटना हो चुकी थी—वह थी रूस में जारशाही का खात्मा एवं एक साम्यवादी सरकार की स्थापना। यह घटना दुनिया पर छाया की तरह छाई रही।

वर्साई की संधि

युद्ध के पश्चात् सन्धि की शर्तें तय करने के लिये सन् १९१९ में पेरिस नगर के निकट वरसाई में उन सब राष्ट्रों का जो युद्ध में सम्मिलित हुए थे एक बहुत बड़ा शांति-सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में मुख्य भाग ब्रिटेन के प्रधान मंत्री लायडजार्ज, संयुक्त राज्य अमेरिका के अध्यक्ष विलसन, और फ्रांस के प्रधान मंत्री क्लेमेंशू का रहा। कई महीनों तक यह सम्मेलन होता रहा। दुनिया के लोगों को इससे बड़ी बड़ी आशायें थीं। जब युद्ध चल रहा था तब दुनिया के लोगों को कहा गया था कि यह युद्ध युद्ध खत्म करने के लिये लड़ा जा रहा है, इस युद्ध का उद्देश्य यह है कि दुनिया के सब राष्ट्र स्वतन्त्र हों, उनको आत्म निर्णय का अधिकार हो।—दुनिया में एकतन्त्र न रहे, जनतन्त्र का विकास हो।

किन्तु जब विजयी राष्ट्र संधि करने बैठे तो वे अपनी जोम में अपने सब उच्च आदर्शों को भूल गये। ऐसी संधि की गई जो विजित राष्ट्रों के लिये बहुत अपमानजनक थी, जिससे केवल इङ्गलैंड और फ्रांस के

स्वार्थ सिद्ध होते थे, उनके साम्राज्यों की जड़ें और भी सुरक्षित होती थीं। सन्धि के मुख्य मुख्य निर्णय ये थे।

(१) जर्मनी का सम्राट देश छोड़कर भाग गया, उसके स्थान पर नया जनतन्त्र राज्य स्थापित हुआ—सन् १९१९ में एक राष्ट्र परिषद वीमर नगर में बैठी जिसने देश का जनतन्त्रात्मक विधान बनाया। उसको सब राष्ट्रों ने स्वीकार किया। जर्मनी की सेना तथा जहाजी बेड़े को बहुत कम कर दिया गया। उसके अफ्रीका के उपनिवेश मित्र राष्ट्रों को दे दिये गये।

अलसेस तथा लोरेन प्रान्त जो पहिले फ्रांस के अंग थे और जिन पर जर्मनी ने १८७० ई० में फ्रांस जर्मन युद्ध में अपना अधिकार जमा लिया था, फ्रांस को वापस दिला दिये गये। इन प्रदेशों की हानि के अतिरिक्त जर्मनी को और भी बहुत बड़ा युद्ध का हर्ज़ाना देने के लिये बाध्य होना पड़ा, जिसको वसूल करने के लिये "सार की घाटी" जिसमें लोहे और कोयले की बहुत खाने थीं, जमानत के रूप में मित्र राष्ट्रों को सौंप दी गई। जर्मनी क्या कर सकता था ?

(२) यूरोप के नकशे में कई परिवर्तन हो गये:—

(क) युद्ध पूर्व का आस्ट्रिया–हंगरी का एक साम्राज्य तोड़कर कई भागों में विभक्त कर दिया गया। एक राज्य के बदले अब उसके चार राज्य बना दिये गये। (१) आस्ट्रिया (२) हंगरी (३) जैकोस्लोवेकिया (४) युगोस्लेविया। अंतिम दो राज्य यूरोप में सर्वथा नये राज्य थे—इतिहास में पहिले इनकी स्थिति कभी नहीं थी।

(ख) पोलेंड का पुराना राज्य जो १९वीं शताब्दी के यूरोप के शक्ति-संतुलन के झगड़ों में मिटा दिया गया था, वह फिर से स्थापित किया गया और उसके व्यापार की सुविधा के लिये डेनजिग का बन्दरगाह जर्मनी से लेकर उसको दे दिया गया। बाल्टिक सागर के किनारे पर रूस के कुछ प्रदेश स्वतन्त्र हो गये और वे नये

राज्यों के रूप में कायम हुए—फिनलेंड, एसटोनियां, लेटविया और लिथूनियां।

(३) टर्की का यूरोपीय साम्राज्य तो १९१२–१३ के बाल्कन युद्धों में छिन्न भिन्न हो चुका था; उसका एशियाई-साम्राज्य भी इस युद्ध के बाद छिन्न भिन्न कर दिया गया। टर्की समूल दुनिया के पर्दे पर से ही हट जाता, किन्तु उसी काल में एक कुशल योद्धा एवं महान् व्यक्ति का टर्की में उदय हुआ—यह था मुस्तफा कमालपाशा। उसने सन् १९१८ के बाद भी युद्ध जारी रक्खा, और इतना सफल हुआ कि टर्की, यूरोप में कुस्तुनतुनिया और समीपस्थ थोड़ी सी भूमि और एशिया में एशिया-माइनर, बचाये रख सका। पूर्वी टर्की साम्राज्य का देश अरब स्वतन्त्र हो गया, ईराक और फिलीस्तीन का शासनादेश (Mandate) ब्रिटेन को दिया गया, और सीरीया का फ्रांस को। शासनादेश का अर्थ यह था कि ईराक, फिलीस्तीन और सीरीया पर इङ्गलेंड और फ्रांस का अधिकार तब तक रहेगा जब तक कि इन देशों की आर्थिक, राजनैतिक स्थिति ठीक नहीं हो जाती; इसके बाद उनको स्वतन्त्र कर दिया जाना पड़ेगा। साम्राज्यवाद कायम रखने का मित्र राष्ट्रों का यह एक नया तरीका था।

राष्ट्र संघ

वरसाई की संधि की एक मूल और प्रमुख शर्त यही थी कि राष्ट्र संघ की स्थापना हो। राष्ट्र-संघ का अर्थ था कि दुनिया के भिन्न भिन्न राष्ट्र सब मिलकर दुनिया में सुख-शांति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ कायम करें। इस संघ का मूल विधान 'वरसाई की संधि' में ही शामिल कर लिया गया था—इस मूल विधान को राष्ट्र संघ का शर्तनामा (Covenant of the League of Nations) कहते हैं। इस विचार की मूल प्रेरणा अमेरिका के प्रेजीडेन्ट विलसन से मिली थी।

भूमण्डल का कोई भी स्वतन्त्र राष्ट्र संघ का सदस्य बन सकता था—केवल चार देश जान बूझकर इससे अलग रखे गये थे—पराजित देश जर्मनी, आस्ट्रिया और टर्की; एवं रूस जहां पच्छिमी राष्ट्रों के आदर्शों

के खिलाफ साम्यवादी व्यवस्था कायम हो चुकी थी। राष्ट्र संघ की स्थापना इस उद्देश्य से हुई थी कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में उन्नति हो और दुनिया में शांति और सुरक्षा कायम हो; इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य ने यह मंजूर किया था कि वह किसी भी अन्य राष्ट्र से तब तक युद्ध न छेड़ेगा, जब तक कि शांति-पूर्ण समझौते के सारे प्रयत्न और संभावनायें असफल नहीं हो जायें। यह भी व्यवस्था की गई थी कि अगर कोई सदस्य राष्ट्र इस प्रतिज्ञा को तोड़ेगा तो अन्य सब सदस्य राष्ट्र उससे किसी तरह का आर्थिक सम्बन्ध न रखेंगे।

विधान के अनुसार किसी भी प्रश्न का निर्णय राष्ट्र संघ के उपस्थित सदस्यों की सर्व सम्मति से ही हो सकता था। इसका यह मतलब था कि यदि एक भी मत किसी प्रस्ताव के विरोध में आया तो वह प्रस्ताव गिर जाता था। दूसरे शब्दों में कोई भी राष्ट्रीय सरकार संघ के किसी भी अच्छे से अच्छे कदम या सुझाव को रद्द करवा सकती थी।

राष्ट्र संघ का कार्य संचालन के लिये सर्व प्रथम तो एक असेम्बली थी जिसमें सब सदस्य-राष्ट्रों के प्रतिनिधि बैठते थे। इसके अतिरिक्त एक छोटी कौंसिल (Council) थी, जिसके सदस्य मुख्य मित्र-राष्ट्रों के स्थायी प्रतिनिधि होते थे और कुछ प्रतिनिधि असेम्बली द्वारा भी चुने जाते थे। कह सकते हैं कि राष्ट्र संघ की मुख्य और महत्व-पूर्ण कार्य-कारिणी संस्था यह कौंसिल ही थी। संघ का जिनेवा (स्वीटजरलैंड) में एक स्थायी मंत्री-कार्यालय बनाया गया था। संघ के आधीन कई अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें या कार्यालय या आयोग (Commission) भी खोले गये थे जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय इत्यादि।

संघ का विधिवत् कार्य १० जनवरी सन् १९२० से प्रारम्भ हुआ। हजारों वर्षों के मानव-इतिहास में–मानव का, युद्ध निराकरण के लिये, विश्व शांति के लिये, एक विश्व संगठन की ओर विधिवत् आयोजित यह प्रथम प्रयास था।

हम कल्पना कर सकते हैं कि १९१९ ई० के पेरिस के शांति-सम्मेलन और वरसाई की संधि में ही दूसरे महायुद्ध के बीज निहित थे। १९२० के बाद विश्व का इतिहास मानो उस संधि के निराकरण का इतिहास था। जिस प्रकार १८१५ में वियना-कांग्रेस के बाद यूरोप का इतिहास वियना की संधि के निराकरण का इतिहास था, उसी प्रकार वरसाई की संधि के बाद यूरोप का इतिहास वरसाई की संधि के निराकरण का इतिहास है।

(५६)

विश्व इतिहास

(१९१९-१९४५)

प्रस्तावना—राजनैतिक दृष्टि से बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध मानव के लिए प्राय: एक बेचैन स्थिति का सा काल रहा है। इस सदी के प्रारम्भ से ही ऐसी बातें होने लगी थीं कि आज युद्ध हुआ, कल युद्ध हुआ, युद्ध टल नहीं सकता; और सचमुच १९१४ का वर्ष आते आते ऐसा भयंकर विश्व-युद्ध छिड़ गया था जैसा पहिले कभी नहीं हुआ था। १९१४-१८ के महायुद्ध काल में मानव कितना फिक्रमंद रहा होगा ? १९१९ ई० में शांति हुई। ४-५ वर्ष तक इस महायुद्ध के घाव भर भी नहीं पाये थे कि फिर युद्ध की बात होने लगी और भिन्न भिन्न देशों के लोगों का दिल भारी रहने लगा। उनने कुछ ही वर्ष चैन से बिताये होंगे कि फिर ज्यों ज्यों एक एक वर्ष बीतता जाता था युद्ध की शंका से उनका दिल भारी से भारीतर होता जाता था। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद प्राय: सन् १९२२-२३ ई० तक तो लोगों को यही फिक्र रहा कि सन् १९१७ ई० में रूस में जो साम्यवादी क्रांति हो चुकी थी उसका क्या होगा; फिर यूरोपीय-देशों को उनकी परम्परागत संकुचित

राष्ट्रीयता की भावना, और राष्ट्रों में शक्ति-संतुलन के विचार ने इतना परेशान किया कि आखिर सन् १९२५ में वे सब लोकार्नो सम्मेलन में मिले और उन्होंने शांति और युद्ध निषेध के लिये एक संधि की; संधि तो की किन्तु मन की शंका नहीं गई। एक न एक रूप में वह बनी ही रही। फिर सन् १९२९ ई० में विश्व-व्यापी आर्थिक संकट का जमाना आया, उसने लोगों को बेचैन रक्खा; फिर मसोलिनी और हिटलर इतिहास के पर्दे पर एक तूफान की तरह आये, जगह जगह खटपट शुरू हुई और सशंकित मानव की शंका आखिर सच ही निकली। १९३९ में दूसरा महायुद्ध हो गया—प्रथम महायुद्ध से भी अधिक भीषण, भयंकर और विनाशकारी। इस प्रकार केवल २५ वर्षों में विश्व ने दो महायुद्ध देख लिये। दूसरे महायुद्ध के घाव अभी भरने भी नहीं पाये थे कि जिस प्रकार प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर मानव दूसरे महायुद्ध के लिए सशंकित रहने लगा था, अब तो मानव उससे भी अत्यधिक, तीसरे युद्ध के विषय में, सशंकित रहने लगा। मानव को चैन नहीं मिला। यह है १९१९ से १९४५ तक के पिछले पच्चीस वर्षों की कहानी की रूपरेखा।

हम सर्व प्रथम रूस की क्रांति को लेंगे। रूस की क्रांति हुई तो अक्टूबर सन् १९१७ में थी, अर्थात् प्रथम महायुद्ध काल में; किन्तु उसका महत्व युद्धोत्तर काल में है, अतः उसकी चर्चा हम यहीं युद्धोत्तर काल के विवरण में करते हैं।

रूस की क्रांति

हम सन् १७७६ ई० के अमेरिका के स्वतन्त्रता युद्ध का विवरण पढ़ चुके हैं, जब मानव ने सर्वप्रथम अपने समाज संगठन का विधिवत् या कानूनन यह आधार माना था कि मानव-समाज में सब मानव स्वतन्त्र हैं। किन्तु तब इस विचार का प्रभाव विशेषकर अमेरिका तक ही सीमित रहा। फिर सन् १७८९ में फ्रांस की राज्य-क्रांति हुई जिसमें फिर एक बार मानव ने यह घोषणा की कि मानव मानव सब समान हैं, स्वतन्त्र हैं, सत्ता सब में निहित है किसी एक जन में नहीं। इस क्रांति की

प्रतिक्रिया सर्वत्र यूरोप में हुई और वह मानव-चेतना में ऐसी समा गई कि मानो वह उसकी संस्कृति की एक बुनियादी निधि बन गई हो। उसी समानता और स्वतन्त्रता की भावना की परम्परा में रूस की क्रांति भी हुई थी। उस परम्परा में होते हुए भी रूस की क्रांति में एक भिन्न बुनियादी तत्व था। वह भिन्न बुनियादी तत्व था, आर्थिक समानता। फ्रांस की राज्य क्रांति में तो केवल राजनैतिक समानता थी—अर्थात् सबके राजनैतिक अधिकार समान हों; उसने एक दृष्टि से सामाजिक समानता भी देखी अर्थात् समाज में कोई बड़ा-छोटा नहीं, कोई उच्च-नीच नहीं, कोई नवाव गुलाम नहीं, किन्तु वह क्रांति यह विचार लोगों के सामने स्पष्ट नहीं कर पाई थी कि समाज में आर्थिक विषमता से उच्च-नीच का भाव पैदा हो जाता है, कि उस आर्थिक विषमता का मूल कारण है जमीन-धन पर व्यक्तिगत स्वामित्व। यह नई चेतना मानव को रूस की क्रांति ने दी।

रूसी क्रांति की प्रेरणा का स्रोत था—कार्ल-मार्क्स (१८१८–८३), जिसने यूरोप के प्रसिद्ध क्रांतियों के वर्ष सन् १८४८ ई० में अपने सहयोगी ऐंगल्स के साथ एक साम्यवादी घोषणापत्र कोम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो (Communist–Manifesto) प्रकाशित किया था। इस घोषणा-पत्र में सर्व-प्रथम समाजवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ, जिसका जिक्र अन्यत्र किया जा चुका है। कार्ल-मार्क्स की ही प्रेरणा से यूरोप के भिन्न भिन्न देशों में मजदूरों के संगठन हुए, सन् १८६४ ई० में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (First International), सन् १८८९ ई० में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Second International) स्थापित हुआ। इन संघों की गति और शक्ति साम्यवादी घोषणापत्र के इन शब्दों से मिलती थी, "संसार के मजदूरों एक हो जाओ। अपनी दासता की जंजीरों के सिवाय तुम खोओगे तो कुछ नहीं और पाने को संसार पड़ा है।"

ये ही क्रांतिकारी विचार धीरे धीरे रूस में पहुंच रहे थे। १९वीं शताब्दी में रूस में महत्वाकांक्षी, निरंकुश जार लोगों (सम्राटों) का

राज्य था। जब कि पच्छिमी यूरोप में तो जन-क्रांति हो रही थी और सत्ता, कम से कम राजनैतिक सत्ता, प्रजा के हाथों में धीरे धीरे आरही थी तब रूस में जार लोगों की निरंकुशता और तानाशाही अपने असली रूप में पाई जाती थी। सन् १८६० ई० तक रूस के किसान सर्फ, याने गुलाम थे, सब भूमि जमीदारों के हाथ में थी, काम किसान को करना पड़ता था, धान जमींदारों को जाता था। जमीदार रोटी के दो टुकड़े किसानों की ओर फेंक देते थे जिससे काम करने के लिये वे जिन्दा रहें। सन् १८६१ में जार ने (सम्राट ने) एक सुधार किया। सर्फडम याने किसानों की दासता का अन्त किया गया, कुछ किसानों को स्वतन्त्र भूमि दी गई जिस पर जमींदार का कोई अधिकार न हो। यह बात तो बड़ी थी किन्तु यथार्थ में इसका कुछ परिणाम नहीं निकला, क्योंकि जो भूमि स्वतन्त्र किसानों को दी गई वह बहुत छोटी थी, उस पर किसान स्वतण्त्र अपना गुजारा नहीं कर सकते थे। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में और २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रूस की समाजिक दशा यह थी:-एक ओर जार, उसके उच्च कर्मचारी और भूमिदार। दूसरी ओर बहु-संख्यक किसान, गरीब और पीड़ित। १८६० ई. के बाद जब रूस में सर्फडम खत्म हुआ उसी समय एक दूसरी महत्वपूर्ण बात भी वहां हुई; वह थी पच्छिमी यांत्रिक उद्योग धन्धों का शुरू होना और उनका बढ़ाना। तब तक रूस सम्पूर्णतः, मध्य युगों की तरह का एक खेतिहर अविकसित देश था। अब मास्को, सेन्टपीटर्सबर्ग एवं अन्य शहरों में अनेक उद्योग व्यवसाय खुले और साथ ही साथ रूस के समाज में मजदूरवर्ग उत्पन्न हुआ। इन मजदूरों से दिन-रात काम लिया जाता और उनको खूब चूसा जाता था। इन मजदूरों में पच्छिमी यूरोप से मार्क्स के उपरोक्त क्रांतिकारी विचार आ आकर फैलने लगे। इन विचारों के माध्यम थे कुछ नई-चेतनायुक्त लिखे पढ़े नवजवान; उनमें प्रमुख था लेनिन। इन नवजवानों ने मार्क्स के सिद्धान्तों पर एक दल कायम किया था, जिसका नाम था समाजवाद

प्रजासत्तात्मक मजदूर दल (Social Democratic Party)। जार अपने क्रूर और सर्वत्र फैली हुई खुफिया पुलिस के जाल से इन लोगों की खबर रखता था। उसकी सजा का तरीका था—या तो देश निकाला, या साइबेरिया के जंगलों में अपने मित्र और परिवार से दूर कठिन मजदूरी, या फांसी। लेनिन एवं अन्य अनेक नवजवानों को देश निकाला मिल चुका था। लेनिन और उसके साथी यूरोप में और अधिकतर लंदन में अपना जीवन बिताते थे। वहीं रूस की मजदूर पार्टी के प्रोग्राम और सिद्धान्त बनते थे और वहीं से उस पार्टी के कार्यों का परिचालन होता था। सन् १९०३ में उपरोक्त समाजवादी प्रजासत्तात्मक दल के सामने एक प्रश्न आया कि अपने काम को आगे धीरे धीरे सरकार से समझौता करते हुए बढ़ाना चाहिये, या एक दम बिना कोई समझौता किये उग्रता से मार्क्स द्वारा बताये हुए क्रांति के रास्ते से। लेनिन बिल्कुल सुलझे हुए विचारों का मार्क्सवादी था, वह बिना कोई समझौता किये शुद्ध क्रांति के मार्ग के पक्ष में था। इस प्रश्न पर पार्टी के दो टुकड़े हो गये। उग्रवादी, लेनिन की बात मानने वाले बोल्शेविक (एक रूसी शब्द जिसका अर्थ होता है बहुमत) कहलाये, और समझौतावादी मैनशेविक (एक रूसी शब्द जिसका अर्थ होता है लघुमत) कहलाये। शायद उस समय लेनिन के ही अनुयायी अधिक थे। इनमें प्रमुख थे ट्रॉटस्की और स्टालिन। यह पृष्ठभूमि थी जिसमें रूस की क्रांति की आग धीरे धीरे सुलगने लगी। इस आग की प्रथम लपट सन् १९०५ में लगी जब जगह जगह कारखानों में मजदूरों ने तंग आकर स्वयं हड़तालें कर डालीं। यह वही समय था जब रूस और जापान का युद्ध छिड़ा हुआ था। ये हड़तालें राजनैतिक हड़तालें थीं, जिनका उद्देश्य एक दृष्टि से सरकार याने जार के खिलाफ बग़ावत करना था। उस समय इन मजदूरों का कोई नेता नहीं था किन्तु स्वयं मजदूरों ने ही आगे होकर ये हड़तालें और बगावतें की थीं। जारशाही को इन बगावतों से कुछ दबना पड़ा और उसको प्रथम बार यह महसूस हुआ कि वह एक नई दुनिया

में है जहां मनमानी निरंकुशता नहीं चल सकती, अतः उसने एक वैधानिक परिषद (डूमा) बनाने का वायदा किया। बग़ावत कुछ शांत हुई, जमींदार लोग भी डरे कि कहीं क्रांति फैल न जाय। इसलिये वे भी किसानों को कुछ सुधार देने को राजी हो गये। मामला शान्त पड़ जाने पर जार ने बदला लेना आरम्भ किया, और क्रांतिकारियों को घोर निर्दयता से खत्म करना शुरू किया। कहते हैं कि जार ने मास्को में बिना मुकदमा चलाये ही एक हजार आदमियों को फांसी देदी और ७० हजार को जेल भेज दिया। ऐसा भी अनुमान है कि देश के भिन्न भिन्न भागों में लगभग १४ हजार आदमी मरे; एक बार तो मानों क्रांति शान्त हो गई।

किंतु आग नीचे ही नीचे सुलग रही थी। सन् १९१४ में जब विश्व-व्यापी महायुद्ध शुरू हुआ, रूस में फिर मजदूरों में १९०५ जैसी चेतना जागृत होगई थी। ज्यों ज्यों युद्ध बढ़ता जारहा था रूस की परिस्थिति खराब होती जारही थी। देश में अन्न-भोजन एवं दूसरी आवश्यक वस्तुओं की कमी होने लगी थी। लोगों में बहुत अशान्ति थी। ऐसी अवस्था में मार्च सन् १९१७ में पेट्रोग्रेड के कारखानों के मजदूरों ने हड़ताल और बग़ावत करदी। जार ने उनको दबाने के लिये अपनी फौजें भेजीं किंतु फौज ने उन पर गोली नहीं चलाई। पेट्रो-ग्रेड के मजदूरों का उत्साह बढ़ा और यह बात फैल गई कि मजदूर और सेना एक होगई हैं। यही बात मास्को तक पहुंची, मास्को के मजदूरों ने भी हड़ताल और बगावत करदी। जब फौजों ही ने सरकार का साथ छोड़ दिया था, तो सरकार टिकती किसके बल पर? जार को गद्दी छोड़कर भागना पड़ा। अब रूस में यदि कोई सत्ता बची तो वह मजदूरों और सैनिकों की थी। जगह जगह के मजदूरों ने अपनी अपनी पंचायतें याने प्रतिनिधि सभायें बनाईं; मजदूरों की ये प्रतिनिधि सभायें सोवियट (Soviet) कहलाईं। इसी प्रकार की सोवियट सैनिकों ने भी बनाईं। यह क्रांति जनता में से स्वयं उद्भूत हुई थी। इसका नेतृत्व अभी तक

किसी ने नहीं किया था। उन्होंने क्रांति तो कर डाली और जब वे उसमें सफल होगये तो उनको यह नहीं सूझा कि अब राज-सत्ता चलायें किस प्रकार। कुछ वर्षों से डूमा (रूस की धारा सभा=Parliament) चली आरही थी जिसमें जार के जमाने के उच्च वर्गीय और मध्यम वर्ग के लोगों के प्रतिनिधि थे। मजदूरों और सैनिकों ने सोचा कि अब जार तो भाग ही गया है, जारशाही तो खत्म हो ही गई है, डूमा ही लोक-सत्तात्मक सिद्धान्त पर राज्य चलाये। डूमा ने अधिकार ग्रहण किया। इस प्रकार १९१७ की मार्च क्रांति का अंत हुआ।

डूमा पूंजीपति, मध्यमवर्ग, के लोगों की प्रतिनिधि सभा थी। किंतु सोवियत भी अपनी इच्छा के अनुसार उसको चलाना चाहते थे। इन सोवियतों में इस समय बहुमत मेनशेविक (नर्म दल) लोगों का था-जो, जैसा कि ऊपर जिक्र किया जा चुका है, मार्क्स के पक्के अनुयायी नहीं थे, एवं जो क्रांति के बजाय किसी प्रकार समझौते से काम चलाना चाहते थे। उनमें मध्यम वर्ग का एक प्रसिद्ध वकील, केरेन्सकी, प्रधान मंत्री बना। वैसे क्रांति तो मजदूरों ने की थी किंतु एक दृष्टि से राज्य स्थापित हुआ मध्यम एवं पूंजीपतिवर्ग का।

जार के पतन की ये सब खबरें यूरोप में पहुंच चुकी थीं। लेनिन ने जो उस समय स्विटजरलैण्ड में था, और उसके साथियों ने भी इस क्रांति के समाचार सुने। वे छिपकर किसी प्रकार रूस आ गये। १६ अप्रेल सन् १९१७ के दिन[1] लेनिन पेत्रोग्राद पहुंचता है, क्रांति के

१ रूस में दिनांक गणना की एक पुराणी प्रथा थी। उसमें और नई प्रचलित प्रणाली में १३ दिन का अन्तर रहता है। प्राचीन प्रणाली के अनुसार कोई भी दिनांक १३ दिन पहले पड़ता है। अतः पुरानी प्रथा के अनुसार १६ अप्रेल, ३ अप्रेल माना जाएगा। इसी तरह साम्यवादी क्रांति जो ७ नवम्बर के दिन सफल हुई, पुरानी प्रथा के अनुसार २५ अक्टूबर की मानी जाती है, और इसीलिए वह "अक्टूबर क्रांति" के नाम से प्रसिद्ध है। यहां नई प्रचलित प्रथा के अनुसार तारीखें दी गई हैं।

रंगमंच पर आता है, स्थिति का अध्ययन करता है, और महसूस करता है कि अभी तक क्रांति ने मार्क्स के उद्देश्य की तो पूर्ति नहीं की। उसने तय किया कि मध्यमवर्ग और पूंजीपति वर्ग की जो पूंजीवादी सरकार क़ायम होगई थी उसको मजदूर और किसान साथ मिलकर खत्म करें और उसकी जगह अपनी स्वयं की सरकार कायम करें। मजदूरों और सैनिकों की सोवियटों में (पंचायतों में) उसने यह मार्क्सवादी मंत्र फूंका, और धीरे धीरे, मजदूरवर्ग को अपने साथ लेकर अपने पथ पर वह आगे बढ़ा। इसी समय ट्रोटस्की भी जो अब तक अमेरिका में था, आ चुका था। स्टालिन भी शामिल हो चुका था। क्रांति का दूसरा दौर (अप्रेल-नवम्बर १९१७) शुरू हुआ।

लेनिन का पहला काम यही था कि सोवियतों (पंचायतों) में मेनशेविकों (नर्मदल) के बजाय बोलशेविकों (मार्क्सवादी उग्रदल) का बहुमत बनाए। ट्रोटस्की, जो एक तूफानी वक्ता था, के भाषणों के प्रभाव से एवं लेनिन के कुशल संगठन से एवं स्टेलिन की अदम्य कार्य-शक्ति से सोवियतों का रूप बदलने लगा, उनमें बोलशेविक घुसने लगे। अक्टूबर आते आते सोवियतों में बोलशेविकों का बहुमत हो गया। इससे करेंस्की की सरकार घबराने लगी और उसने अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये बोलशेविकों को दबाना शुरू किया और उनका भयंकर दमन प्रारम्भ किया, किन्तु लेनिन ने शांति कायम रक्खी, राजकीय सत्ता पर क़ब्जा करने के लिए वह उपयुक्त मौके की टोह में लगा रहा। जब उसने देख लिया कि हरएक दृष्टि से करेन्सकी की अस्थायी सरकार को हटा देने की उनकी तैयारी पूरी है तो उसने बोलशेविक केन्द्रीय समिति की अनुमति से सभी पार्टी-संगठनों को सशस्त्र विद्रोह के लिये तैयार रहने का आदेश दिया। ६ नवम्बर को विद्रोह शुरू हो गया। ७ नवम्बर को, रैडगार्डों के दस्तों और क्रांतिकारी सैनिकों ने रेलवे स्टेशनों, डाकखानों, तारघरों, मंत्री-गृहों और राज्य-बैंक पर क़ब्जा कर लिया। क्रांतिकारी, मजदूरों, सैनिकों और जहाजियों ने अस्थायी सरकार

के अड्डे शरद् प्रासाद पर हल्ला बोलकर क़ब्जा कर लिया, और खून का एक कतरा बहाए बिना अस्थायी सरकार को गिरफ्तार कर लिया। कोम्यूनिस्ट विद्रोह की विजय हुई। उसी रोज (७ नवम्बर) की शाम को १० बजकर ४५ मिनट पर सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस शुरू हुई। बोल्शेविकों ने रूस के नागरिकों के नाम एक घोषणापत्र निकाला। इसमें कहा गया था कि पूंजीवादी अस्थायी सरकार हटा दी गई है और राज्यसत्ता सोवियतों के हाथ में आ गई है। हजारों वर्षों के पुराने मानव इतिहास में यह पहला मौका था जबकि इस भूमंडल पर अबतक पीड़ित और प्रताड़ित वर्ग के लोगों की सरकार स्थापित हुई। लेनिन का सपना साकार हुआ। रूसमें पंचायती समाजवादी गणराज्यों का संघ (यूनियन ऑफ सोवियत सोसियलिस्ट रिपबलिक्स) स्थापित हुआ। साम्यवादी (कोम्यूनिस्ट) दल के नेतृत्व में जन, नए समाजवादी समाज के निर्माण में लगे।

पुरानी मान्यताओं को ध्वस्त करती हुई, नई संस्कृति की इस अरुणिम आभा को फैलता देख, आसपास के पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देश घबराए, जैसे ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, जापान, इत्यादि। तेरह साम्राज्यवादी देशों ने तुरन्त रूस में अपनी फौजें भेजीं, समाजवादी राज्य की स्थापना को रोकने के लिए एवं रूस के धनिकों और भू-पतियों की सहायता से वहां फिर से पूंजीवादी राज्य क़ायम करने के लिए। रूसी कोम्यूनिस्टों पर, जिनका दुनिया में अन्यत्र कोई सहायक नहीं था, सुदूर पूर्व में जापानी फौजों ने, दक्षिण में फ्रेंच एवं अंग्रेजों की सम्मिलित फौजों ने, यूक्रेन में जर्मन फौजों ने, और उत्तर में अंग्रेजी फौजों ने हमला किया। सन् १९१७ से १९२० तक देशव्यापी गृह-युद्ध चला। एक ओर तो थे साम्यवादी भावना से अनुप्राणित मजदूर और मजदूर-सैनिक—इतिहास की दिशा के दृष्टा लेनिन और स्तालिन के नेतृत्व में; दूसरी ओर थे रूसी धनिक, भूपति, उनके अनुयायी पुराने सैनिक और १७ देशों की विदेशी फौजें। किन्तु जनशक्ति की ऐतिहासिक गति, नई आशा और

नए उत्साह के सामने विदेशी फौजें लड़ती लड़ती आखिर थककर चली गईं, और प्रतिक्रियावादी पुराना सत्ता-प्राप्त वर्ग प्रायः समाप्त हुआ। किन्तु इस गृह-युद्ध में से रूस सर्वथा तो अछूता नहीं निकल पाया। उसे बाल्टिक सागर से लगा अपना कुछ हिस्सा खोना पड़ा। भूमि के इस हिस्से में फिनलैण्ड, एस्थोनिया, लैटविया और लिथूनिया नाम से अलग अलग बिल्कुल नए राज्य (जिनका पहिले कभी अस्तित्व नहीं था) पैदा होगए। पोलैण्ड का भूखण्ड भी रूस से पृथक होगया। गृह-युद्ध और विदेशी फौजों की अड़ंगेबाजी से रूस मुक्त भी नहीं हो पाया था कि दुष्काल ने उसे आ घेरा। जीवन अस्त व्यस्त और त्रासित होगया, लाखों जन मर गए। पश्चिमी यूरोप के देश आशा करते रहे समाजवादी व्यवस्था असफल रहेगी, साम्यवादी विचारधारा व्यवहार में नहीं लाई जा सकेगी, नव सत्ता प्राप्त साम्यवादी दल उखड़ जाएगा। किन्तु कार्लमार्क्स से प्राप्त ऐतिहासिक दृष्टि के सहारे, मुक्त मानव-जाति की कल्पना से प्रेरित हो, लेनिन अदम्य उत्साह से आगे बढ़ा, किसी तरह रूसी जन को अपने साथ खेंचता हुआ। और धीरे धीरे समाजवादी समाज की जड़ को इतना मजबूत बना दिया कि १९२३ के आते आते दुनिया के लोग महसूस करने लगे और मानने लगे कि हां, समाजवाद तो वस्तुतः स्थापित होगया। इतना काम पूर्ण होने पर जनवरी १९२४ में लेनिन की मृत्यु होगई। उसके बाद स्तालिन रूस का सर्वेसर्वा बना, और उसके नेतृत्व में देश समाजवादी निर्माण के पथ पर अग्रसर हुआ।

रूस का समाजवादी नव निर्माण

देश ऐसे समाज के निर्माण में लगा जहां उत्पादन के साधनों पर एवं सम्पूर्ण भूमि पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व हो, कुछ इने गिने व्यक्तियों का नहीं; जहां उत्पादन समाज की आवश्यकताओं के अनुसार समाज के हित में होता हो, कुछ एक व्यक्तियों के निजी लाभ के लिए नहीं; जहां व्यक्ति को परिश्रम करने की प्रेरणा पैसे के लोभ से नहीं,

किन्तु जीवन के सहज स्वभाव और समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाने की भावना से मिलती हो। इस निर्माण का लक्ष्य ऐसा समाज था जहां व्यक्ति का किसी भी प्रकार का शोषण न हो, जहां प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित अच्छी रोटी मिले, रहने के लिये मकान मिले, एवं उच्चतम शिक्षा मिले, जहां सब अपनी शक्ति और दक्षता के अनुसार समाज में कोई भी कार्य करें और अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार धन अथवा आवश्यक वस्तुयें लेलें। किन्तु इस लक्ष्य तक पहुंचना कोई आसान काम नहीं था—साम्यवादी नेताओं ने इस बात को देखा; और उन्होंने कहा, सम्पूर्ण समाज की, सम्पूर्ण राष्ट्र की भलाई के लिये प्रत्येक व्यक्ति को त्याग करना ही पड़ेगा; यह त्याग और बलिदान व्यक्ति को खुशी खुशी अपना सामाजिक कर्त्तव्य समझकर करना चाहिये; और यदि वह ऐसा नहीं करता है और यदि समाज और राष्ट्र को ऊंचा उठाना ही है तो यह त्याग और बलिदान जबरदस्ती उससे कराया जाये—सम्पूर्ण राष्ट्र और समाज के कल्याण के लिये। रूस के साम्यवादी नेताओं में अद्भुत कुछ ऐसी विचक्षणता थी कि वे सम्पूर्ण राष्ट्र की नसों में बिजली की करंट की तरह एक अद्भुत जोश प्रवाहित कर सके, और लोग अपनी पूरी ताकत लगाते हुए समाज को ऊंचा उठाने में तल्लीन होगये। जिन लोगों ने आलस्यवश काम से मुंह मोड़ा, जिन लोगों ने निजी स्वार्थवश अथवा दलबन्दी के कारण काम में रोड़े अटकाना चाहा, काम को ऊंचा उठाने के बजाय बिगाड़ना और नष्ट करना चाहा, उनको झेलनी पड़ी जेल और फिर भी न माने तो "समाज की रक्षा" के लिये गोली। नेताओं ने साफ साफ कह सुनाया कि मजदूरों और किसानों को, सब तरह के कार्यकरों को अनुशासन और शिस्त से काम करना पड़ेगा, काम में किसी प्रकार की ढिलाई या सुस्ती बर्दाश्त नहीं की जायेगी। जो काम नहीं करेगा उसे रोटी भी नहीं मिलेगी। जो जितना एवं जैसा काम करेगा उसको उतने ही पैसे मिलेंगे। सबको भरपूर धन, सबको सबकी आवश्यकताओं के अनुसार भरपूर चीजें तो तभी मिलेंगी जब सब

कार्यकर (मजदूर, किसान, कारकून, आफिसर, इन्जीनियर, डाक्टर, शिक्षक, इत्यादि-इत्यादि) कड़ा परिश्रम करके, काम में अपनी निपुणता बढ़ाकर चीजों के उत्पादन में इतनी वृद्धि करलें कि चीजें सबके बंटवारे में आ सकें। जब तक ऐसी स्थिति नहीं आती तब तक लोगों को इन चीजों की कमी बर्दाश्त करनी ही पड़ेगी। सर्वतोमुखी विकास के लिये, यथा कृषि, उद्योग, यंत्रनिर्माण, रेल, जहाज, हवाईजहाज, खनिज-पदार्थ, तेल उद्योग, अन्वेषण कार्य, शिक्षा स्वास्थ्य इत्यादि के विकास के लिये, ढिलाई और अकर्मण्यता के खिलाफ जिहाद बोला गया, विज्ञान का सहारा लिया गया, और फिर जमकर कदम आगे बढ़ाया गया। पहिले एक पंचवर्षीय योजना बनी (१९२८-३२ ई.), फिर दूसरी (१९३३-३७ ई.), और फिर तीसरी, जिसके दो ही वर्ष बाद रूस को द्वितीय महायुद्ध में फंसना पड़ा। योजनाओं का अन्तिम स्वरूप तय होने के पहले प्रस्तावित योजनाएं पत्रों में प्रकाशित होती थीं, कारीगर मजदूर, कृपक, वैज्ञानिक, इन्जीनियर, सब लोग उन पर बहस करते थे,—कारखानों, खेतों, अनेक सभाओं एवं दलों में उन पर वाद-विवाद होता था, योजना की छोटी से छोटी से लेकर बड़ी से बड़ी प्रत्येक विचारणा में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं संजीदगी की भावना होती थी। और फिर योजना कमीशन द्वारा योजना संबंधी अन्तिम स्वरूप तय होने पर, और योजना के अन्तर्गत प्रत्येक जिले के लिए, प्रत्येक गांव के लिए, प्रत्येक फैक्टरी के लिए, प्रत्येक छोटी से छोटी बात तय होने पर, सबको योजना पूरी करने में एक मन हो अपने अपने निर्दिष्ट काम में जुट जाना पड़ता था। योजनाओं को सफल बनाने के लिए यदि आठ घन्टे, दस घन्टे यहां तक कि चौदह-चौदह घन्टे भी काम करना पड़ा तो क्या हुआ; यदि वर्षों फटे-टूटे कपड़ों से काम चलाना पड़ा तो क्या हुआ; यदि पेट के पट्टी बांधनी पड़ी और अन्य विकसित देशों से आवश्यक मशीनरी मंगाने के लिए अपना अन्न, अपना पनीर, मक्खन, खुद न खाकर अन्य देशों को भेजना पड़ा तो क्या हुआ; यदि लाखों छोटे छोटे विद्यार्थियों

तक को महीनों महीनों तक स्कूल छोड़ कर खेतों में, कारखानों में एवं जंगलों तक में काम करना पड़ा तो क्या हुआ। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक, यहां तक कि बर्फीले टंड्राज में भी, साईबेरिया के जंगलों में भी, यूराल के पर्वतों में भी, और एशियाई रूस के दूरस्थ सर्वथा अविकसित देशों में भी, सर्वत्र हथौड़ा और हसिया लेकर आदमी फैल गये और एक नये उत्साह और एक नई स्फूर्ति से अपने अपने निर्णित काम में जुट गये, कोई नहीं छूटा—बाल, वृद्ध, औरत, मर्द, सब काम में व्यस्त; सब तरह के कामों में व्यस्त—खेत में, कारखानों में, जहाजी अड्डों में, खानों में, सेना में, सरकारी दूकानों में, आफिसों में, स्कूल और कॉलिजों में एवं अन्वेषणालयों में—ऐसा मालूम होता था कि कोई महान् राष्ट्रीय पर्व मनाया जा रहा है और समारोह को सफल बनाने के लिए सब लोग चाव से काम में जुटे हुए हैं।

और फिर केवल दस वर्ष के परिश्रम के उपरान्त :—

१. १९३८ तक औद्योगिक उत्पादन ९०८ प्रतिशत तक बढ़ गया—इसका अर्थ हुआ कि यदि पहले १०० मण इस्पात बनता था तो अब ९०० मण से भी अधिक बनने लगा, यदि पहले १००० गज कपड़ा बनता तो ९००० से भी अधिक गज कपड़ा बनने लगा,—अर्थात् यदि पहिले रूस में बनी औद्योगिक वस्तुयें केवल १०० आदमियों के लिए पर्याप्त थीं तो अब ९०० से भी अधिक आदमियों के लिए काफी थीं।

२. अन्न उत्पादन में तो इससे भी अधिक विचक्षण बात हुई। जहाँ १९२७ में १० लाख टन भी अन्न उत्पन्न नहीं हुआ था वहां सन् १९४१ में १३ करोड़ टन अन्न खेतों से इकट्ठा किया गया। जरा कल्पना तो कीजिये—१३० गुणा अधिक। जहां १९२४ में खेतों के लिए २६०० ट्रैक्टर थे, सन् १९४० में ५,२३,१०० ट्रैक्टर होगये,—अर्थात् लगभग २०० गुना अधिक।

३. १९१४-१५ में जहां केवल १९५३ हाई स्कूल, जिनमें ४२८०३ शिक्षक एवं ६३५५१ विद्यार्थी थे, वहां १९३९ में १५८१० हाई स्कूल जिनमें ३७७३३७ शिक्षक एवं १०८३४६१२ विद्यार्थी होगये।

४. १९१३ में जहां केवल ८५९ समाचार पत्र थे जिनकी २७००००० प्रतियां छपती थीं, १९३८ में वहां ८५०० समाचार पत्र थे जिनकी ३७५००००० प्रतियां छपती थीं।

राष्ट्र एक छोर से दूसरे छोर तक उन्नत समृद्ध और हरा भरा हो गया। रेगिस्तानों में सब्जियां उगने लगीं, टण्ड्रा के बर्फीले मैदानों में फल जमीन में तेल के कुएं निकले, और यूराल पर्वतों के पार मशीनरी। मजदूर और किसानों के बच्चे बड़े बड़े इन्जीनियर और वैज्ञानिक होने लगे, और स्त्रियां हवाई जहाजचालक और रूस के दुश्मनों की छातियों पर बम फोड़ने वाले सैनिक। कितना अद्भुत यह उत्थान था—मानो अज्ञान के अन्धकार से घिरा, आलस्य में सोया हुआ "महा—मानव" जाग कर उठ खड़ा हुआ हो—और उसको उठ खड़ा देख, तमाम दुनिया आश्चर्यचकित सी उसकी ओर एक टक ताकने लगी हो।

पूर्वीय देशों में राष्ट्रीय भावना का विकास

एक देश, एक जाति, एक भाषा, एक धर्म, एक पुराने इतिहास के आधार पर जिस राष्ट्रीयता की भावना का प्रथम विचार यूरोप के लोगों ने १५ वीं १६ वीं शताब्दी में किया और जिसका तीव्र रूप १९ वीं शताब्दी में विकसित हुआ, और जो अन्त में प्रथम महायुद्ध के रूप में फूटकर निकली, उसी राष्ट्रीयता की भावना की जागृति प्रथम महायुद्ध के बाद एशियाई लोगों में भी होने लगी, और उसका खूब विकास हुआ। वस्तुतः महायुद्ध विश्व में एक ऐसी घटना हुई थी, जिसने पूर्व के भी सोये हुए देशों को झकझोर दिया था और उनको यूरोप के प्रति सचेष्ट कर दिया था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व और बाद प्रायः समस्त एशिया पर यूरोप वालों का या तो राज्य था, या जिन कुछ देशों में

राज्य नहीं था वहां उनका आर्थिक दबाव। राष्ट्रीयता की भावना विकसित होने के बाद प्रत्येक एशियाई देशों में यूरोपीय राज्यों से, यूरोपीय राज्य-भार से, या उनके आर्थिक दबाव से मुक्त होने की चेष्टायें होने लगीं। इन चेष्टाओं ने कई देशों में उग्र रूप भी धारण किया। यहां तक कि कई आतंकवादी विद्रोह हुए यद्यपि उन सब को यूरोपीय शासकों ने अपनी मशीनगन और संगीन की शक्ति से दबा दिया। ठीक है एशियाई देशों के अपनी स्वतन्त्रता के लिये ये प्रयत्न एक दम सफल नहीं हो पाये किन्तु एक भावना जागृत हो चुकी थी और एक चिनगारी लग चुकी थी। मध्य युगीय एशिया यूरोप के ही पद चिन्हों में, प्रथम महायुद्ध के बाद, आधुनिकता की ओर अग्रसर होने लगा था।

जापान—यूरोप का सब से अधिक असर पड़ा जापान पर। यहां तक तो ठीक कि जापान ने अपने आपको यूरोप के ढंग का बहुत जल्दी से ही एक यांत्रिक औद्योगिक देश बना लिया था; मशीन, कपड़ा, खेल-खिलौने और औजार-यन्त्र इत्यादि का खूब उत्पादन होने लगा था। सामरिक दृष्टि से भी उसने अपने आपको खूब शक्तिशाली बना लिया था। किन्तु इसके साथ साथ यूरोप की तरह ही उसकी राष्ट्रीयता संकुचित होने लगी, और उसमें साम्राज्यवादी उग्रता भी आने लगी। उसने ख़याल बना लिया कि एशिया जापान का है, वहां की सूर्यवंशी जाति (जापानी सम्राट अपने आपको सूर्य का वंशज और उत्तराधिकारी मानते हैं) का अधिकार है कि वे समस्त एशिया पर राज्य करें। अतः १९०४-५ में जापान ने कोरिया पर तो अपना अधिकार जमा ही लिया था तदनन्तर उसकी आंखें मंचूरिया की ओर हुईं। सन् १९३१ में उसने समस्त मंचूरिया को हड़प लिया। सन् १९३७ में समस्त चीन को हड़पने के लिए उसने अपनी गति प्रारम्भ कर दी। दूसरे विश्व युद्ध के जमाने में (सन् १९३९-४५) प्रायः समस्त पूर्वीय चीन, फिलीपाइन द्वीप, हिन्द-एशिया, मलाया, बरमा, प्रशान्त महासागर में हवाई द्वीप

एवं अन्य द्वीपों पर वह अपना पूर्ण अधिकार जमा चुका था; यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम वर्ष जापान की पराजय के बाद यह जापानी साम्राज्य खत्म हो गया।

चीन—चीन में डा० सनयातसन की अध्यक्षता में जनतंत्र स्थापित हो चुका था, किन्तु कितनी कमजोर उसकी सत्ता थी और कितने छोटे से क्षेत्र में उसका राज्य, जब कि वस्तुतः चारों ओर स्वतन्त्र प्रान्तीय सरदारों का राज्य था, इत्यादि इन बातों का जिक्र पहले हो चुका है। राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र और आर्थिक उन्नति और समानता के अपने तीन सिद्धान्तों पर सनयातसन जब अपने देश के निर्माण का प्रयत्न कर रहा था, तब सन् १६२५ में उसकी मृत्यु हो गई। तदनन्तर चीन में सैनिक सरदारों में गृहयुद्ध होता रहा किन्तु सन् १६२८ में चांग-काई-शेक इन सैनिक सरदारों को परास्त कर चीनी जनतन्त्र का अध्यक्ष बना और इस उद्देश्य की ओर वह अग्रसर हुआ कि चीन एक सुसंगठित शक्तिशाली राष्ट्र बने। उसके रास्ते में दो बाधायें आईं; एक तो स्वयं चीनी साम्यवादी दल की, जिसका रूस के प्रभाव से जन्म हो चुका था और जिसका विकास सन् १६२२-२३ में होने लगा था; दूसरी बाधा थी, जापान की साम्राज्यवादी आकांक्षा।

भारत—भारत में अंग्रेजी राज्य था। प्रथम महायुद्ध में इंगलैंड एक पक्ष की ओर से लड़ रहा था; भारत को भी अपना जन-धन इङ्गलैंड की सहायता में समर्पित करना पड़ा क्योंकि भारत इङ्गलैंड के आधीन था। किन्तु भारत में भी राष्ट्रीय भावना की जागृति हो चुकी थी। पूर्व का यह विशाल देश भी अब करवट बदलने लगा था और इङ्गलैंड के साम्राज्यवाद से मुक्त होने के लिये अग्रसर होने लगा था।

पुराने तुर्की साम्राज्य के देश (मध्य-पूर्व देश) ईराक, फलस्तीन, सीरिया, लेबनान, ट्रांसजोर्डन—याद होगा कि प्रथम महायुद्ध में टर्की की पराजय के बाद टर्की के इन देशों पर इङ्गलैंड और फ्रांस का प्रत्यक्ष

या अप्रत्यक्ष रूप से अधिकार स्थापित हो गया था। इन समस्त देशों में भी तीव्र राष्ट्रीयता की लहर फैली, जगह जगह यूरोपीय शासकों के विरुद्ध हिंसात्मक विद्रोह हुए किन्तु सब विद्रोह बम-वर्षा, मशीनगन और संगीन की शक्ति से दबा दिये गये। ईराक, फिलस्तीन, ट्रांसजोर्डन पर राष्ट्र संघ के शासनादेश के अन्तर्गत ब्रिटेन ने अपना कब्जा जमाये रक्खा और इसी तरह सीरिया पर फ्रांस ने। फिर भी, राष्ट्रवादी विद्रोहों के फलस्वरूप १६३२ ई. में ईराक स्वतन्त्र वैधानिक राजतंत्र घोषित हुआ, यद्यपि ब्रिटिश फौजें वहां बनी रहीं। १६३६ ई० में सीरिया के दो भाग करके सीरिया और लेबनान पृथक दो राज्य निर्मित किए गए, उनकी स्वतन्त्रता का सिद्धांत स्वीकृत किया गया, किन्तु फ्रांस का सैनिक आधिपत्य बना रहा।

अरब—में अवश्य इब्नसाऊद नामक एक योद्धा सरदार उठा जिसने स्वतन्त्र साऊदी अरेबिया राज्य की स्थापना की। सन् १६२६ ई० के लगभग वह स्वतन्त्र स्थिति को पहुंच चुका था। १६३४ में अपने अधीनस्थ देश का नाम उसने साऊदी अरब रख लिया। इसी प्रकार अरब के दक्षिण-पश्छिम किनारे पर यमन नामक एक छोटा सा स्वतन्त्र राज्य एक अरब सुल्तान के आधीन स्थापित था। अरब के नाके अदन बन्दरगाह पर और आस पास के कुछ प्रदेशों पर इङ्गलैंड का अधिकार कायम रहा।

मिश्र—में भी जहां सन् १८९९ में अंग्रेजों ने मिश्र के सुल्तान से खटपट करके सुल्तानियत कायम रखते हुए भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, अनेक हिंसात्मक विद्रोह हुए, जिसकी परिणति सन् १६३६ में इस संधि में हुई कि मिश्र स्वतन्त्र राष्ट्र मान लिया गया किन्तु वहां ब्रिटेन को नियमित सेनायें रखने का अधिकार रहा।

टर्की—याद होगा प्रथम महायुद्ध में टर्की का विशाल साम्राज्य जर्मनी के पक्ष की ओर से इङ्गलैंड-फ्रांस के खिलाफ लड़ा था। इस

युद्ध में टर्की साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। यह समूल ही नष्ट हो जाता, लेकिन युद्ध-काल में मुस्तफाकमालपाशा (१८८१-१९३८) नामक एक प्रतिभाशाली और दूरदर्शी टर्की योद्धा का उदय हुआ। उसने अपनी दक्षता से यूरोप में कुस्तुनतुनियां और समीपस्त प्रदेश पर और एशिया में अनातोलिया (एशियामाइनर) पर टर्की–प्रभुत्व कायम रक्खा और इस तरह से टर्की एक साम्राज्य के रूप में नहीं किन्तु एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में बचा रहा। शताब्दियों से टर्की में टर्की सुल्तानों का राज्य चला आता था और ये सुल्तान ही समस्त इस्लामी दुनिया के खलीफा अर्थात् सर्वोच्च धर्म-गुरु माने जाते थे। प्रथम महायुद्ध काल तक टर्की एक मध्य-युगीय देश था किन्तु मुस्तफा-कमालपाशा पर पच्छिमी जागरुकता और प्रगतिवादिता का प्रभाव था। सुल्तान की सेना में धीरे धीरे उसने अपनी शक्ति का संगठन किया और समय आते ही सन १९२२ में एक चोट से सुल्तानियत का अन्त किया और उसकी जगह टर्की में जनतन्त्र की स्थापना की। वह स्वयं टर्की का प्रथम अध्यक्ष बना। अपने देश की उन्नति के लिए वह तीव्रता से आगे बढ़ा और एक साहस भरे मन से सन् १९२४ में युगों से चले आते हुए इस्लामी दुनिया के धर्मगुरु, खलीफा, का भी उसने अन्त कर दिया। सारी इस्लामी दुनिया का विरोध होते हुए भी खलाफत का अन्त हुआ। इतना ही नहीं—उसने कुरान पर आधारित न्यायालयों तथा विधियों की प्रणाली का उन्मूलन किया, तथा पाश्चात्य नवीन विधि-संहिताओं को प्रचलित किया। मुसलमानियत की निशानी फेज-टोपी को भी अपनी एक आज्ञा से अपने देश से हटा दिया। फेज-केप की जगह हैट नजर आने लगे। इसी प्रकार की एक दूसरी आज्ञा से उसने औरतों के लिए बुरका और पर्दा गैरकानूनी घोषित कर दिया, बहु-विवाह की प्रथा का भी उन्मूलन किया (१९२५) तथा नागर विवाह (Civil marriage) को ही कानूनन मान्य समझा गया। १९३५ में शुक्रवार के स्थान पर रविवार को सरकारी अवकाश घोषित किया गया। टर्की

भाषा को रोमन-लिपी में लिखवाना प्रारम्भ कर दिया और एक आधुनिक सशक्त राष्ट्रीय सेना का निर्माण किया। टर्की एक आधुनिक शक्ति बनने लगा।

अफगानिस्तान—में अफगानी बादशाह का स्वतन्त्र राज्य चलता रहा। एक नव-विचार-युक्त बादशाह, जिसका नाम अमानुल्लाखां था, के जमाने में देश को पश्चात्य सभ्यता में रंगने के प्रयत्न किये गये, किंतु वे विशेष सफल नहीं हुए।

ईरान—ईरान की स्थिति ब्रिटिश-रक्षित राज्य के समान थी। १६२१ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध तीव्र संघर्ष छिड़ गया, एक रक्तहीन क्रान्ति हुई, राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई। रजा खां, एक राष्ट्रवादी जनरल प्रधान मंत्री बना। १६२५ में विधान मंडल ने काजर वंश के पुराने शाह को अपदस्थ कर दिया, और १६२६ में जनरल रजा खां स्वयं रजाशाह पहलवी के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। कमाल पाशा की तरह पच्छिमी ढंग पर उसने देश का विकास प्रारम्भ किया, यथा सड़कें बनवाना, मोटर लोरीज द्वारा यातायात प्रारम्भ करना (तब तक इन देशों में—अफगानिस्तान, ईरान में, रेल और मोटर का नामोनिशान नहीं था) एवं पेट्रोल तेल के कूओं की खोज होने के बाद उनका विकास करना। पाश्चात्य आदर्श पर आधुनिक राष्ट्रीय जीवन का आरम्भ हुआ।

अफ्रीका—अबीसीनिया और मिश्र को छोड़कर जिसका जिक्र ऊपर कर आये हैं बाकी का सारा अफ्रीका यूरोपीयन देशों के भिन्न भिन्न औपनिवेशिक राज्यों में विभक्त था। यहां के आदि-निवासी अभी अशिक्षित और प्राय: असभ्य स्थिति में ही अपना जीवन बिता रहे थे। यद्यपि कुछ ईसाई पादरी लोग ज्ञानप्रसार का काम उन लोगों में कर रहे थे, अभी तक उनमें राष्ट्रीयता तथा स्वतन्त्रता की भावना का विकास नहीं हो पाया था।

अमेरिका—प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका तटस्थता की नीति अपनाकर, यूरोप के मामलों से अलग हो गया, वह राष्ट्र संघ का भी सदस्य नहीं बना। व्यापार को छोड़ अन्य सब बातों में शेष विश्व के प्रति उसने उपेक्षावृत्ति अपनाली। निरन्तर उसकी व्यवसायिक एवं औद्योगिक उन्नति होती जाती थी—वह धनी बनता जा रहा था, किंतु सन् १९२९ के आते आते वह एक विकट आर्थिक संकट में फंस गया। यह आर्थिक संकट भी एक अजीब विरोधाभास था। कारखाने बंद होने लगे, बैंक फेल होने लगे; लाखों आदमी बेकार हो गये उनके पास खाने को कुछ नहीं बचा—और यह सब कब ? तब जब कि देश में अन्न का अनन्त भंडार था, सब चीजों का अनन्त भंडार था। चीजें खूब मंदी हो गईं, कारखाने वाले पूंजीपतियों ने कारखाने बंद कर दिये—लोग बेकार हो गये, चीजें थीं, किन्तु खरीदने के लिये उनके पास पैसा नहीं था। कैसी अजीब हालत। कारखानों के मालिकों ने अपनी चीजों का दाम बढ़ाने के लिये सरकार को बाध्य किया कि वह विदेशों से कोई भी चीज नहीं आने दें। सरकार ने तटकर में वृद्धि कर दी—दूसरे देशों के माल की बिकरी बंद हो गई—वहां भी हूबहू वही परिस्थिति पैदा हो गई जो अमेरिका में हो गई थी। सब विश्व में चीजों की मंदी, बैंकों का फेल होना, कारखानों का बंद होना, बेकारी और अर्थ संकट। सन् १९३३ तक विश्व की यह दशा बनी रही। अमेरिका के तत्कालीन प्रेसीडेन्ट रूजवैल्ट ने व्यक्तिवादी आर्थिक व्यवसाय उद्योग में हस्तक्षेप शुरू किया, कई नियम बनाये जिनसे उद्योगों पर नियंत्रण हो; सहकारी सिद्धान्तों पर अवलंबित कई नये उद्योग चालू किये और इस प्रकार अपनी नई आर्थिक नीति (New Deal) से किसी प्रकार देश को आर्थिक संकट के पार उतार दिया। १९३७ ई० के आते आते अमेरिका ने देखा कि जापान अपनी शक्ति बढ़ा रहा है, जर्मनी अपनी शक्ति बढ़ा रहा है—तो रुजवेल्ट ने देश को आग्रह किया कि उसे तटस्थता की नीति छोड़नी पड़ेगी—अमेरिका विश्व से पृथ नहीं था।

यूरोप—जब एशिया में राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावना का प्रसार हो रहा था जिसको दबाने के लिये यूरोपीय देश हर तरीके से प्रयत्न कर रहे थे, तब यूरोपीय देशों में परस्पर धीरे धीरे वही तनातनी पैदा होने लगी थी जो प्रथम महायुद्ध के पहिले थी और जो पिछली २–३ शताब्दियों से उसकी परम्परा बन गई थी। राष्ट्र संघ (१९१९) स्थापित अवश्य हो चुका था और उस संघ के द्वारा यूरोप के लिये एक अवसर था कि वहां के सब प्रमुख देश सामूहिक मेल-जोल से शांति कायम रक्खें और युद्ध न होने दें किन्तु इस अवसर से लाभ नहीं उठाया गया; यह काम मुश्किल भी था। युद्ध के बाद इङ्गलैंड के राजनैतिक या आर्थिक अधिकार में कई प्रदेश आये थे, अतएव वह संतुष्ट था। इसी तरह फ्रांस, पोलेंड, जेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लेविया और रुमानिया भी संतुष्ट थे, क्योंकि उनके भी राज्यों में किसी न किसी रूप में वृद्धि ही हुई थी; किन्तु दूसरी ओर जर्मनी, हंगरी, बलगेरिया और इटली देश थे, जो बरसाई की संधि से बिलकुल भी संतुष्ट नहीं थे। जर्मनी पराजित देश था, उसके कई प्रदेश जैसे रूर और डेनजिग अलसेस और लोरेन उससे छीन लिये गये थे, उसकी फौज कम करदी गई थी, उसको युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिये प्रति-वर्ष बहुत सा धन विजयी देशों को देना पड़ता था, उसका राष्ट्राभिमान कुचल दिया गया था, किन्तु उस देश में जीवन अब भी बाकी था, अतः वह तो संतुष्ट होता ही कैसे। इटली भी, जो कि जर्मनी के विरुद्ध लड़ा था, बरसाई की संधि से संतुष्ट नहीं था, क्योंकि उसने जो यह आशा बना रखी थी कि जर्मनी के अफ्रीकन उपनिवेश और अलबेनिया युद्ध के बाद उसको मिलेंगे वह पूरी नहीं हुई। इस प्रकार यूरोप में संतुष्ट और असंतुष्ट दो प्रकार के देशों के गुट्ट बन गये। संतुष्ट देश तो चाहते थे कि राष्ट्र संघ बना रहे और वह बरसाई संधि के अनुसार व्यवस्था और शांति बनाये रखने में सफल हो, किन्तु असंतुष्ट देश परिवर्तन चाहते थे। संयुक्त राज्य अमेरिका ने जो उस समय सबसे अधिक शक्तिशाली देश था राष्ट्र संघ का सदस्य

बनने से इन्कार कर दिया क्योंकि अमेरिका की राष्ट्र सभा में यह तय कर लिया था कि उनका देश यूरोप के किसी झगड़े में नहीं पड़ने वाला है। इस बात से राष्ट्र संघ का प्रभाव और भी कम हो गया था। अतः बजाय सामूहिक शांति के प्रयत्न होने के यूरोप में पूर्ववत दलबंदी होने लगी, और प्रत्येक देश राष्ट्र संघ के नियमानुसार निःशस्त्रीकरण करने के बजाय अधिकाधिक शस्त्रीकरण करने लगा। स्थिति यह थी कि फ्रांस, युद्ध समाप्त होने के बाद, दस वर्ष तक सामरिक दृष्टि से सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र था।

आयरलैंड—यूरोप में केवल आयरलेंड एक देश था—जो स्वतन्त्र नहीं था। इस पर इङ्गलैंड का अधिकार था। आयरलैंड में स्वतंत्रता के लिए युद्ध चले—अंत में सन् १९२२ में आइरिश फ्री स्टेट की स्थापना हुई। डीवेलेरा प्रधान मंत्री बना—उसने वहां सम्पूर्ण जनतन्त्र की परम्परायें कायम कीं।

स्पेन—में राजतन्त्र चला आ रहा था। सन् १९३१ में वहां रक्तहीन क्रांति हुई और जनतंत्र की स्थापना हुई। कुछ ही वर्ष बाद वहां जनतन्त्रीय सरकार और फ्रैंको के अधीन फासिस्ट शक्तियों में झगड़ा हो गया। १९३८ में गणतन्त्र खत्म हुआ और वहां अधिनायकत्व-वाद (Dictator-ship) की स्थापना हुई—इसमें फासिस्ट इटली और जर्मनी की काफी मदद थी।

इटली और फासिज्म

यद्यपि इटली १८६० ई० में स्वतन्त्र हो चुका था, उसके प्रदेशों का एकीकरण हो चुका था और वहां वैधानिक राजतंत्र स्थापित हो चुका था, तथापि वहां कोई एक स्थायी और सुसंगठित सरकार कायम नहीं हो पाई थी। सन् १९१३ तक सार्वभौम मताधिकार भी लोगों को मिल चुका था किन्तु इससे कुछ फायदा नहीं हो सका। वोटिंग में सब तरह की बेईमानी, धांधलेबाजी चलती थी और उपयुक्त आदमी निर्वा-

चित होकर नहीं आते थे। राजनैतिक दल भी कोई सुसंगठित नहीं थे। ब्रिटेन में तो कई सौ वर्षों की परम्परा थी, अनुभव था, इसलिये वहां वैधानिक राजतन्त्र सफलतापूर्वक चलता था, किन्तु इटली में यह परंपरा नहीं बन पाई।

महायुद्ध के बाद इटली में सर्वत्र अशांति थी, बेचैनी थी। लोगों के दिल पर किसी तरह से यह जम गया कि एक विजेता देश होते हुए भी युद्ध से उसको कोई लाभ नहीं मिला। जगह जगह हड़तालें होने लगीं और सरकार की यह आलोचना होने लगी कि वह कुछ भी नहीं कर पा रही है। इसी समय आतंकवादी उपद्रव भी होने लगे। ये उपद्रव करने वाले वे लोग थे जो अपने आपको फासिस्ट कहते थे। इन फासिस्ट लोगों की धीरे धीरे एक विचारधारा विकसित होगई थी, जो फासिज्म कहलाई।

फासिज्म—फासिज्म कट्टर राष्ट्रीयता की भावना है। इसके ध्येय को फासिस्टों के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, "मेरा राष्ट्र में पूर्ण विश्वास है। इसके बिना मैं पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त नहीं कर सकता"। फासिज्म का इटली में, जहां पर मसोलिनी ने इसको जन्म दिया, ध्येय यह था कि इटली सम्पूर्ण विश्व पर अपना महान् आध्यात्मिक प्रभाव डाले। सब नागरिक मसोलिनी की आज्ञा का पालन करें क्योंकि आज्ञा पालन के बिना समाज स्वस्थ नहीं बन सकता।

फासिज्म आर्थिक विचार—फासिज्म विभिन्न वर्गों के हितों के आधारभूत भेद को स्वीकार नहीं करता। साम्यवाद की तरह फासिज्म यह नहीं मानता कि समाज में वर्ग-युद्ध होना अनिवार्य है। चूंकि मार्क्सवाद या साम्यवाद राष्ट्र में वर्ग-कलह पैदा करके राष्ट्र को कमजोर बनाता है इसलिए फासिज्म साम्यवाद का कट्टर विरोधी है। समस्त देश का आर्थिक संगठन केवल एक ही उद्देश्य से होना चाहिए और वह यह कि राष्ट्र शक्ति का उत्थान हो—उसमें व्यक्ति का कोई स्थान नहीं।

फासिज्म : राजनैतिक-विचार—फासिज्म यह विश्वास नहीं करता कि समाज के सभी सदस्य समाज पर शासन करने के योग्य होते हैं, अतः फासिज्म जनतन्त्रवाद का विरोधी है। राष्ट्र की समस्त शासन शक्ति राष्ट्र के किसी एक महापुरुष के हाथ में होती है जिसका संचालन वह किन्हीं योग्य व्यक्तियों के द्वारा करता है। राष्ट्र की समस्त प्रवृत्तियों का जैसा शिक्षा, अर्थ, न्याय, युद्ध इत्यादि का संचालन वह एक महापुरुष करता है। राष्ट्र की पात्रता इसी में है कि वह ऐसे एक महापुरुष को अपने में से ढूंढ निकाले। यह एक प्रकार का अधिनायकत्ववाद (Dictatorship) है।

फासिज्म : साधन—अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये राष्ट्र किन्हीं भी साधनों का प्रयोग कर सकता है। युद्ध उसके लिये वर्जित नहीं है, शांति उसके लिये आवश्यक नहीं है।

इटली में फासिस्ट नेता मसोलिनी था जो पहिले इटली की समाजवादी पार्टी का एक प्रमुख सदस्य था। उसके सामने बस केवल एक ध्येय था। वह ध्येय था इटली और इटली निवासियों का भावी-हित, इटली एक शक्तिशाली राष्ट्र बने। इस ध्येय की ओर मसोलिनी और उसके फासिस्ट अनुयायी अविश्रांत गति से बढ़ रहे थे। इसी दृष्टि से वे लोग सरकार को बदलकर वहां अपना कब्जा जमा लेना चाहते थे। जब फासिस्ट नव-जवानों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई, हजारों नव-जवान फासिस्ट वर्दीवाले स्वयं-सेवक बन गये, और उनको यह महसूस होने लगा कि उनके हाथ में काफी शक्ति है, तब उन्होंने इटली की राजधानी रोम की ओर एक सैनिक कूच कर दिया। इस कूच में ५० हजार फासिस्ट स्वयं-सेवक थे। इटली के बादशाह ने पहिले तो चाहा कि फासिस्ट नेता मसोलिनी अन्य दलों के साथ मिलकर अपना मंत्री मंडल बना ले किन्तु वह नहीं माना, अतः गृह युद्ध टालने के लिये बादशाह ने फासिस्ट नेता मसोलिनी को सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित कर दिया। यह घटना सन् १९२२ की थी; मसोलिनी की फासिस्ट सरकार कायम हुई

और कुछ ही वर्षों में मसोलिनी ने सब शासन सत्ता अपने में केन्द्रित कर ली, वह इटली का तानाशाही शासक बना। फासिस्ट स्वयंसेवक क्रमशः इटली की राष्ट्रीय सेना में भर्ती होगये। मसोलिनी तुरन्त इटली को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के काम में लग गया। मजदूर और पूंजीपति और किसान सबको उसने हिंसा और आतंक के डर से मजबूर किया कि वे अधिक से अधिक उत्पादन करें, विरोध का प्रश्न नहीं था क्योंकि विरोध का मतलब था तुरन्त हत्या। मजदूरों से खूब काम लिया गया, और यदि कोई समाजवादी या साम्यवादी नेता सामने आया तो उसको खत्म कर दिया गया। इस एक उद्देश्य और आदेश से कि इटली का साम्राज्य कायम होगा, उसने सारे देश को युद्ध के लिये तैयार कर दिया। खाद्य के मामले में देश को स्वावलम्बी बनाने के लिये बहुत सी अनउपजाऊ भूमियों को उपजाऊ बनाया गया, किसानों को कृषि के नये वैज्ञानिक उपाय सिखाये गये और इस तरह गेहूं का उत्पादन बढ़ाया गया। व्यवसायिक उन्नति के लिये कोयले की कमी को पूरा करने के लिये बिजली अधिक पैदा की गई।

अब मसोलिनी अपना स्वप्न पूरा करने को आगे बढ़ा। सन् १९३४ में उसने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। अफ्रीका महादेश में केवल अबीसीनिया ही एक स्वतन्त्र देश बचा था, जहां पुराने जमाने से वहीं के आदि निवासियों का एक बादशाह, हेलसीलेसी, राज्य करता आरहा था। टैंक, हवाईजहाज, और मशीनगन की शक्ति से अबीसीनिया को अपने कब्जे में कर लिया गया। राष्ट्र संघ कुछ न कर सका। अबीसीनिया का तमाम कच्चा माल और धन इटली को मिला। वह अब और भी अधिक शक्तिशाली हो गया। सन् १९३९ में उसने अपने पड़ौसी देश अलबेनिया पर आक्रमण कर दिया, तभी से द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

जर्मनी और नाजिज्म

१८७१ ई० में जर्मन प्रदेशों का एकीकरण हुआ था और वहां वैधानिक राजतंत्र स्थापित हुआ था। तब से प्रथम महायुद्ध काल तक वह एक अपूर्व

शक्तिशाली राष्ट्र बन गया और उसने लगभग अकेले सारी दुनिया को एक बार हिला दिया। महायुद्ध में अन्त में वह परास्त हुआ; विजेता राष्ट्रों ने संधि के समय उसको बहुत जलील किया और उसे अपना वह अपमान चुपचाप हजम करना पड़ा; किन्तु आग दिल में सुलगती रही। प्रथम महायुद्ध के बाद अब जर्मनी केसर (सम्राट) का खात्मा होचुका था और उसकी जगह जनतंत्रात्मक शासन विधान लागू होगया था। मित्र राष्ट्रों ने चारों ओर से जर्मनी की नाकेबन्दी कर रखी थी, इसके फलस्वरूप खाद्य वस्तुओं का उचित मात्रा में आयात् नहीं होता था और लोग, बच्चे और स्त्रियां दुखी थीं। अकाल और अपूर्ण भोजन से जर्मनी में लाखों मौतें हुईं। इसके अतिरिक्त जर्मनी को क्षति पूर्ति के रूप में जुर्माना देना पड़ा। सन् १९२१ में मित्र-राष्ट्रों ने यह जुर्माने की रकम लगभग ६५ अरब रुपया निश्चित किया। वह जर्मनी जहां के उद्योग व्यवसाय युद्ध-काल में छिन्न भिन्न होचुके थे, जहां का खनिज द्रव्य से परिपूर्ण रूर प्रदेश उससे छीन लिया गया था—उपरोक्त क्षति-पूर्ति कैसे करता।

इस दृष्टि से कि जर्मनी क्षति-पूर्ति करने के योग्य हो, इंगलैंड और अमेरिका यह चाहने लगे थे कि जर्मनी का व्यवसाय उद्योग फिर से विकसित हो, यद्यपि फ्रांस इस डर से कि जर्मनी फिर कहीं शक्तिशाली नहीं बन जाये इस बात के विरुद्ध था। अमेरिका ने जर्मनी को खूब ऋण दिया, जर्मनी के उद्योगों का फिर से विकास हुआ और जर्मनी अपनी उपज का माल भेजकर अपना कर्ज और क्षतिपूर्ति धीरे धीरे अदा करने लगा। किन्तु सन् १९२९ ई० में अमेरिका में एक कठिन आर्थिक संकट आया, अतः अमेरिका और कोई ऋण जर्मनी को नहीं दे सका। इस आर्थिक संकट का कुप्रभाव सारी दुनिया पर पड़ा, जर्मनी के आर्थिक व्यवसायिक, औद्योगिक क्षेत्र में फिर गतिहीनता पैदा हो गई, उसकी आर्थिक स्थिति बिल्कुल बिगड़ गई वहां का सबसे बड़ा बैंक फेल हो गया, जर्मन सरकार का दिवाला निकल गया। उस समय जर्मनी में २० लाख आदमी बेकार थे। प्रतिहिंसा की आग और

भी धधक उठी। १६३२ ई० में जर्मनी की दशा अत्यन्त शोचनीय हो चुकी थी।

ऐसी परिस्थितियों में वहां एक राजनैतिक दल की, जिसका नाम राष्ट्रीय समाजवादी दल (National Socialist Party) था, जड़ें मजबूत होने लगीं। इस दल की स्थापना तो युद्ध के बाद १६२० में हो चुकी थी, किन्तु अब तक यह अज्ञात था-अब यह प्रकाश में आने लगा।

इसकी प्रेरणा इटली की फासिस्ट पार्टी की तरह तीव्र और शुद्ध राष्ट्रीयता की भावना थी। यही पार्टी नाजी-पार्टी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका एक मात्र नेता था हिटलर।

नाजिज्म—प्रत्येक दृष्टि से—ध्येय, आर्थिक उद्देश्य और नीति; सामाजिक उद्देश्य और नीति और साधन इत्यादि में नाजिज्म बिल्कुल इटली के फासिज्म से मिलता जुलता था। कह सकते हैं कि नाजिज्म इटली के फासिज्म का जर्मन संस्करण था। केवल एक बात की इसमें खूब विशेषता थी। वह विशेषता थी हिटलर द्वारा प्रतिपादित और प्रचारित यह सिद्धांत और भावना कि जर्मन लोग आर्य उपजाति के (Aryan race) विशुद्ध और श्रेष्टतम वंशधर हैं, उनकी सभ्यता और संस्कृति संसार भर में सबसे ऊंची है। "दुनिया में एक विशेष जाति सर्वोच्च और श्रेष्ठत्तर है, वह जाति आर्यन जाति है, उस आर्यन जाति के विशुद्ध वंशज केवल जर्मनी के लोग हैं,"-यह विचार नाजिज्म का मूल मंत्र था। संकुचित राष्ट्रीयता में संकुचित सांस्कृतिक भावना का यह एक रंग था; ध्येय तो यही था कि जर्मन राष्ट्र शक्तिशाली हो और विश्व में राज्य करे।

इटली में फासिस्ट पार्टी की तरह जर्मनी में भी नाजी पार्टी की धीरे धीरे खूब शक्ति बढ़ी; वहां की पार्लियामैण्ट में नाज़ी सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। इसके अतिरिक्त नाजियों ने फासिस्टों की तरह अपने दल का संगठन सैनिक ढङ्ग से कर रक्खा था। इसका भी

रीशस्टेग (जर्मन पार्लियामेण्ट) और देश के अध्यक्ष पर आतंकात्मक प्रभाव था। अन्त में जर्मनी के प्रेजीडेंट हिंडनवर्ग ने ३० जनवरी सन् १९३३ के दिन नाजी पार्टी के नेता हिटलर को जर्मनी का प्रधान मन्त्री बनने के लिये आमन्त्रित किया। हिटलर प्रधान मन्त्री बना। २३ मार्च सन् १९३३ के दिन रीश-स्टेग ने एक प्रस्ताव पास कर हिटलर को जर्मनी का अधिनायक (Dictator) घोषित किया।

डिक्टेटर हिटलर—ने सब विरोधी संस्थाओं को और विरोधी दलों को, विरोधी जनों को नृशंसता से खत्म किया। यहूदियों को जिनकी उपजाति आर्यन नहीं थी किंतु सेमेटिक, एक एक करके देश निकाला दिया गया या मार डाला गया। यह इसलिये कि प्रत्येक जर्मन में विशुद्ध आर्यन रक्त रहे। साम्यवादियों को भी जो राष्ट्रीयता की नींव को ढीली करते थे उतनी ही क्रूरता से खत्म किया गया। वैज्ञानिक ढंग से प्रचार द्वारा प्रत्येक जर्मन में शुद्ध राष्ट्रीय भावना का संचार किया, और उनको जोत दिया राष्ट्र-निर्माण के काम में। अन्न-उत्पादन बढ़ाया गया, उद्योगों का अधिक विकास किया गया, उद्योगों में काम आने वाले कई कच्चे माल जैसे रबर, चीनी इत्यादि जो जर्मनी को और देशों से नहीं मिलते थे, उसने नये वैज्ञानिक ढंग से अपने कारखानों में ही पैदा करना शुरू किया। हिटलर का ध्येय स्पष्ट था, उस ओर वह बढ़ता हुआ जारहा था उसने अपनी सेना में वृद्धि की, सर्वाधिक वृद्धि वायु सेना में। प्रत्येक काम बिल्कुल निश्चित प्रोग्रामानुसार होता था और इतना कुशलतापूर्वक कि कहीं भी कुछ भी कमी न रह जाये; विज्ञान की सहायता से युद्ध की मशीनरी को पूर्ण बनाया जारहा था। हिटलर तैयार था–तैयारी कर रहा था।

युद्ध की भूमिका—सन् १९३३ में जर्मनी ने राष्ट्र संघ छोड़ दिया। सन् १९३५ में सार प्रांत जर्मनी को मिला। उसी वर्ष उसने घोषणा कर दी कि वह वरसाई की संधि की सैनिक शर्तों को मानने के लिये तैयार नहीं है और न क्षति पूर्ति की रकम चुकाने को। सन् १९३६ में

उसने राइनलेंड पर कब्जा कर लिया। उसी वर्ष तीन राष्ट्रों यथा जर्मनी, जापान और इटली ने साम्यवादी विरोधी इकरारनामे पर हस्ताक्षर किये जिसका उद्देश्य था कि रूस और साम्यवाद के खिलाफ ये तीनों देश एक दूसरे की सहायता करें। सन् १९३६ में स्पेन में जनरल फ्रेंको के नेतृत्व में फासिस्ट शक्तियों ने वहां की जनतंत्र सरकार के विरुद्ध गृहयुद्ध प्रारंभ कर दिया था—इसमें भी जर्मनी और इटली ने फ्रेंको की सहायता की—और फासिष्ट फ्रेंको विजयी हुआ। अन्य जनतन्त्र देश देखते ही रह गये। हिटलर ने फिर देखा कि इटली, अबीसीनिया का अपहरण कर गया और राष्ट्र संघ कुछ न कर सका तो वह जान गया कि राष्ट्र संघ एक थोथी वस्तु है—वह कुछ कर नहीं सकती। अतः वह भी आगे बढ़ा। सन् १९३८ में समस्त आस्ट्रिया देश को उसने जर्मनी का अंग बना लिया और फिर जेकोस्लोवेकिया को धमकी दी कि उसका पश्चिमी भाग सूडेटनलेंड जिसकी बहुसंख्यक आबादी जर्मनी जाति के लोगों की थी, फौरन जर्मनी को सौंप दिया जाय। इङ्गलेंड से वहां का प्रधान मन्त्री चम्बरलेन उड़कर जर्मनी आया। म्यूनिच नगर में चेम्बरलेन, हिटलर और जेकोस्लोवेकिया के अध्यक्ष डा० बीनीज मिले और तय हुआ कि सूडेटनलैंड जर्मनी को दे दिया जाय और फिर इसके आगे जर्मनी न बढ़े। सूडेटनलैंड जर्मनी के हाथ आया, आस्ट्रिया पहिले आ ही चुका था, जर्मनी अब और भी सशक्त था। उपरोक्त म्यूनिक समझौते के कुछ ही दिन बाद हिटलर ने जेकोस्लोवेकिया पर आक्रमण कर दिया और उसे भी जर्मनी का अंग बना लिया। संसार के आश्चर्य का ठिकाना न रहा? विश्व अब युद्ध के किनारे पर खड़ा था।

युद्ध को रोकने के लिये, विश्व शांति कायम रखने के लिये, राष्ट्रों के झगड़े परस्पर समझौतों से तय कराने के लिये सन् १९१९ में राष्ट्र संघ की स्थापना हुई थी। क्या वह संघ विश्व को युद्ध में पड़ने से नहीं रोक सकता था? दुर्भाग्यवश अमेरिका तो जो एक ऐसा शक्तिशाली

देश था और जिसका अच्छा प्रभाव पड़ सकता था शुरू से ही संघ का सदस्य नहीं रहा।

अपने संकुचित राष्ट्रीय हित में लीन, प्रथम महायुद्ध की विजय के बाद जीत के माल से संतुष्ट इङ्गलैंड ने राष्ट्र संघ की ओर उपेक्षा का भाव बना लिया, फ्रांस अपने आपको अकेला पा शस्त्रीकरण में लग गया। संस्कारित राष्ट्रीय भावना से ऊपर उठ कोई भी देश अन्तर्राष्ट्रीयता के, मानवता के भाव को नहीं अपना सका;—वही पुरानी नीति, वही पुराना तौर-तरीका बना रहा; सब अपने अपने स्वार्थ में रत थे, सब अपनी अपनी ग़र्ज को मरते थे। राष्ट्रसंघ स्वयं के पास ऐसी कोई शक्ति थी नहीं जो राष्ट्रों की सार्वभौम सत्ता को सीमित कर सकती—वस्तुतः राष्ट्र संघ मर चुका था;—युद्ध के लिये रास्ता खुला था।

द्वितीय महायुद्ध (१६३६-१६४५ ई०)

पहली सितम्बर सन् १६३६ के दिन जर्मनी ने पोलेंड पर आक्रमण कर दिया। उसने यह बहाना लिया था कि डेनजिग प्रदेश, और समीपस्थ भूमि का वह टुकड़ा (Corridor) जिसको जर्मनी से छीनकर उसके (जर्मनी के) पूर्वी प्रशा के हिस्से को उसके पच्छिमी हिस्से से अलग कर दिया गया था, वस्तुतः जर्मनी का ही था; वह उसे मिल जाना चाहिए था किन्तु पोलेंड और इङ्गलैंड दोनों ने मिलकर उसकी यह न्यायपूर्ण मांग पूरी नहीं की थी, अतः उसके लिये और कोई चारा नहीं था। जब जर्मनी ने पोलेंड पर आक्रमण किया तो उसे विश्वास था कि कोई भी यूरोपीय देश उसमें दखलन्दाजी करने की हिम्मत नहीं करेगा, क्योंकि रूस से एक ही महीने पहिले उसने परस्पर युद्ध निषेध का समझौता कर लिया था। किन्तु उसका ख्याल गलत निकला, उसके पोलेंड पर आक्रमण के तुरन्त बाद इङ्गलेंड और फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध आरम्भ हो गया। जर्मनी की मशीन की तरह आर्डर से चलने वाली फौज़ी शक्ति के सामने न पोलेंड टिक सका न फ्रांस। कुछ ही महीनों में पोलेंड खत्म हो गया। उसके

बाद जर्मनी ने पच्छिम की ओर अपनी दृष्टि डाली; सन् १९४० के आरम्भ तक डेन्मार्क और नोर्वे खत्म हुए और फिर होलेंड और बेलजियम को पदाक्रान्त करता हुआ वह फ्रांस की ओर बढ़ा। फ्रांस में डनकर्क नगर के पास फ्रांस की फौजों पर एक बिजली की तरह वह टूट कर पड़ा और फ्रांस की लाखों की फौज ऐसे खत्म हो गई मानों बिजली ने उसको मार दिया हो। फिर तुरन्त फ्रांस की राजधानी पेरिस पर कब्जा कर लिया गया, १६ जून १९४० के दिन फ्रांस ने जर्मनी के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। फिर इङ्गलैंड पर भयंकर हवाई आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। इङ्गलैंड में धन, जन उद्योगों का भयंकर विनाश हुआ—किंतु इङ्गलैंड दबा नहीं—वह किसी न किसी तरह खड़ा रहा।

भूमध्यसागर पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिये वह बाल्कन देशों में बढ़ता हुआ ग्रीस और क्रीट पर जा टूटा और उन पर अपना अधिकार जमा लिया। पहली सितम्बर सन् १९४१ तक ग्रेट ब्रिटेन और पूर्वीय रूस को छोड़कर जर्मनी समस्त यूरोप का अधिपति था। नोर्वे, होलेण्ड, बेलजियम, डेनमार्क, उत्तरी-फ्रांस, आस्ट्रिया, जेकोस्लोवेकिया, पोलेंड और बाल्टिक सागर के तीन छोटे छोटे प्रदेश अस्टोनिया, लेटविया, लिथूनिया, ग्रीस, क्रीट और पच्छिम रूस पर तो जर्मनी का सीधा अधिकार था, बाकी के देश यथा स्पेन, रुमानिया, बलगेरिया, जुगोस्लेविया, हंगरी, फिनलेण्ड या तो उसके मित्र थे या उसके हाथ की कठपुतली। दुनिया हैरान थी, इङ्गलैंड और फ्रांस घबराये हुए। सन् १९३९ अगस्त की जर्मन—रूस संधि खत्म हो चुकी थी। २२ जून १९४१ के दिन हिटलर ने अचानक रूस पर आक्रमण कर दिया। जापान पिछले कई वर्षों से (१९३७ से) चीन पर धीरे धीरे अपना कब्जा जमा रहा था—और फिर सहसा दिसम्बर १९४१ में उसने प्रशान्त महासागर में स्थित अमेरिकन बन्दरगाह पर्ल हारबर पर आक्रमण कर दिया—और उस महत्वपूर्ण स्थान पर अपना कब्जा कर लिया। अमेरिका ने भी युद्ध घोषित कर दिया।

पक्ष—अब इस द्वितीय महायुद्ध में दो पक्ष इस प्रकार बन गये। एक पक्ष जर्मनी, इटली, और जापान का जो धुरि राष्ट्र कहलाये। इनके पास उपरोक्त पदाक्रांत देशों के सब साधन थे। दूसरा पक्ष इङ्गलेंड, फ्रांस, रूस, चीन और अमेरिका जो मित्रराष्ट्र कहलाये। इनके पास इङ्गलेंड के राज्य भारत और लंका, इङ्गलेंड के स्वतन्त्र उपनिवेश आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका संघ, न्यूजीलेण्ड इत्यादि; दक्षिण अमेरिका के देश एवं अफ्रीका उपनिवेश के साधन थे।

युद्ध-क्षेत्र—दुनिया में तिब्बत, दक्षिण अमेरिका, अफगानिस्तान, एवं अन्य एक दो ऐसे दूरस्थ देशों को छोड़ कर, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा जहां युद्ध सम्बन्धी फौजी हलचल नहीं हुई हो। महासमुद्र तो सभी के सब पनडुब्बी, माइनस, इत्यादि के खतरों से भरे हुए थे। युद्ध की गति तीव्र थी। पच्छिम में तो जर्मनी विजयी हो रहा था, पूर्व में उसी तरह जापान बिजली की तरह आगे बढ़ने लगा था। समस्त पूर्वीय चीन पर तो उसने कब्जा कर ही लिया था, फिर फिलीपाइन द्वीप समूह पर, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, न्यूगीनी, इत्यादि समस्त पूर्वी द्वीप समूह पर और फिर मलाया और बरमा पर उसने कब्जा कर लिया। भारत के आसाम प्रान्त में उसने हवाई आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे।

सन् १९४२-४३ में युद्ध कुछ पलटा खाने लगा। जर्मनी की फौजें दूर रूस में फंस गईं। इधर अफ्रीका में मित्र-राष्ट्रों ने अबीसीनिया में जो इटली के कब्जे में था और उत्तर अफ्रीका में अपने हमले प्रारम्भ कर दिये। सन् १९४३ के प्रारम्भ तक अफ्रीका से सब इटालियन सिपाही साफ कर दिये गये। सन् १९४३ के मध्य में मित्र राष्ट्रों द्वारा इटली और सिसली पर आक्रमण किया गया और जर्मनी स्वयं पर एंग्लो-अमेरिकन बोम्बर्स ने हवाई-आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। जून सन् १९४४ में एंग्लो अमेरिकन फौजों ने जमीन के रास्ते से पच्छिमी यूरोप से जर्मनी पर हमले प्रारम्भ कर दिये। उधर पूर्वीय यूरोप में रूसी फौजें भी जर्मनी फौजों को खदेड़ती हुई आगे बढ़ने लगीं। अन्त में जर्मनी का तानाशाह

हिटलर रणक्षेत्र में मारा गया या उसने आत्महत्या कर ली; इटली का तानाशाह मसोलिनी भी गोली से उड़ा दिया गया। मई सन् १९४५ के दिन यूरोप का युद्ध समाप्त हुआ और जर्मनी ने पराजय स्वीकार कर ली। पूर्व में जापान के विरुद्ध युद्ध जारी रहा। ६ अगस्त सन् १९४५ के दिन अमेरिका ने एक बिल्कुल नया अस्त्र, अणु बम जापान के हिरोशिमा नगर पर डाला और दूसरा बम ९ अगस्त को नागासाकी नगर पर। इन दो बमों ने प्रलयङ्कारी विध्वंस मचा डाला–सैंकड़ों मीलों तक उनकी गैस और आग की लपटों की झुलस पहुंची। विश्व इतिहास में यह एक अद्भुत विनाशकारी अस्त्र निकला। इसका अनुमान हिरोशिमा नगर पर जो बम डाला गया था उसके परिणाम से लगाइये। नगर पर एक हवाईजहाज से जो ३०००० फीट की ऊँचाई पर उड़ रहा था, एक अणु बम डाला गया जिसका वजन ५० मन था। नगर की आबादी ३ लाख थी जिसमें से ९२००० मर गये इसके अलावा ४० हजार घायल हुए; ९०००० घरों में से ६२००० घर गिर गये। और यह सब बम गिरने के कुछ ही देर बाद हो गया। बम गिरने के बाद भयंकर धुएं के बड़े बड़े बादल ४०००० फीट की ऊंचाई तक उड़े थे। जापान इसके सामने कैसे ठहर सकता था। अन्त में उसने भी १४ अगस्त सन् १९४५ के दिन पराजय स्वीकार कर ली।

द्वितीय विश्व व्यापी महायुद्ध जो पहली सितम्बर सन् १९३९ के दिन प्रारम्भ हुआ था, ६ वर्ष में १४ अगस्त सन् १९४५ के दिन समाप्त हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के तात्कालिक परिणाम

१. **युद्धजनित विनाश**—कल्पनातीत भयंकर विनाश हुआ, क्योंकि युद्ध के अस्त्र प्रलयंकारी थे,—अणुबम जैसे प्रलयंकारी। अनेक नगर, उद्योग, खेत, भवन, कारखाने राख बन गये; २॥ करोड़ जन की प्राण हानि हुई, ५ करोड़ जन बुरी तरह घायल; और फलस्वरूप कितना दुःख और विषाद, कोई चिंतन कर सकता है? ४ खरब डालर युद्ध में

व्यय हुआ,—इतना तो व्यय हुआ, किंतु विनाश कितना धन हुआ, इसका कुछ अनुमान नहीं। सब देशों में जीवन अस्त व्यस्त हो गया, जीवन का पुनर्निर्माण एक भागीरथ काम होगया। सब देशों में भयंकर अन्नाभाव, मंहगाई, दुःख, शंका और अंधेरा। आज (१९५०) पांच वर्ष के बाद भी मानव युद्ध जनित अन्नाभाव, मंहगाई, दुःख, शंका और अंधेरे से मुक्त नहीं। और, सर्वोपरि उसको त्रासित किए हुए है—परमाणु अस्त्र जो समस्त मानव जाति के सिर पर मौत की तरह मंडरा रहे हैं।

२. विजित राष्ट्रों की व्यवस्था—इटली—युद्धोत्तर काल में विजयी राष्ट्रों ने इटली को स्वतन्त्र छोड़ दिया। वहां अब एक स्वतन्त्र जन-तन्त्रात्मक राज्य कायम है।

जर्मनी—शांति घोषणा के बाद जर्मनी का एक छोटासा पूर्वीय हिस्सा तो जर्मनी से पृथक कर दिया गया जो पोलेंड में मिल गया। शेष जर्मनी को चार क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया जिनमें क्रमशः इङ्गलैंड, फ्रांस, अमरीका और रूस का सैनिक अधिकार कायम कर दिया गया। यह निर्णय किया गया कि यह व्यवस्था तब तक रहेगी जब तक जर्मनी के साथ कोई स्थायी संधि नहीं होजाती। आज सन् १९५० तक जर्मनी का प्रश्न अभी विचाराधीन है। आस्ट्रिया में भी (जहाँ कि बहुजन संख्या जर्मन लोगों की है) जर्मनी के समान उपरोक्त चार राष्ट्रों का सैनिक अधिकार है (१९५०)।

जापान—युद्ध के बाद जापान पर अमेरिका का सैनिक अधिकार स्थापित कर दिया गया—तब तक के लिये जब तक कि जापान के साथ कोई स्थायी संधि नहीं होजाती। आज तक जापान पर अमेरिका के प्रतिनिधि जनरल मैकआर्थर का सैनिक नियंत्रण है और यह कोशिश की जारही है कि जापान का मानस जन-तंत्रवादी बने। युद्धकाल में जापान द्वारा विजित देश जैसे, बरमा, हिंदेशिया, मलाया, फिलीपाइन द्वीप युद्ध-पूर्व स्थिति में आगये, यथा हिंदेशिया पर पूर्ववत् डच राज्य

कायम होगया; बरमा और मलाया में अंग्रेजों का अधिकार रहा; मंचूरिया चीन की साम्यवादी क्रांति के बाद पूर्ववत चीन का अंग रह गया, कोरिया पर रूस और अमेरिका की फौजों का अधिकार रहा—३८ अक्षांश के उत्तर में रूस और दक्षिण में अमेरिका।

संसार के शेष राज्यों की राजनैतिक स्थिति बिल्कुल वही रही जो युद्ध के पहिले थी।

३. शांति के प्रयत्न—जब युद्ध लड़ा जारहा था तो मित्रराष्ट्रों ने घोषणा की थी कि यह युद्ध जनस्वतन्त्रता, राष्ट्रस्वतन्त्रता और जनतंत्रवाद के लिये लड़ा जारहा है। स्वयं अमेरिका के प्रेसीडेंट रुजवेल्ट ने घोषणा की थी—हम ऐसे संसार और समाज की स्थापना के लिये लड़ रहे हैं जिसका संगठन चार आवश्यक मानवीय स्वतन्त्रताओं के आधार पर होगा। पहिली यह है कि दुनिया में सर्वत्र वाणी और विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हो। दूसरी यह कि मानव को धर्मपालन की स्वतन्त्रता हो,—वह चाहे जिस धर्म का पालन कर सके, धर्म के मामले में कहीं जोर जबरन न हो। तीसरी यह कि मानव गरीबी से मुक्त हो, जिसका अर्थ यह है कि प्रत्येक देश के निवासियों को वे साधन उपलब्ध हों जिससे कि वे स्वस्थ जीवन यापन कर सकें। चौथी स्वतन्त्रता यह कि प्रत्येक देश किसी भी दूसरे देश के आक्रमण के डर से मुक्त हो, जिसका अर्थ हुआ राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण। इन्हीं आदर्शों की प्राप्ति के लिए मानव ने व्यावहारिक क़दम उठाया:—

संयुक्त राष्ट्रसंघ

अभी युद्ध चल ही रहा था। अगस्त १९४१ में अमेरिका के राष्ट्रपति रुजवेल्ट तथा ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चर्चिल अटलांटिक महासागर में कहीं एक जहाज पर मिले, दुनिया में स्थायी शान्ति की समस्या पर बात-चीत की, और खूब सोच विचार और मनन के बाद उन्होंने एक आदेश पत्र प्रकाशित किया जो अटलांटिक चार्टर के नाम से प्रसिद्ध है। इस आदेश पत्र में उन्होंने अपने देशों की ओर से अपनी नीति और

सिद्धान्तों की घोषणा की थी। उन्होंने कहा था कि हम साम्राज्य विस्तार अथवा किसी नये प्रदेश पर अधिकार करना नहीं चाहते; हम चाहते हैं कि जनमत से ही प्रत्येक राष्ट्र का शासन चले; सब राष्ट्रों में पारस्परिक आर्थिक सहयोग हो; युद्ध के बाद पराजित राज्य पुन: प्रतिष्ठित हों और उनको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो; एवम् प्रत्येक राष्ट्र युद्ध सामग्री में कमी करे और अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए प्रयत्न करे। अक्टूबर १६४३ ई० में मास्को में अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, और चीन के विदेश मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ और उन्होंने अटलांटिक चार्टर के सिद्धान्तों के आधार पर विश्व शांति व सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना पर जोर दिया। अक्टूबर १६४४ में डम्बार्टन ओकस् में उक्त चार बड़े देशों के प्रतिनिधि मिले और उन्होंने विश्व संस्था की स्थापना के लिए प्रस्ताव के रूप में एक योजना तैयार की। फिर फरवरी १६४५ में याल्टा (क्रिमिया) में चर्चिल, रुजवेल्ट और स्टालिन मिले और उन्होंने उक्त विश्व योजना के प्रस्ताव को अंतिम रूप दिया। फिर अप्रैल १६४५ में सान फ्रांसिस्को (अमेरिका) में विश्व के ५० राष्ट्रों के ८५० प्रतिनिधि एक सम्मेलन में एकत्र हुए और उन्होंने खूब सोच-विचार, वाद-विवाद के बाद विश्व संगठन का एक चार्टर तैयार किया। २६ जून १६४५ के दिन सानफ्रांसिस्को के वेटरन मेमोरियल हॉल में ५० राष्ट्रों के ८५० प्रतिनिधियों ने उस चार्टर पर हस्ताक्षर किए, और इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ। उक्त चार्टर में संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य, सिद्धान्त और उसका विधान समाविष्ट थे। ऐसा माना जाता है कि विश्व में ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सभा पहले कभी नहीं हुई थी। अमेरिका के प्रेजीडेंट ट्रूमैन ने सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा "संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर जिस पर आपने अभी हस्ताक्षर किए हैं एक ऐसी सुदृढ़ नींव है जिस पर हम एक सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकते हैं। इसके लिए इतिहास आपका सम्मान करेगा।" २४ अक्टूबर १६४५ से संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विधिवत अपना

कार्य आरम्भ किया और इसीलिए यह दिन विश्व भर में "संयुक्त राष्ट्र दिवस" के नाम से मनाया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय पहले लेक सकसेस (अमेरिका) में रखा गया, किन्तु इसके लिए न्यूयार्क में एक भव्य विशाल भवन तैयार किया जा रहा था जो १४ अक्टूबर १९५२ के दिन समाप्त हुआ और तभी से संघ का कार्यालय न्यूयार्क के उसी भवन में है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही के लिए पांच भाषाएं मान्य हैं, यथा चीनी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी तथा स्पेनिश। किन्तु इसका अधिकतर काम अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषा में ही होता है।

उद्देश्य—संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य हैं :—अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखना; यदि शांति भंग का कहीं खतरा हो तो उसे रोकने और हटाने के लिए सामूहिक कार्यवाही करना; किसी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े के या ऐसी परिस्थितियों के जिनसे शांति भंग हो उपस्थित होजाने पर न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय नियमानुसार उनका शांतिपूर्ण ढंग से निपटारा करना; राष्ट्रों में इस सिद्धान्त को मानते हुए कि सबके अधिकार समान हैं, परस्पर मित्रता पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना; एवं आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक उत्थान के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से काम करना।

सदस्य—जिन ५० राष्ट्रों ने प्रारंभ में ही उपरोक्त चार्टर पर हस्ताक्षर किये वे तो राष्ट्रसंघ के सदस्य थे ही, इनके अतिरिक्त कोई भी अन्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर, जनरल असेम्बली द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर संयुक्तराष्ट्र संघ का सदस्य बन सकता है। आज सन् १९५७ में ८२ राज्य इसके सदस्य हैं। यथाः—
१. अफगानिस्तान, २. आयरलैंड, ३. अर्जेंटाइना, ४. आस्ट्रेलिया, ५. अल्बेनिया, ६. आस्ट्रिया, ७. बेल्जियम, ८. बोलीविया, ९. ब्राजिल, १०. बल्गेरिया, ११. बर्मा, १२. बेलोरसियन, १३. कनाडा, १४. चीली, १५. चीन (फारमूसा में स्थित तथाकथित राष्ट्रवादी चीनी सरकार;

मुख्य भूमि चीन में स्थित जनता का गणतंत्र नहीं), १६. कोलम्बिया, १७. कम्बोडिया, १८. कोस्टारिका, १९. क्यूबा, २०. चेकोस्लोवेकिया, २१. डेनमार्क, २२. डोमिनिकन रिपबलिक, २३. इक्वेडर, २४. मिश्र, २५. सालवेडर, २६. इथोपिया, २७. फ्रांस, २८. यूनान, २९. ग्वाटेमाला, ३०. हेटी, ३१. होंडूरास, ३२. आइस लैण्ड, ३३. भारत, ३४. हिंदेशिया, ३५. ईरान, ३६. हंगरी, ३७. इटली, ३८. ईराक, ३९. इजराइल, ४०. लंका, ४१. लेबनान, ४२. लाओस, ४३. लीबिया, ४४. जोर्डन, ४५. साइबेरिया, ४६. लक्सेमबर्ग, ४७. मेक्सिको, ४८. नीदर लेंड, ४९. न्यूजीलैण्ड, ५०. निकार गोआ, ५१. नॉर्वे, ५२. पाकिस्तान, ५३. पनामा, ५४. प्राग्वे, ५५. पीरू, ५६. फिलीपीन, ५७. फिन लैण्ड, ५८. पोलैण्ड ५९. यहूदीअरब, ६०. स्वीडन, ६१. सीरिया, ६२. थाईलैण्ड, ६३ तुर्की ६४. यूक्रेनिया, ६५. दक्षिण अफ्रीका संघ, ६६. रूस, ६७. ब्रिटेन, ६८. अमेरिका, ६९. यूरुग्वे, ७०. वेनेजूला, ७१. नेपाल, ७२. स्पेन, ७३. पुर्तगाल, ७४. रुमानिया, ७५. सूडान, ७६. मोरक्को, ७७. ट्यूनिशिया, ७८. यमन, ७९. यूगोस्लेविया, ८०. जापान, ८१. घाना, ८२. मलाया।

संगठन

संयुक्त राष्ट्रसंघ का काम सुचारू रूप से चलाने के लिए इसके कई अंग संगठित किए गए। वे हैं:—

१. **जनरल असेम्बली**—संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य जनरल असेम्बली के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य (राष्ट्र) जनरल असेम्बली में बैठने के लिए ५ प्रतिनिधि भेज सकता है किन्तु प्रत्येक सदस्य (राष्ट्र) का वोट एक ही होगा। जनरल असेम्बली उन तमाम मामलों पर जो संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के अन्तर्गत आते हैं बहस कर सकती है और उनके विषय में सुरक्षा परिषद् को अपनी सिफारिश कर सकती है। इसका अर्थ यही है कि जनरल असेम्बली केवल वाद-विवाद एवं विचार विनिमय करने का एक प्लेटफॉर्म-मंच मात्र है। इसका प्रथम अधिवेशन

लंदन में १६४६ में हुआ था; और इस प्रकार हर वर्ष इसके अधिवेशन किसी न किसी देश में होते रहते हैं।

२. सुरक्षा परिषद्—सदस्य–संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और चीन स्थायी सदस्य हैं; और जनरल असेम्बली द्वारा निर्वाचित ६ अन्य अस्थायी सदस्य। इस प्रकार कुल ११ इसके सदस्य होते हैं।

कार्य—राष्ट्र के परस्पर झगड़ों की जांच करना, समझौते करवाना, आक्रमणकारियों के विरुद्ध कार्यवाही करना–इत्यादि। सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य कार्यकर्त्री अंग है। यही मुख्य कार्य-पालिका है; इसको संयुक्त राष्ट्रसंघ का मन्त्री-मण्डल कह सकते हैं। सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यों को किसी भी बात पर अपना विशेष निषेधाधिकार काम में लाने का हक है। अर्थात् यदि सभी सदस्य किसी एक प्रश्न पर अपना निर्णय बनाते हैं, किन्तु एक स्थायी सदस्य उस निर्णय से सहमत नहीं होता तो वह उस निर्णय को ही रद्द कर सकता है और उस प्रश्न पर कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती। सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को यह एक ऐसा अधिकार है कि उनमें से कोई भी एक यदि चाहे तो सुरक्षा परिषद् और जनरल असेम्बली के सब निर्णयात्मक कामों को रोक सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की यही सबसे बड़ी कमजोरी है। ऐसा अधिकार इन स्थायी सदस्यों को, इन पांच बड़े राष्ट्रों को क्यों दिया गया? स्यात् इसीलिये कि युद्धकाल में युद्ध का विशेष भार और उसका उत्तरदायित्व इन्हीं पर रहा और युद्धोत्तर काल में अपनी विशेष शक्तिशाली स्थिति के अनुसार शांति के उत्तरदायित्व का भार इन्हीं पर रहा। जो कुछ हो इससे यह तो स्पष्ट झलकता है कि इस प्रकार के अधिकार की व्यवस्था होते समय इन पांचों राष्ट्रों के दिल एक दूसरे के प्रति साफ नहीं थे; एक दूसरा एक दूसरे को संदेहात्मक दृष्टि से देख रहा होगा। सुरक्षा परिषद् के अन्तर्गत कई आयोग तथा कमेटियां काम करती हैं, जैसे:—

१. अणु शक्ति आयोग—अणु शक्ति के विध्वंसक प्रयोग पर

प्रतिरोध लगाने के लिए एवम् उस शक्ति का मानव-जाति के कल्याण के लिए उपयोग करने के लिए विचार विनिमय करती रहती है और विश्व के सामने अपने सुझाव प्रस्तुत करती रहती है।

२. मिलिटरी स्टाफ कौंसिल—पांच बड़े राष्ट्रों के सैनिक प्रतिनिधि (अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, चीन और फ्रांस) इसके सदस्य होते हैं। इसका कार्य यह होता है कि सुरक्षा परिषद् का आदेश मिलने पर आक्रमक देश के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की योजना बनाए और उसको कार्यान्वित करे।

३. अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र सेना—ऐसी आशा की जाती है कि राष्ट्र-संघ के समस्त सदस्य ऐसी सेना निर्माण करने में योग देंगे जो आवश्यकता पड़ने पर शांति स्थापन के लिए घोषित आक्रांता देश को दबा सके। कुछ कुछ ऐसी ही अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सेना का निर्माण जुलाई १९५० में कोरिया का युद्ध समाप्त करने के लिए हुआ था। कुछ इसी प्रकार की सेना नवम्बर १९५६ में मिश्र पर ब्रिटेन, फ्रांस तथा इजराइल के आक्रमण के समय तैनात की गई थी।

४. ट्रस्टीशिप कौंसिल—चीन, फ्रांस, रूस, ब्रिटेन और अमेरिका तो इसके स्थायी सदस्य हैं, तथा संरक्षित उपनिवेशों के शासक तथा उतने ही तटस्थ देश (जो न तो संरक्षित देश हैं और न संरक्षक) भी इसके सदस्य रहते हैं। इस कौंसिल का कार्य समस्त संरक्षित प्रदेशों की प्रगति देखते रहना और वहां के लोगों को उन्नत बनाने का प्रयत्न करना है।

५. आर्थिक तथा सामाजिक कौंसिल–सदस्य–जनरल असेम्बली द्वारा निर्वाचित कोई भी १८ सदस्य। कार्य–सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति के लिये सिफारिश करना तथा संबंधित विशेषज्ञ समितियों जैसे यूनेस्को (Unesco=शैक्षणिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक आयोग), अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ, खाद्य और कृषि संगठन, इत्यादि में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना।

६. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य जूडिशियल अंग है। जनरल असेम्बली तथा सुरक्षा परिषद् द्वारा निर्वाचित १५ न्यायाधीश राष्ट्रों के पारस्परिक कानूनी झगड़ों को तय करते हैं।

७. सचिवालय—संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य कार्यवाहक दफ्तर है। इसका सेक्रेटरी जनरल सुरक्षा परिषद् की सलाह से जनरल असेम्बली द्वारा ५ वर्ष के लिये निर्वाचित होता है। सेक्रेटरी जनरल का पद बहुत उत्तरदायित्व और महत्व का पद है। सेक्रेटरी जनरल अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा पर आघात करने वाले सभी मामलों को 'सुरक्षा परिषद्' के समक्ष रखता है। तथा, जनरल असेम्बली के सामने वार्षिक रिपोर्ट पेश करता है। राष्ट्र संघ का स्थायी कार्यालय न्यूयोर्क में है। कार्यालय का एवं संघ के भिन्न भिन्न अंगों का संगठन बहुत ही कुशल और सुव्यवस्थित है। कार्यालय में विश्व के चुने गये बुद्धिमान और कुशल लगभग ५००० व्यक्ति सेक्रेटरी, अफसर, क्लर्क इत्यादि की हैसियत से काम करते हैं। काम के ढ़ंग से, संगठन के ढ़ंग से, पत्रों और संवादों और प्रस्तावों के ढ़ंग से तो ऐसा भान होता है मानो किसी विश्व-राज्य का संचालन हो रहा हो।

ऐसा यह राष्ट्र-संघ बना। सन् १९४५ से १९५० तक इसका इतिहास बहुत आशा और गौरवपूर्ण। तो नहीं रहा। ऐसा अनुभव रहा कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शांति संबंधी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर संघ कोई भी क्रियात्मक, फलदायक कार्यवाही नहीं कर सका। जितने भी महत्वपूर्ण प्रश्न आये उन पर सुरक्षा परिषद् के किसी न किसी स्थायी सदस्य ने अपने निषेधात्मक अधिकार से क्रियात्मक निर्णय नहीं होने दिया। यह है राष्ट्र-संघ की कहानी। यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में कोई विशेष महत्वपूर्ण काम नहीं हो पाया हो किंतु अन्य क्षेत्रों में संघ ने–जैसे विश्व में वैज्ञानिक ज्ञान प्रसार के लिये; विश्व की सामाजिक, शैक्षणिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने में, विश्व क्षेत्र में सामाजिक बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने में; एक स्वतंत्र, स्वस्थ

और सुखद जीवन किस प्रकार विश्व में जन जन को प्राप्त हो इसका रास्ता ढूंढने के प्रयत्नों में, प्रशंसनीय कार्य किया है और करता जा रहा है।

यदि मानव समझे तो यह संयुक्त राष्ट्र-संघ एक विश्व राज्य बन सकता है। कुछ न भी हो, तब भी इतना तो हम स्पष्ट देख सकते हैं कि आज सम्पूर्ण विश्व के मानव परस्पर इतने संबद्ध हैं कि किसी भी एक व्यक्ति या किसी भी एक राष्ट्र का शेष विश्व से पृथक अस्तित्व नहीं;— आज मानव को इतना चेतन ज्ञान है कि वह व्यवहार में "विश्व का एक संगठन" प्रस्तुत कर सके।

(५७)

विश्व इतिहास

(१९४५-१९५६)

दो महायुद्धों के बाद—

(१) एशिया और अफ्रीका के ६५ करोड़ जन यूरोपीय और अमेरिकन साम्राज्यवाद से मुक्त हुए।

(२) दुनिया के लगभग आधे भाग में साम्यवाद का प्रसार हुआ। ८५ करोड़ जन, दुनिया की एक तिहाई जन संख्या से भी कुछ अधिक जन, साम्यवादी व्यवस्था में आ गए।

यह है युद्धोत्तर विश्व के इतिहास की गति : साम्राज्यवाद पतनोन्मुख साम्यवाद उत्थानोन्मुख।

इस गति को देख कर, उसका प्रतिरोध करने के लिए फिर से सहम कर खड़ा हुआ—पूंजीवाद-साम्राज्यवाद अर्थात अंग्लो-अमेरिकन गुट। अतः साम्यवाद अर्थात् रूस-चीन गुट से उसका होने लगा द्वन्द्व—शीत युद्ध।

टक्कर कभी की हो जाती, किन्तु इसको रोके हुए है प्रलंयकारी परमाणु अस्त्र का भय, अत : द्वन्द्व के साथ साथ शांति की चेष्टा भी है।

इस प्रकार, द्वितीय विश्व-युद्ध (१६३६-१६४५) के बाद के विश्व इतिहास का अध्ययन हम निम्नांकित चार बातों को केन्द्र मानकर कर सकते हे :—

(१) उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का विघटन और साथ ही साथ एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रवाद का उत्थान।

(२) साम्यवाद का विश्व में प्रसार।

(३) रूस और अमेरिका में शीत युद्ध।

(४) विश्व में शांति के लिए प्रयत्न।

१. उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद का विघटन, एवं एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रवाद का संघटन—

१६३७ ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ होने के पहिले एशिया और अफ्रीका दोनों विशाल महाद्वीप, पश्चिमी साम्राज्यवाद के आधीन थे। आर्थिक दृष्टि से तो इन महाद्वीपों के समस्त भू खंड ही पराधीन थे; हाँ, राजनैतिक मान्यता से एशिया में केवल जापान, चीन, स्याम, अफगानिस्तान, ईरान, टर्की एवं अरब के कुछ भाग और अफ्रीका में सिर्फ एक देश लाइबेरिया स्वतंत्र था। (मिस्र वैसे तो स्वतंत्र था पर वहाँ ब्रिटिश फौजों का हस्तक्षेप था, और अबीसीनिया पर इटली एक बर्ष पहिले (१६३६ में) अधिकार कर चुका था)। किन्तु १६४५ ई० में युद्ध की समाप्ति के बाद स्वतन्त्रता की एक अजीब लहर समस्त गुलाम देशों में फैल गई। एक के बाद दूसरा देश, विद्रोह करके, लड़कर, यातना सहकर अपने गुलामी के जूड़े को उतार कर फेंकने लगा। ब्रिटिश, फ्रेंच, डच, इटेलियन और अमरीकी साम्राज्यवादी पंजे से जो देश जिस जिस काल में मुक्त हुए, वे निम्नांकित तालिका में दिखलाए गये हैं:—

पच्छिमी साम्राज्य से मुक्त देशों की तालिका : अक्टूबर (१६५७)

किस देश का साम्राज्य	कौन से देश मुक्त हुए	किस सन् में	विशेष
ब्रिटेन	ईराक	१६३२	
	जोर्डन	१६४६	
	भारत	१६४७	
	पाकिस्तान	१६४७	भारत को विभाजित करके नया राष्ट्र बनाया गया।
	इज़राइल	१६४८	फलस्तीन विभाजित होकर नया राष्ट्र बना
	बर्मा	१६४८	
	लंका	१६४८	
	मिस्र	१६५२	१६२२ एवं १६३६ में आंशिक स्वतंत्रता मिल चुकी थी।
	सूडान	१६५५	
	घना	१६५७	पूर्व नाम गोल्ड कोस्ट
	मलाया	१६५७	
अमेरिका	फिलीपीन	१६४६	
फ्रांस	हिंदचीन	१६५४	
	चन्द्रनगर (भारत)	१६५२	
	पांडिचेरी, कारिकल, माही, यनान (भारत)	१६५४	
	टयूनीसिया	१६५५	
	फ्रेंच मोरक्को	१६५६	

किस देश का साम्राज्य	कौन से देश मुक्त हुए	किस सन् में	विशेष
हॉलैण्ड (डच)	हिंदेशिया	१६४६	
इटली	अबीसीनिया	१६४१	नया नाम ऐथिओपिया
	इरीट्रिया	१६५२	ऐथिओपिया में संघबद्ध
	लीबिया	१६५१	

ब्रिटिश साम्राज्य का विघटन

भारत--ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे धनी और महत्वपूर्ण देश था; वह दुनिया में ब्रिटेन के गौरव का आधार भी था। द्वितीय महायुद्ध के लगभग दो वर्ष बाद १५ अगस्त सन् १६४७ के दिन भारत ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के एक अधिनियम द्वारा स्वतंत्र घोषित कर दिया गया। (इसका विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है)।

द्वितीय महायुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य का विघटन होते होते दो सर्वथा नए राष्ट्रों का जन्म हुआ। वे हैं पाकिस्तान और इजराइल।

पाकिस्तान—युग युगांतरों से एक शरीर, एक प्राण, एक आत्मा था भारत। उसका १६४७ ई० में यहां के निवासियों को स्वतंत्रता सौंपते समय अंग्रेज सरकार ने दो भागों में विभाजन किया। हिन्दू बाहुल्य प्रांतों का एक भाग बना भारत संघ, और दूसरा भाग मुसलमान बाहुल्य प्रांतों का पाकिस्तान। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के एक अधिनियम द्वारा पाकिस्तान १४ अगस्त १६४७ के दिन अस्तित्व में आया। इस प्रकार संसार में सर्वथा एक नए राज्य का ही जन्म हुआ। मोहम्मद अली जिन्हा इसके सर्व प्रथम गवर्नर जनरल हुए। इन्हीं की बदौलत यह मुस्लिम राज्य अस्तित्व में आया था। पाकिस्तान एक इस्लामी राष्ट्र है जिसका संगठन वहां के नेताओं की घोषणा के अनुसार होरहा है—

"शरीयत के उसूलों पर" (मुसलमानों की धार्मिक पुस्तक कुरान के उसूलों पर)। उसकी समस्त नीति, समस्त आकांक्षा, समस्त हलचल बस एक—कि भारत के मुकाबले में मजबूत बनना। १ जनवरी १९५६ को देश का एक संविधान बनकर तैयार हुआ। तब से वह सर्व प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य है, किन्तु अभी तक (अक्टूबर १९५७) उसके अनुसार आम चुनाव नहीं हुए हैं, और न कोई जनतंत्रीय परम्परा बन पाई है।

इजराइल—फलस्तीन पर राष्ट्र संघ के शासनादेश के अनुसार ब्रिटिश देखरेख थी। इस शासनादेश की अवधि १४ मई सन् १९४८ के दिन समाप्त हुई। फलस्तीन में यहूदी और अरबों के बराबर झगड़े चलते रहते थे।

जिस रोज ब्रिटिश देख-रेख समाप्त हुई उसी रोज यहूदियों ने स्वतंत्र इजराइल राज्य की बड़े जोर-शोर से घोषणा करदी। जिस समय उन्होंने यह घोषणा की उस समय फलस्तीन की राजधानी यरुशलम और आसपास का लगभग आधा देश यहूदियों के हाथ में था। इस प्रकार संसार में बिल्कुल एक नये राज्य की स्थापना हुई। अमरीका, रूस एवं अन्य अनेक राष्ट्रों ने नये इजराइल राज्य के अस्तित्व को विधिवत मान्यता भी देदी। इस पर मध्य पूर्व के अरब देश यथा ईराक, सीरिया, साऊदी अरब, मिश्र इत्यादि बिगड़ खड़े हुए और उन सबने मिलकर एक "अरब लीग" के आधीन स्वतंत्र इजराइल राज्य का विरोध करना शुरू कर दिया। अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में मध्य-पूर्व का यह झगड़ा भी दुनिया के लिये एक परेशानी सा बना हुआ है। इस समय तेल अवावीव इजराइल की राजधानी है।

बर्मा:—दक्षिण पूर्वी एशिया का एक प्रमुख देश बर्मा भी, भारत स्वतन्त्र होने के ६ महीने बाद, ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्त हुआ। ४ जनवरी, १९४८ के दिन यह एक सर्व सत्ता-सम्पन्न गण राज्य घोषित हुआ। बर्मी लोग अपनी प्रतिभा के अनुसार अपने देश का निर्माण करने में लगे हुए हैं। पैट्रोल, चावल, रबर, खोपरा, केला और गन्ने में देश

धनी है, औद्योगिक विकास कम है। देश में साम्यवादी विचारों का प्रसार है।

इसी प्रकार लंका जो कि एक ब्रिटिश उपनिवेश था, ४ फरवरी १९४८ के दिन स्वतन्त्र हुआ, इस समय (१९५७) यह औपनिवेशिक स्वराज्य-प्राप्त देश हैं, भविष्य में भारत की भांति गण राज्य बनने की आकांक्षा रखता है। मध्य पूर्व में जोर्डन जो कि राष्ट्र संघ के शासना-देश के अन्तर्गत था, २२ मार्च १९४६ को स्वतन्त्र हुआ। ईराक तो १९३२ ई० में ही वैधानिक रूप से स्वतन्त्र घोषित कर दिया गया था, यद्यपि वहां ब्रिटिश प्रभाव बराबर बना रहा, और इस समय (१९५७) में भी है।

मिश्र :—याद होगा कि खलीफाओं के राज्य के बाद १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिस्र तुर्की साम्राज्य का अंग हो गया था। १८८२ ई० में ब्रिटेन ने इस पर अपना अधिकार जमाया, और तब से १९१४ ई० तक वह ब्रिटेन के अधिकार में रहा। १९१४ में मिस्र, ब्रिटेन का एक संरक्षित (Protectorate) राज्य हो गया। किन्तु धीरे धीरे वहां राष्ट्रीय भावना का जन्म हुआ और वहां के राष्ट्रीय नेता जगलूलपाशा के नेतृत्व में स्वाधीनता के लिये आंदोलन प्रारंभ हुआ। राष्ट्रवादियों ने अंग्रेजों के खिलाफ अनेक षड्यंत्र किए, अनेक अंग्रेजों की हत्याएं कीं तथा ब्रिटिश माल का बहिष्कार किया। संघर्ष इतना प्रखर हुआ कि १९२२ई० में ब्रिटेन को विवश होकर यह मान्यता स्वीकार करनी पड़ी कि मिस्र एक स्वाधीन राष्ट्र है। किन्तु ब्रिटेन ने स्वेज नहर तथा मिस्र में अन्य स्थानों पर अपनी सेनाएं रखने का एवम् मिश्र की विदेश नीति संचालन करने का अधिकार अपने पास रखा। यह पूरी आजादी तो नहीं थी, राष्ट्रवादी आंदोलन चलते ही रहे और १९३६ई० में ब्रिटेन के साथ एक दूसरी संधि हुई, जिसमें यह तय हुआ कि मिस्र के दक्षिण में सूडान प्रदेश पर मिस्र और ब्रिटेन का संयुक्त शासन हो, स्वेज नहर क्षेत्र में ब्रिटिश सेनाएं रह सकें, एवं युद्ध काल में ब्रिटिश सेनाएं मिस्र देश में

होकर गुजर सकें। इस संधि से मिस्र को स्वतन्त्र राष्ट्र का दर्जा तो मिला, किन्तु फिर भी ब्रिटिश फौजों का पंजा वहां पर किसी तरह जमा ही रहा। अंत में अक्टूबर सन् १९५० में मिस्र ने १९३६ की संधि को रद्द घोषित किया और इस प्रकार मिस्र ने ब्रिटेन के अवशेष प्रभाव-चिन्ह भी साफ कर दिए। मिस्र में उस समय वैधानिक राज्य तंत्र था, और शाह फारूक वहां के बादशाह। किन्तु वहां लोकतंत्रीय शक्तियों का विकास हो रहा था। इन शक्तियों ने जुलाई १९५२ में एक सैनिक क्रांति कर दी, शाह फारूक को देश छोड़ कर भग जाना पड़ा और जनरल नगीब तथा कर्नल नासर के नेतृत्व में एक प्रगतिवादी सरकार स्थापित हुई। इस सरकार ने बड़े बड़े जमींदारों को खत्म किया, बड़े बड़े वेतनधारियों को अपदस्थ किया एवम् अनेक सामाजिक तथा आर्थिक सुधार किए। धीरे धीरे लोकतंत्रीय राज्य प्रणाली के सिद्धान्तों पर एक संविधान निर्माण किया गया, जो २३ जून १९५६ को लागू हुआ। इसके अनुसार मिस्र सर्व-प्रभुत्व-सम्पन्न गणतंत्रीय राज्य घोषित हुआ, गमाल अब्दल नासर इसके प्रथम राष्ट्रपति चुने गए। नासर ने एक संधि द्वारा स्वेज नहर पर ब्रिटिश सैनिक नियंत्रण समाप्त कर दिया। देश में सबसे मुख्य प्रश्न साधारण जन के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने का था, इसके लिए नील नदी पर आसवान-बांध की एक विशाल योजना बनाई गई, जिससे सिंचाई के साधन उपलब्ध हों जल-विद्युत-शक्ति का उत्पादन हो, और फलतः कृषि और उद्योगों का विकास हो। योजना के लिए पूंजी की आवश्यकता थी। राष्ट्रपति नासर ने अमेरिका और ब्रिटेन का मुंह ताका कि उधर से ऋण मिल जाय, किन्तु उन देशों ने ऐसी शर्तें लगाना शुरु किया जो मिश्र की अखंडता और स्वतंत्रता के लिए घातक थीं, अतः बात टूट गई। इसी समय, जून १९५६ में, रूस बिना किसी शर्त के मिस्र को ऋण देने के लिए तैयार हुआ। इससे ब्रिटेन और अमेरिका बोखलाये, और इस डर से कि कहीं मिस्र में रूस का प्रभाव नहीं फैल जाय, उन्होंने यह अड़ंगा खड़ा किया कि जब तक सूडान की अनुमति

न हो नील नदी पर बांध निर्माण का काम प्रारंभ नहीं किया जा सकता। ब्रिटेन और अमेरिका की साम्राज्यवादी भावना को कर्नल नासर ने समझा और उसने उन देशों को सम्बोधित करते हुए कहा—"तुम्हारी घृणा तुम्हारे लिए कब्र बनेगी, अब तुम हम पर शासन नहीं कर सकते क्योंकि हम अब अपना रास्ता समझ चुके हैं।" यह जागते हुए एशिया की आवाज़ थी, पश्चिम के लड़खड़ाते हुए साम्राज्यवादी देशों को। नासर ने संकल्प किया, मैं अपने देश को अपने ही पैरों पर खड़ा करूंगा। मिस्र की ही मिल्कियत स्वेज नहर उसका साधन बना।

स्वेज नहर :—लालसागर और भूमध्यसागर को मिलानेवाली १०८ मील लम्बी स्वेज नहर का निर्माण एक फ्रांसिसी इन्जीनियर फर्डिनन्ड डी. लेसेप्स ने १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किया था। नहर का निर्माण कार्य १८५९ में प्रारम्भ किया गया और १० वर्ष बाद, १७ नवम्बर, १८६९ के दिन इस नहर में विधिवत् यातायात कार्य चालू कर दिया गया। नहर का निर्माण प्रारम्भ में स्वेज नहर कम्पनी के अन्तर्गत हुआ। इस कम्पनी के अधिकतर शेयर फ्रांस के थे, और यह शर्त थी कि लाभ का १५% मिश्र सरकार को मिलेगा, ७५% कम्पनी के हिस्सेदारों को, एवं ९९ वर्ष के बाद अर्थात् १९६८ में नहर का संपूर्ण स्वामित्व मिश्र की सरकार का हो जायगा। कालांतर में फ्रांस के अलावा अन्य विदेशी सरकारों ने जैसे ब्रिटेन, अमेरिका, हालैण्ड, बैल्जियम इत्यादि ने भी कम्पनी के हिस्से खरीद लिए। इस प्रकार नहर-कम्पनी के अधिकांश शेयर विदेशी सरकारों या विदेशी पूंजीपतियों के पास थे। नहर से लगभग ५० करोड़ रुपया वार्षिक मुनाफा होता था। कर्नल नासर ने सोचा स्वेज नहर मिश्र की सम्पत्ति है, अटूट धन इसके सहारे विदेशी लोग कमाकर घर ले गये हैं, क्यों नहीं इस सम्पत्ति को मैं अपने देश के निर्माण में लगाऊं। एक साहसी कदम उठाकर २६ जुलाई १९५६ के दिन उसने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर लिया और यह घोषणा की कि "मिश्र स्वेज नहर कम्पनी के वार्षिक

३६,०००,००० पौं० (लगभग ५० करोड़ रुपये) के लाभ का अधिकारी होगा। हम अब अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश करेंगे और जंग-खोरों तथा मानवता के दुश्मनों की बातों में नहीं आयेंगे।"

जैसी शका थी वही हुआ। २९ अक्टूबर १९५६ के दिन इजराइल ने अकस्मात मिस्र पर आक्रमण कर दिया। एक ही दिन में इजराइल की फौजें १८ मील अन्दर तक घुस गईं और ३ दिन में ही उन्होंने लगभग ३० हजार मिस्री सैनिकों की हत्या कर डाली। दूसरे दिन ब्रिटेन और फ्रांस ने भी मिश्र पर जबरदस्त हमला बोल दिया। तमाम दुनिया इस क्रूर कांड को देखकर दंग रह गई। लोग सोचने लगे—क्या इस शताब्दी में भी, संयुक्त राष्ट्र संघ के होते हुए भी, यह संभव है कि बड़े राष्ट्र अपनी पाशविक शक्ति के बल पर छोटे राष्ट्रों को जब चाहें हड़प लें। एशिया वालों ने पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों का नंगा नाच देखा। संयुक्त राष्ट्र संघ में तुरन्त प्रश्न गया। सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलाई गई। उसने २ नवम्बर को आदेश दिया कि आक्रमक देश, मिस्र से अपनी फौजें हटालें और युद्ध बन्द करदें। इजराइल, ब्रिटेन और फ्रांस तीनों देशों ने सुरक्षा परिषद् के आदेश की अवहेलना की और वे अपनी आधुनिक, विध्वंसकारी शस्त्रों से सुसज्जित फौज और बोम्बर्स के बल पर मिस्र को पदाक्रान्त करते हुए आगे बढ़े। मिस्र की मदद को कोई नहीं आया। आखिर रूस ने ६ नवम्बर को ब्रिटेन तथा फ्रांस को चेतावनी दी कि या तो युद्ध को रोक दो अथवा रूसी शक्ति का सामना करने के लिये तैयार हो जाओ। ब्रिटेन और फ्रांस सहम गये, उन्होंने कुछ सोचा और तुरन्त दूसरे दिन अपनी सेनाओं को युद्ध बन्द करने की आज्ञा दे दी। इस तरह उस युद्ध को जिसे विश्व की सर्वोपरि संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ भी समाप्त नहीं करवा सकी थी, रूस की एक धमकी ने बंद करवा दिया। युद्ध को समाप्त करने में एक कारण ब्रिटेन की साधारण जनता का दबाव था; उसने कभी नहीं चाहा था कि बिना कारण उनका देश इस प्रकार विश्व के किसी भी अन्य देश पर

हमला करे। युद्ध समाप्त होने के आठ दिन पश्चात् उस क्षेत्र में शांति बनाए रखने के लिये संयुक्त राष्ट्र ने आपतकालीन सेना का एक दल भेजा जिसमें १३ राष्ट्रों के ६ हजार सैनिक सम्मिलित थे। युद्ध के ५ महीने बाद १० अप्रेल १९५७ के दिन से नहर में, मिस्र सरकार की व्यवस्था और अधिकार-सम्पन्नता में फिर से यातायात प्रारम्भ होगया।

स्वेज नहर के युद्ध ने एशियाई और अफ्रीकी लोगों के मानस में यह बात स्पष्ट करदी कि उपनिवेशवाद और स्वाधीनता कभी भी साथ साथ नहीं रह सकते; यदि एशिया और अफ्रीका के देशों को अपनी स्वाधीनता बनाये रखना है तो पश्चिमी देशों की साम्राज्यवादी लिप्सा और उपनिवेशवाद से टक्कर लेनी ही पड़ेगी। उन्हें यह भी स्पष्ट भान होने लगा कि उपनिवेषवादी शक्तियां अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए षड्यंत्र, कूटनीति और शर्वीय देशों में आंतरिक कलह उत्पन्न करना—इत्यादि साधनों का उपयोग करने में बिल्कुल भी नहीं सकुचायेंगी। स्वेज नहर का युद्ध और उसमें अन्ततोगत्वा मिस्र के आत्म गौरव की रक्षा—यह इतिहास का संकेत था उस गति की ओर जो इस समय विश्व में जन साधारण के उत्थान, और राष्ट्रों में समानता के भाव की स्थापना की ओर हो रही है।

सूडान—पूर्वी अफ्रीका में मिस्र के दक्षिण में स्थित लगभग ७० लाख अरब और निग्रो लोगों की लगभग मिलीजुली आबादी का प्रदेश है। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में धीरे धीरे अंग्रेज लोग उस अज्ञात से प्रदेश में प्रसारित होगए थे और वहां उन्होंने अपना आधिपत्य जमा लिया था। वहाँ की प्रमुख उपज गन्ना और कपास के बल पर उन्होंने अपने देश और जाति को समृद्ध बनाने में योग दिया। १८९९ ई० से, ब्रिटिश सरकार की सिफारिश पर मिस्र के बादशाह द्वारा नियुक्त एक गवर्नर जनरल राज्य करता था—वास्तविक सत्ता तो अंग्रेजों के ही हाथ में थी, मिस्र का बादशाह भी तो अंग्रेजों के आधीन था। प्रायः ऐसी ही स्थिति १९५३ तक बनी रही। मार्च १९३? में एक अधिनियम के द्वारा सूडान

को एक हद तक स्वराज्य दे दिया गया; एक विधान सभा का निर्माण हुआ, केवल रक्षा और विदेश संबंधी मामलों पर गवर्नर जनरल का अधिकार रहा। अंत में अगस्त १९५५ में उक्त विधान सभा ने ही सूडान को एक स्वतंत्र, सर्वप्रभुता–सम्पन्न गणतंत्र राज्य घोषित कर दिया। अफ्रीका में मिस्र और सूडान स्वाधीन होने के अतिरिक्त दो और प्रदेश स्वाधीन हुए। वे हैं, ब्रिटिश टोगोलैण्ड एवं गोल्डकोस्ट, जहाँ के मूल निवासी अफ्रीकी लोगों पर १९ वीं शताब्दी (उत्तरार्ध) में अंग्रेजों ने अपना आधिपत्य जमा लिया था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वहाँ भी स्वतंत्रता के लिए आंदोलन चले। जन नेता डा० नक्रुमाह ने, १९४९ ई० में, महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन का रास्ता अपनाया और उसी के द्वारा उसने अपने देश के लिए स्वाधीनता प्राप्त की। ६ मार्च, १९५७ के दिन गोल्डकोस्ट और ब्रिटिश टोगोलैण्ड स्वतंत्र घोषित हुए, और ये दोनों प्रदेश मिलकर एक लोकतंत्रीय राज्य के रूप में अस्तित्व में आए। इस नये राज्य का नाम घना रक्खा गया, डा० नक्रुमाह यहाँ के प्रथम प्रधान मंत्री बने। यह अभी तक ब्रिटिश राष्ट्र मंडल में औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त देश है।

मलाया प्रायद्वीप—३१ अगस्त १९५७ के दिन मलाया प्रायद्वीप स्वतंत्र हुआ,—मलाया के दक्षिण में सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण द्वीप और बंदरगाह सिंगापुर पर ब्रिटेन ने अपना कब्जा कायम रखा। १८ वीं शताब्दी के प्रारंभ में मलाया के प्रदेशों पर जहां मुसलमान सुल्तान राज्य करते थे और जो रबर और टीन में बहुत धनी हैं, कब्जा कर लिया था। द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही वहां साम्यवाद का प्रचार हो गया था और गुरीला लड़ाकों ने ब्रिटिश सरकार की नाक में दम कर रखा था। आए दिन ब्रिटिश अफसरों की हत्याएं हो जाती थीं। मलाया की कुल आबादी में तीन प्रमुख जातियों के लोग हैं यथा, मलय (पुराने निवासी), चीनी और भारतीय। सुल्तानों के आधीन इन लोगों के साम्यवाद-विरोधी तत्वों को मिलाकर, ब्रिटेन ने एक संघीय संविधान

का निर्माण कर उसके अन्तर्गत मलाया को ३१ अगस्त १९५७ से स्वतंत्र कर दिया। वह ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त देश है। साथ ही साथ अक्टूबर १९५७ में मलाया और ब्रिटेन में पारस्परिक रक्षा के लिए एक संधि हो गई, जिसके अनुसार ब्रिटेन को मलाया में अपनी फौजें रखने का अधिकार मिल गया। मलाया की रैयत पार्टी ने, जो कि एक प्रगतिवादी दल है, इस संधि का विरोध किया। उधर साम्यवादी गुरिल्ला लोगों की हलचल अभी चालू है।

अमेरिकन साम्राज्य का विघटन

संयुक्त राज्य अमेरिका स्वयं अपने में इतना विशाल और सम्पन्न देश है कि उसको अन्य किसी उपनिवेश या राज्य की आवश्यकता नहीं। परम्परा से वह एक स्वाधीनता-प्रेमी देश है। सबसे पहिले इसी देश ने १७७६ ई० में मानवीय स्वतंत्रता की उद्घोषणा की थी। आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र में भी इस देश का आधार व्यक्ति स्वातन्त्र्य, निजी साहस और निजी स्वामित्व पर आधारित व्यापार-उद्योग रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी इन्हीं मान्यताओं को अक्षुण्य बनाए रखने के लिए उसे अपना प्रभाव बढ़ाना पड़ा, और अन्य देशों पर आर्थिक या राजनैतिक प्रभुत्व कायम करना इसने अपनी दृष्टि से न्याय संगत माना। अतः सुदूरपूर्व में फिलीपीन पर, प्रशांत महासागर के अनेक द्वीपों पर, और अपने ही तट के पूर्व में पोर्टोरीको द्वीप पर इसने कब्जा किया। किन्तु अमेरिकन साम्राज्यवाद का यह राजनैतिक रूप इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि उसका आर्थिक रूप। परोक्ष या अपरोक्ष ढंग से अपना आर्थिक पंजा उसने कई देशों पर जमाया है। उसके आर्थिक पंजे के विस्तार की तो अपनी एक अलग ही कहानी है, जिसकी चर्चा आगे होगी। जहां तक पुराने राजनैतिक साम्राज्य का प्रश्न है उसका तो विघटन ही हुआ।

फिलीपीन : यहां के आदिवासी मंगलोइड और अस्ट्रोलोइड उप-जातियों के लोग हैं, जो प्रागैतिहासिक काल से इस देश में बसते रहे हैं।

१६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्पेनिश लोगों ने फिलीपीन द्वीपों का पता लगाया और धीरे धीरे उन्होंने इन प्रदेशों को अपना उपनिवेश बना लिया। १८६८ ई० में स्पेन-अमेरिकन युद्ध में, अमेरिका ने फिलीपीन को जीतकर वहां अपना राज्य स्थापित किया। किन्तु वहां के स्पेनिश लोगों ने, जो कि वहां के आदिवासियों में घुलमिल गये थे, स्वाधीनता के लिए आंदोलन जारी रखे। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने १६३४ में स्वाधीनता प्रदान करने का वायदा किया, किन्तु वह वायदा मात्र रहा। द्वितीय महायुद्ध में, १९४२ में, जापान ने फिलीपीन को हथियाया; १९४५ में जापान के पतन के बाद अमेरिका ने फिर उसे जीत लिया। १९४६ में अमेरिका ने अपनी स्वेच्छा से फिलीपीन को स्वतन्त्र घोषित किया और वह एक गणतन्त्रीय राज्य बना। फिर भी उस देश पर अमेरिका का प्रभाव है, और वहां इसने सामरिक महत्व के कई अड्डे बना रखे हैं।

फ्रांसीसी साम्राज्य का विघटन

सुदूर पूर्व में अभी १९५४ तक हिन्द चीन फ्रांस का सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रदेश था। फ्रांसीसी सत्ता के अन्तर्गत इसमें तीन राज्य थे :— (१) वियटनाम जिसमें टोंगकिंग, अन्नाम एवं कोचीन-चीन तीन प्रान्त थे; (२) लाओस; (३) कम्बोडिया। चावल, गन्ना और खोपरा में धनी इस प्रदेश में फ्रांस ने १८५६ ई० में प्रवेश करना शुरू किया और १८८५ ई० तक सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया। द्वितीय विश्व-युद्ध के अवसर पर जून १९४० में जापान ने इसको जीत लिया, किन्तु सितम्बर १९४५ में जापान की हार के बाद फ्रांस ने फिर हिन्द चीन को अपने कब्जे में कर लिया। वहां के लोगों में स्वाधीनता की आग जग चुकी थी। फ्रांस में शिक्षा-प्राप्त और कोम्यूनिज्म के सिद्धांत में प्रणीत एक नेता, डा० हो चि-मिन का १९५० में उदय हुआ; उसने गुरिल्ला लड़ाकुओं का संगठन किया और फ्रांसिसी साम्राज्य के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। फ्रांस ने सोचा कि वे अपनी फौजी शक्ति से गुरिल्ला

लड़ाकुओं को दबा सकेंगे, किन्तु खूब अधिक शक्ति लगाने पर भी वह ऐसा करने में सफल न हो सका, बल्कि गुरिल्ला देशभक्त फ्रांसिसी फौजों को जगह जगह काट काट कर गिरा रहे थे। हो चि-मिन फ्रांसिसी सरकार को उखाड़ता हुआ आगे बढ़ रहा था, देश का सम्पूर्ण उत्तर-पूर्वी भाग उसने अपने कब्जे में कर लिया था, अमेरिका ने लड़खड़ाते हुए फ्रांसिसी साम्राज्य को खड़ा रखने के लिये हथियारों की मदद पहुंचाई, किन्तु वह भी कुछ काम न आई। १९५४ तक हो चि-मिन और उसकी गुरिल्ला फौजों ने फ्रांस को लगभग समुद्र के किनारे तक खदेड़ दिया। किन्तु इस दृष्टि से कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा आपसी बातचीत से हो न कि युद्ध से, भारत के सुझाव पर हिन्दचीन और फ्रांस के झगड़े को तय करने लिए रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और हिन्दचीन के राज्यों का १९५४ में जेनेवा में एक सम्मेलन बुलाया गया। यह सम्मेलन एक समझौता करवाने में सफल हुआ। इसके अनुसार हिन्दचीन की राजनैतिक स्थिति निम्नप्रकार बन गई—१९५४ ई० में।

(१) उत्तर-पश्चिम में लाओस एक स्वतन्त्र वैधानिक राजतन्त्रीय राज्य रहा—स्थानीय राजा के आधीन।

(२) दक्षिण-पश्चिम में कम्बोडिया भी एक स्वतन्त्र वैधानिक राजतन्त्रीय राज्य रहा—स्थानीय राजा के आधीन।

(३) पूर्वीय भाग (वियटनाम) दो भागों में विभक्त होगया। १७ उत्तरी अक्षांस से ऊपर उत्तरी भाग में साम्यवादी गणतन्त्र राज्य (वियटमिन) स्थापित हुआ, हो चि-मिन के नेतृत्व में। दक्षिणी भाग में अमेरिकन शक्ति के आधार पर तथाकथित राष्ट्रवादी गणतन्त्र स्थापित हुआ। जेनेवा कान्फ्रेंस में यह भी तय हुआ कि एक तटस्थ कमीशन (भारत, पोलेंड और कनाड़ा) युद्धबंधी रेखा पर निरीक्षण रक्खे, एवं जुलाई १९५६ में दोनों विभागों का एकीकरण करने के लिए स्वतन्त्र चुनावों की व्यवस्था करे। किन्तु अमेरिका के प्रभाव में दक्षिण

वियतनाम की सरकार ने उक्त शर्तों का उलंघन करके यथा समय ग्राम चुनाव नहीं होने दिए।

भारत में फ्रांस ने, १८वीं सदी में, निम्नांकित पांच स्थानों पर अधिकार जमाया था :—चन्द्रनगर, पांडीचेरी, कारीकल, माही, एवं यनॉन। ये पांचों स्थान भारत और फ्रांस में आपसी सद्‌भावपूर्ण बातचीत से स्वतन्त्र होगए; चन्द्रनगर १९५२ में, एवं शेष चारों स्थान १९५४ में।

१९वीं शताब्दी में जब यूरोप के देशों ने अफ्रीका के 'अंधेर', अज्ञात से महाद्वीप के आंतरिक भागों में प्रवेश करना प्रारंभ किया था, तभी फ्रांस ने उत्तर-पश्चिम अफ्रीका में, अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इस साम्राज्य के अन्तर्गत चार मुख्य प्रदेश समाविष्ट थे :—ट्यूनीसिया, फ्रेंच मोरक्को, अलजीरिया, भूमध्यरेखीय अफ्रीका। दो विश्व युद्धों की प्रतिक्रिया स्वरूप इन अधीनस्थ देशों के लोगों में स्वतंत्रता के विचार और स्वाधीन होने की तीव्र भावना उत्पन्न हुई। "द्वितीय युद्ध" के बाद स्वाधीनता के लिए आंदोलन प्रारंभ हुए, मूल-निवासियों (अरब मुस्लिम, या काले अफ्रीकी) और फ्रांसीसी फौजों में जगह जगह डटकर लड़ाइयां हुई, मूलनिवासियों के गांव के गांव बमों से उड़ा दिए गए; हजारों जन सामूहिक रूप से गोली के शिकार बना दिए गए, किन्तु स्वतन्त्रता के लिए आंदोलन बंद न हो सके; मूल निवासियों ने भी षड्यंत्र किए, फ्रांसिसी अफसरों की हत्याएँ कीं। इन आंदोलनों के फलस्वरूप सबसे पहिले ट्यूनीसिया, जिसकी आबादी लगभग २२ लाख है, जिसमें अधिकतर अरबी मुसलमान हैं; २२ अप्रेल १९५५ के दिन स्वतन्त्र घोषित किया गया। इसके उपरांत लगभग ९० लाख आबादी वाला प्रदेश, फ्रेंच मोरक्को, जिसमें अधिकतर भूमध्यीय जाति के मुसलमान हैं और २० लाख फ्रांसीसी गोरे भी हैं, २ मार्च १९५६ के दिन स्वतन्त्र घोषित किया गया। अलजीरिया में हिंसात्मक, षड्यंत्रात्मक आंदोलन चल रहे हैं, और यह स्पष्ट है कि उसे

गुलाम बनाकर नहीं रक्खा जा सकेगा। भूमध्यरेखीय प्रदेश जिसमें अधिकांश भाग सहारा रेगिस्तान है, अविकसित पड़ा है।

डच साम्राज्य का विघटन

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में डच साहसी नाविक और व्यापारियों ने हिन्देशिया (सुमात्रा, जावा, बोर्नियो,सिलीबीज़ एवम् न्यूगिनी) में प्रवेश करना प्रारम्भ किया था। १६०२ ई० में डच ईस्ट इन्डिया-कम्पनी स्थापित हो चुकी थी। १६०२ से १६४१ ई० तक डच लोगों ने सम्पूर्ण हिन्देशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। चावल, मसाले, गन्ना, रबर, चाय, काफ़ी और खोपरा इत्यादि वस्तुओं में अनन्त धनी यह देश डच लोगों की समृद्धि को कई शताब्दियों तक बढ़ाता रहा।

१९४२ ई० में जापान ने डच हिन्देशिया पर आक्रमण किया, ९ मार्च १९४२ के दिन डच फौजों ने आत्मसमर्पण कर दिया और हिन्देशिया की ६ करोड़ जनता जापानी राज्य के आधीन हो गई। अगस्त १९४५ में द्वितीय महायुद्ध में, जब जापान की हार हुई तो हिन्देशिया की जनता के नेता डा० सुकर्णो ने अस्थायी हिन्देशिया-प्रजातन्त्र राज्य की घोषणा की। किन्तु उसके ६ महीने बाद ही द्वितीय महायुद्ध की पूर्वापर स्थिति लाने के बहाने डच लोगों ने वहां पर अपना राज्य पुनः स्थापित कर लिया। हिन्देशिया की जनता स्वतन्त्रता के लिये तिलमिला उठी, विद्रोह छिड़ गया, देश भर में अशांति और अव्यवस्था फैल गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद ने हिन्देशिया में शांति और व्यवस्था कायम करने के लिये एक आयोग नियुक्त कर दिया। अंत में हालैंड से एक समझौते के परिणाम स्वरूप, २७ दिसम्बर १९४९ के दिन हिन्देशिया स्वतंत्र गणतंत्र राज्य घोषित कर दिया गया। देश के नेता डा० सुकर्णो प्रथम राष्ट्रपति बने। इस स्वतन्त्र गणराज्य में न्यूगिनी का पश्चिमी भाग सम्मिलित नहीं हो पाया है, वहां डच लोगों ने अभी तक (अक्टूबर १९५७) अपना अधिकार जमा रखा है। हिन्देशिया उसको भी मिला लेने के प्रयत्न कर रहा है।

इटली के साम्राज्य का विघटन

१९वीं शताब्दी में अफ्रीका महाद्वीप के यूरोपीय देशों में बंटवारे के समय १ करोड़ २५ लाख अफ्रीकी जनसंख्या वाला देश अबीसीनिया १८८९ ई० में इटली के संरक्षण में आ गया था। ७ वर्ष अर्थात् १८९७ तक इटली के संरक्षण में रह कर वह स्वतंत्र हो गया। किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान में इटली ने अबीसीनिया पर फिर अपना कब्जा कर लिया था। १९३६ से १९४१ तक यह कब्जा रहा, और फिर उसी युद्ध के दौरान में ही १९४१ में वह स्वतंत्र होगया।

इरीट्रिया—१८८५ ई० में इटली ने इरीट्रिया को अपना उपनिवेश बनाया। द्वितीय महायुद्ध काल तक यह उसके आधीन रहा। युद्धोपरांत इरीट्रिया स्वतंत्र हुआ और १९५२ ई० में वह अबीसीनिया में सम्मिलित होगया; दोनों प्रदेश मिलकर एक संघ राज्य बन गए।

लीबिया—अफ्रीका के उत्तर में लीबिया लगभग १० लाख अरबी मुसलमानों का प्रदेश है। टर्की और इटली के १९११-१२ के युद्ध में इटली ने इसे जीतकर अपने साम्राज्य का अंग बना लिया था। द्वितीय महायुद्ध के बाद भी वहां इटली का आधिपत्य बना रहा। स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन चले, अन्त में २४ दिसम्बर १९५१ के दिन लीबिया स्वतंत्र गणराज्य घोषित कर दिया गया।

एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों में उपर्युक्त राज्यों के स्वतंत्र होने के उपरान्त भी अनेक प्रदेश ऐसे बचे हैं जो या तो पश्चिमी साम्राज्यवाद के अन्तर्गत अभी तक गुलाम हैं, या संयुक्त राष्ट्रसंघ के आदेशानुसार साम्राज्यवादी देशों की संरक्षता में हैं। ऐसे प्रदेशों के नाम नीचे दो तालिकाओं में दिए जाते हैं:—

विश्व के पराधीन देश (अक्टूबर १६५७)

साम्राज्यवादी देश	आधीन देश	विशेष
ब्रिटेन	**अफ्रीका में :**—गेम्बिया, सीरालिओनी, नाइजीरिया, बेचुआनालैंड, रहोडेशिया-न्याजालैंड संघ, यूगांडा, केनया, ब्रिटिश सोमालीलैंड, जंजीबार द्वीप **अरब में :**—अदन एवं समीपस्थ प्रदेश **चीन में :**—होंग कोंग नगर **भूमध्यसागर में :**—साईप्रेस, माल्टा, जिबराल्टर **प्रशांत महासागर में :**—सोलोमन, न्यू हैब्रीडीज एवं अन्य छोटे द्वीप **अटलांटिक महासागर में :**—जमाइका, ट्रीनीडाड, बरमुडा, सेंट हेलेना, एवं कुछ अन्य छोटे द्वीप **हिन्द महासागर में :**—रोडरीग्यूज, मोरेशियस, सीकीलीज द्वीप **पू० एशिया में :**—सिंगापुर, उत्तर बोर्नियो	पराधीन देशों की कुल जन-संख्या
अमेरिका	अलास्का—उत्तर अमेरिका में प्यूर्टोरिका—अटलांटिक द्वीप	

साम्राज्यवादी देश	आधीन देश	विशेष
फ्रांस	अफ्रीका में :—अलजीरिया, भूमध्य-रेखीय अफ्रीका, फ्रेंच-पश्चिमी अफ्रीका, फ्रेंच तोगो-लैंड, फ्रेंच-सोमाली लैंड, मडागास्कर	
	प्रशान्त महासागर में :—न्यू केलेडोनिया, न्यू हैबरीडीज द्वीप	
	द० अमेरिका में :—फ्रेंच गियाना	
पुर्तगाल	अफ्रीका में :—पोर्चुगीज गिनी, मोझांबीक, अंगोला, साओटोमी एवं प्रिंसाइप द्वीप	लगभग
	भारत में :—गोआ, डामन, ड्यू	१५
	चीन में :—मकाओ	करोड़
	हिंदेशिया में :—टिमर	
	अटलांटिक द्वीप :—केप वर्ड एवं अजोर्स	
स्पेन	अफ्रीका में :—स्पेनिश पश्चिमी अफ्रीका, स्पेनिश गिनी, कैनेरी द्वीप	
होलैंड	हिंदेशिया में :—पश्चिमी न्यू गिनी द० अमेरिका में :—सुरीनाम	
बेलजियम	अफ्रीका में :—बेलजियन कोंगो	
डैनमार्क	ग्रीनलैंड, आइसलैंड	

संयुक्त राष्ट्रसंघ के आदेशानुसार संरक्षित प्रदेश (अक्टूबर १९५७)

प्रशासक देश	संरक्षित क्षेत्र	जन संख्या	विशेष
ब्रिटेन	अफ्रीका में—		संरक्षित क्षेत्रों की कुल जनसंख्या लगभग ३ करोड़
	टंगानियाका	८० लाख	
	केमरून	१४ ,,	
फ्रांस	अफ्रीका में—		
	केमरून	३१ लाख	
	तोगोलैंड	१० ,,	
बेलजियम	अफ्रीका में—		
	रुआंडा–उरुंडी	४१ लाख	
न्यू जीलैंड	प्रशांत द्वीप—		
	पश्चिमी समोआ	६२ लाख	
आस्ट्रेलिया	प्रशांत द्वीप—		
	पूर्वी न्यू गिनी	१२ लाख	
	नोरू	३ हजार	
इटली	अफ्रीका में—		
	सोमाली लैंड	१३ लाख	१९६० में स्वतंत्र होगा।
अमेरिका (सं० रा०)	प्रशांत द्वीप (समूह)	६० हजार	सामरिक महत्व

आधुनिक विश्व इतिहास में यह पहला अवसर था जब एशिया के लोग इस प्रकार अपनी समस्याओं पर बात चीत करने के लिये एक साथ बैठे। विश्व इतिहास की शक्तियों में एक नई शक्ति का उदय हुआ था। सोया हुआ एशिया जाग चुका था। योरोप और अमेरिका अब इसकी अवहेलना नहीं कर सकते थे।

बांडुंग सम्मेलन—एशिया और अफ्रीका के स्वतंत्र देशों को एक दूसरे के अधिक निकट लाने के लिये एवं परस्पर साँस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक सहयोग स्थापित करने के लिए २९ एशियाई और अफ्रीकन देशों का अप्रेल १९५५ में एक सम्मेलन हिंदेशिया के बाँडुंग नगर में हुआ। भाग लेने वाले प्रमुख देश साम्यवादी चीन, भारत, हिंदेशिया, लंका, पाकिस्तान, बर्मा, अरब, मिस्र, एथिओपिआ आदि थे। सम्मेलन ने कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार किए थे यथा, विश्व शांति के लिए विश्व के सब देशों और लोगों का स्वतंत्र होना आवश्यक है; जब तक उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद जीवित हैं तब तक विश्व में न्याय और चैन की स्थिति नहीं आसकती, तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा उद्घोषित मानवीय अधिकारों की स्थापना नहीं हो सकती। परमाणु शक्ति के विनाशकारी एवं शांतिमय उपयोगों का महत्व समझा गया था, और इस बात पर जोर दिया गया था कि अणु परीक्षण करने वाले देश अपना अणु परीक्षण बन्द करें। विश्व में शांति के लिए, भारत द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के पंचशील सिद्धान्तों का अनुमोदन किया गया था। सम्मेलन में यह भाव बिल्कुल स्पष्ट होगया था कि पश्चिमी देशों द्वारा निर्मित या अनुमोदित किसी भी "तथाकथित" 'रक्षात्मक' गुट में सम्मिलित होना विश्व शांति में बाधक होगा, उससे युद्ध की तनातनी और भी बढ़ेगी। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामने यह मांग पेश की गई थी कि राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद में एशिया एवं अफ्रीका के देशों को उचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। सम्मेलन विश्व की हलचल में बढ़ती हुई एशिया की महत्ता का संकेत था।

१८७० ई० से १९४५ तक का विश्व इतिहास तो मानो केवल पाश्चात्य देशों की गतिविधियों का ही इतिहास था—उसमें एशियाई देश तो बिल्कुल गौण, निष्क्रिय से थे। किंतु १९४५ से इतिहास का ऐसा क्रम बन रहा है जिसमें एशिया के देश सक्रिय होकर आगे आ रहे हैं और विश्व इतिहास की गति को प्रभावित कर रहे हैं। विश्व इतिहास, मानव सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में पूर्व के देशों की प्रतिभा और भावना का स्थान अब गौण नहीं रह सकेगा।

२. विश्व में साम्यवादी प्रसार

साम्यवाद का दार्शनिक आधार है—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद; और इसका इतिहास का विश्लेषण और अध्ययन करने का ढंग भी है—भौतिकवादी, वस्तुवादी, ऑबजैक्टिव। समाज में एक स्थिति होती है, प्राकृतिक एवं वस्तु संबंधी ज्ञान-वर्धन से उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होता है, उसके फलस्वरूप समाज में एक प्रति-स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसका समाहार होता है—समन्वयात्मक स्थिति में। इस तरह मानव समाज गतिमान रहता है, उसमें परिवर्तन और विकास होता रहता है। इतिहास के इस प्रकार के विश्लेषण और अध्ययन के आधार पर साम्यवादी यह देख पाये हैं कि दुनिया में साम्यवाद का आना अवश्यंभावी है, इतिहास की शक्तियां इस दिशा की ओर ही काम कर रही हैं। साम्यवादी रूस ने अपने आपको इस ऐतिहासिक परिवर्तन का अग्रदूत माना है। याद होगा, रूस में दुनिया की सर्वप्रथम साम्यवादी क्रांति (१९१७) के बाद वहाँ के एक नेता ट्रोटस्की ने कहा था कि विश्वभर में तुरंत ही साम्यवादी क्रांति छेड़ देनी चाहिए। उस समय तो लेनिन और स्टालिन ने विश्व क्रांति के लिए परिस्थितियां उचित नहीं समझी थीं। किन्तु आज (१९५७ में) इतिहास का अवलोकन करने पर तो हम यह घटता हुआ देख रहे हैं कि प्रथम साम्यवादी क्रांति के केवल ३० वर्ष बाद लगभग आधा संसार साम्यवादी आधार पर संगठित हो जाता है। साम्यवादी प्रसार का अध्ययन निम्न तालिका से किया जा सकता है:—

अक्टूबर १९५७ में साम्यवादी विश्व

वर्ष जिसमें साम्यवादी व्यवस्था आई	देश जिसमें साम्यवादी व्यवस्था आई	देश की आबादी लगभग	विशेष
१९१७	रूस	१९ करोड़ ३०लाख	प्रथम विश्वयुद्ध काल में
१९२४	आउटर मंगोलिया	१० लाख	रूस की तरह का जनवादी गणतंत्र
१९४५	पोलैंड	२ करोड़ ५० लाख	द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद
"	रुमानिया	१ करोड़ ७० लाख	"
"	चेकोस्लोवेकिया	१ करोड़ ५० लाख	"
"	हंगरी	१ करोड़	"
"	बलगेरिया	७५ लाख	"
"	अलबेनिया	१२ लाख	"
"	यूगोस्लेविया	१ करोड़ ७० लाख	"
"	पूर्वी जर्मनी	१ करोड़ ७५ लाख	"
१९४८	उत्तरी कोरिया	९० लाख	"
१९४९	चीन (मंचूरिया, इनर मंगोलिया, सिंकियांग और तिब्बत सहित)	५० करोड़	चीन में राष्ट्रवादी एवं साम्यवादी दलों के बीच गृह युद्ध के फलस्वरूप
१९५४	वियट मिन	१ करोड़ ५० लाख	फ्रांसीसी उपनिवेशवाद के विरुद्ध युद्ध के फलस्वरूप
१९५६	केरल (भारत)	१ करोड़ ३६ लाख	स्वतंत्र निर्वाचन द्वारा भारतके केरल राज्य में साम्यवादी दल की सरकार बनी ।

विश्व की लगभग $\frac{1}{3}$ भाग जन संख्या साम्यवादी व्यवस्था में आगई ।

इसके अतिरिक्त, समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के लिए विश्व में आये दिन जगह जगह सक्रिय प्रयत्न होते रहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद ऐसे प्रयत्न बर्मा में हुए, मलाया में हुए और हो रहे हैं; इङ्गलैंड में १९४५ से १९४९ तक समाजवादी मजदूर दल की सरकार रही; भारत ने भी समाजवादी व्यवस्था को अपने सामाजिक–आर्थिक संगठन का ध्येय बनाया है।

यह भी ज्ञात है कि विश्व के प्रायः सभी देशों में संगठित साम्यवादी दल हैं, पर्याप्त संख्या में लोग साम्यवादी विचारों से और साम्यवादी देशों की वास्तविक (क्रियात्मक) उपलब्धियों से प्रभावित हैं, और वे यह महसूस कर रहे हैं कि "आर्थिक स्वतंत्रता" और आत्म-सम्मान पूर्वक जीवन-निर्वाह के साधनों की उपलब्धि के बिना राजनैतिक स्वतंत्रता और अधिकार अर्थहीन होते हैं; एवं मानव मात्र का कल्याण इसी में है कि विश्व में शोषणहीन, वर्गहीन समाज का निर्माण हो।

३. रूस और अमेरिका में शीत युद्ध

द्वितीय महायुद्ध में रूस और अमेरिका एक दूसरे की मदद में कंधा से कंधा मिलाकर लड़े थे। रूस साम्यवादी देश था और अमेरिका पूंजीवादी, फिर भी वे मित्र बन गए थे—ऐतिहासिक परिस्थितियों से बाध्य होकर। ऐसी परिस्थितियां निम्नांकित न्याय से बनीं :—

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था और विकास फ्री कम्पीटीशन (मुक्त प्रतिस्पर्धा) के सिद्धान्त पर आधारित है। जब तक समस्त विश्व का आर्थिक नियंत्रण एक स्थान (देश विशेष, या देशों के ग्रुप विशेष) में केन्द्रित नहीं हो जाता तब तक पूंजीवादी देशों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है। १८७० ई० से पश्चिमी पूंजीवादी देशों का कुछ ऐसा ही इतिहास रहा है। उपनिवेशों के लिए पहिले छोटे मोटे युद्ध हुए जिनकी समाहिती १९१४–१८ में प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यवादी राष्ट्रों के महायुद्ध में हुई। युद्ध के बाद ऐसा मालूम होता था कि मानो विश्व का आर्थिक प्रभुत्व इङ्गलैंड–फ्रांस के हाथों में आ गया है, किन्तु इसी बीच

एक पूंजीवादी–विरोधी शक्ति का उदय होगया, वह थी रूसी साम्यवाद की शक्ति और दूसरी ओर विजित या औपनिवेशिक लूट में पीछे रहने वाले अन्य पूंजीवादी राष्ट्रों की आकांक्षा भी बढ़ी यथा, जर्मनी, इटली और जापान अपनी शक्ति बढ़ाने लगे। अतः द्वितीय महायुद्ध के पहिले स्थिति इस प्रकार बनी :—

(१)
पूंजीवादी शक्ति
(इङ्गलैंड-फ्रांस)

(२)
उत्थित होती हुई
इटली, जर्मनी,
जापान की पूंजी-
वादी शक्ति

(३)
रूसी साम्यवादी
शक्ति

चाहिए यह था कि (१) और (२) मिल जाते और तीसरे कॉमन दुश्मन को खत्म कर डालते। इसी दिशा की ओर वस्तुतः पूंजीवादी कूटनीति का विकास हो भी रहा था। जैसे, ज्योंही रूस में साम्यवादी क्रांति हुई वैसे ही १४ पूंजीवादी राष्ट्रों ने रूस पर हमला कर दिया, किन्तु किसी प्रकार वह सफल नहीं हुआ। फिर नवंबर २५, १९२६ के दिन जर्मनी और जापान ने यह घोषणा करते हुए कि साम्यवाद तो विश्व में शांति और व्यवस्था के लिए एक खतरा है, साम्यवाद के विरोध में एक समझौते पत्र पर हस्ताक्षर किए; इस प्रकार पूंजीपति देशों का एक साम्यवादी-विरोधी संगठन विधिवत् अस्तित्व में आया। इस संगठन में इटली १९३७ में, एवं हंगरी, स्पेन और मंचुको १९३९ में सम्मिलित हो गए। साथ ही साथ इङ्गलैंड और फ्रांस ने जर्मन सैनिक शक्ति को खूब बढ़ने दिया था, इसी आशा में कि साम्यवाद को रोकने के लिए एक दीवार खड़ी हो रही है। इसी प्रकार इन देशों की सरकारों ने स्पेन की उदार समाजवादी सरकार को उखाड़ फेंकने में मदद देकर

(१९३६) वहां जनरल फ्रेंको की प्रतिक्रियावादी तानाशाही स्थापित करवा दी थी। किन्तु इसी समय जर्मनी ने १९३८ में आस्ट्रिया और चैकोस्लोवेकिया पर कब्जा कर लिया, और १९३९ में पोलेंड पर हमला कर दिया। इस पर विश्व के प्रमुख साम्राज्यवादी देश इङ्गलेंड और फ्रांस सशंकित हो उठे,—पूंजीवाद का अंतर्विरोध उभरने लगा; पूंजीवादी देशों में प्रतिस्पर्धा का भाव जागृत हो उठा। इङ्गलेंड फ्रांस (मित्रराष्ट्र) जिनके हाथ में विश्व के अधिकतम उपनिवेश थे सशंकित हो उठे कि विश्व का प्रभुत्व उनके हाथ से खिसका। अतः युद्ध पूंजीवादी और साम्यवादी देशों में होने के बजाय पूंजीवादी देशों में आपस में ही छिड़ गया। पूंजीवाद–साम्राज्यवाद के धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, इटली, जापान) के खेमे ने अद्‌भुत शक्ति का परिचय दिया। इसने केवल दो वर्षों में, १९४१ तक, पोलैंड, होलैंड, बेल्जियम, लक्ष्मबर्ग, फ्रांस, हंगरी, बल्गेरिया, रोमानिया, हिन्दचीन, फारमूसा, उत्तरीचीन पर अपना अधिपत्य जमा लिया; इङ्गलेंड पर भयंकर बम्बार्डिंग शुरू हो गया और ऐसा दिखने लगा कि विश्व मेंकेवल धुरी राष्ट्रों का प्रभुत्व रहेगा। और फिर, १९४१ में जर्मनी ने साम्यवादी रूस पर हमला कर दिया—जर्मन फौजें रूसियों को खदेड़ती हुईं स्टालिनग्रेड तक पहुंच गईं; और तब फिर युद्ध का दौर बदला, "स्टालिनग्रेड एक महाकाव्य बन गया; सैनिक प्रतिरक्षा के इतिहास में वह थर्मोपली के समकक्ष आ खड़ा हुआ।" इङ्गलेंड का प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल जिसकी राजनैतिक आकांक्षा बस एक यह थी कि "बोल्शविजम का गला उसके पालने में ही घोंटदे," उसी बोल्शविक रूस को बचाने के लिए आगे बढ़ा। इतिहास की अनिवार्यता अजब थी। इङ्गलेंड, फ्रांस, अमेरिका और रूस मित्र बन गए। "मित्र राष्ट्रों" के पूंजीवादी देश रूसी लाल फौज की सराहना करते नहीं अघाये। अमेरिका के जनरल मैकार्थर ने कहा: "सभ्यता की आशा अब तो बहादुर रूसी फौजों के योग्य झंडो पर ही आधारित है।" युद्ध ने पलटा खालिया था; धुरी

राष्ट्र पीछे हटने लगे थे; मित्र राष्ट्रों की विजय निश्चित थी। खतरा निकल गया; पूंजीवाद और साम्यवाद का भेद उभर आया। रूस की फौजें जर्मन फौजों को खदेड़ती हुई बर्लिन तक पहुंची थीं कि इङ्गलैंड ने कहा—बस करो, बाकी का जर्मनी हम संभाल लेंगे; उधर पूर्व में रूस की फौजें जापानियों को खदेड़ती कोरिया के मध्य तक पहुंच गई थीं कि अमेरिका ने कहा—बस करो, बाकी का कोरिया हम संभाल लेंगे। मित्र राष्ट्रों के बीच भेद की रेखा खिंच गई। एक घटना और हो चुकी थी; सभी मित्र राष्ट्र मिलकर, बिना कुछ छिपाए युद्ध संबंधी नीति बनाया करते थे, युद्ध की चाल तय किया करते थे। किंतु उधर अमेरिका ने परमाणु बम का आविष्कार कर लिया, इस रहस्य को अमेरिका ने रूस से सर्वथा गुप्त रक्खा, और बिना उसको सूचित किए अमेरिका ने उसका प्रयोग भी जापान के विरुद्ध कर डाला। रूस के चित्त में शंका उत्पन्न हो गई। एक ओर पूंजीवादी अमेरिका की यह मन्शा हो गई कि युद्ध खतम होते होते अधिकतम क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित करले; दूसरी ओर साम्यवादी रूस का भी यही प्रयत्न हो गया। दोनों विलग हो गए, अपना अपना घर संभालने लगे।

युद्ध के विनाश और विध्वंस के बाद केवल दो ही देश शक्तिशाली और महत्वशाली बचे थे—अमेरिका और रूस। विश्व के अन्य सभी देश (कुछ अपवादों को छोड़कर) अपनी अपनी भावनाओं, मान्यताओं या परिस्थितियों के वश उक्त दो देशों में से किसी एक के सीधे प्रभाव क्षेत्र में आगए या उसके मित्र बन गए। इस प्रकार कुछ देश (पूर्वी जर्मनी, रुमानिया, बलगेरिया, पोलैंड, अलबेनिया, युगोस्लेविया, चैको-स्लोवेकिया, हंगरी, चीन) तो रूस से संलग्न होगए। दूसरी ओर पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया अपनी चरम स्थिति तक पहुंची—

युद्ध काल में	अमेरिका, इंगलैंड और फ्रांस का मित्र तो था साम्यवादी रूस,	और शत्रु थे पूंजीवादी जापान, इटली और जर्मनी।

युद्ध के बाद	अमेरिका, इंगलैंड, और फ्रांस का शत्रु तो था साम्यवादी रूस,	और मित्र थे पूंजीवादी जापान, इटली और जर्मनी।

इस प्रकार सभी पूंजीवादी देश (पहिले के शत्रु भी) एक खेमे में आगए। उनकी परस्पर प्रतिद्वन्द्विता समाप्त हुई, समस्त विश्व की (साम्यवादी देशों को छोड़कर) आर्थिक प्रभुता केवल एक पूंजीवादी देश—अमेरिका में केन्द्रित होगई। सभी पूंजीवादी देश अमेरिका की छत्रछाया में आगए।

अमेरिकी गुट (पूंजीवादी)

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व के प्राय: सभी पूंजीवादी देशों को अपने 'प्रभाव क्षेत्र' में लाने में, एवं उनको साम्यवादी रूस के विरुद्ध किसी-न-किसी प्रतिरक्षा संगठन में सम्मिलित करने में समर्थ हुआ है। युद्धोत्तर काल में, संयुक्त राज्य अमेरिका की अनुमति से, या उसकी प्रेरणा से, या उसके आर्थिक दबाव से जो संगठन या गठबंधन बने हैं वे नीचे दिये जाते हैं:—

१. **अमेरिकी राज्यों का संगठन** (O.A.S.: Organisation of American States)। कोलोम्बिया राज्य के बोगोटा नगर में ३० अप्रैल १९४८ के दिन उत्तर और दक्षिण अमेरिका के २१ गणराज्यों ने (जिसमें उत्तर और दक्षिण के सभी स्वतंत्र गणराज्य आगए) एक अधिपत्र पर हस्ताक्षर किए, और उक्त संगठन का निर्माण किया। यह संगठन विभिन्न अमेरिकी राज्यों में राजनैतिक, सैनिक, आर्थिक, कानूनी, सामाजिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक सहयोग बनाए रखने का प्रयत्न करता है, एवं यह स्पष्ट मान्यता लेकर चलता है कि किसी एक अमेरिकी राज्य पर सशस्त्र आक्रमण समस्त अमेरिकी राज्यों पर आक्रमण समझा जाएगा, और सामूहिक रूप से आक्रमण का मुकाबला किया जायगा।

२. **पश्चिमी यूरोपीय देशों का संगठन**—यूरोप के पूर्वीय प्रदेश तो साम्यवादी होगए और वे रूस की सुरक्षा पंक्ति में आगए। आर्थिक आवश्यकताओं, साम्यवाद का भय, तथा अपनी सभ्यता और संस्कृति के मूल भूत आधारों–जैसे व्यक्ति-स्वातंत्र्य, जीवन और समाज का जन-तंत्रीय ढंग—की रक्षा,—इन बातों ने यूरोप के पच्छिमी देशों को प्रेरित किया कि वे परस्पर सहयोग और सुरक्षा की एक पंक्ति में सुसंगठित होजाएं, एक संगठन बनाकर साम्यवाद का मुकाबला करने के लिये खड़े होजाएं, एवं भूतपूर्व शत्रु जर्मनी और इटली को भी इस काम में सम्मिलित करलें। इस बात के लिए सबसे जबरदस्त दबाव था अमेरिका का, जिसने अरबों डोलर इन देशों में उनके आर्थिक उत्थान और सैनिक पुनर्संगठन के लिए बहा दिया। पश्चिमी यूरोप के संगठन की कड़ियां निम्न प्रकार हैं।

(क) अंग्लो-फ्रैंच संधि :—४ मार्च १९४७ के दिन, डनकर्क में इङ्ग-लैंड और फ्रांस ने एक मैत्री संधि की।

(ख) बेनेलक्स संघ :—बेल्जियम, नीदरलैंड और लक्समबर्ग ने परस्पर सहयोग और स्वतन्त्र व्यापार के लिए २९ अक्टूबर १९४७ के दिन एक संघ का निर्माण किया।

(ग) ब्रूसेल्स संधि :—ब्रिटिश विदेश मंत्री बेविन की प्रेरणा से, कोम्यूनिस्ट प्रसार को रोकने के लिए एवं सामूहिक सुरक्षा के लिए १७ मार्च १९४८ के दिन ब्रूसेल्स में ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैंड, बेल्जियम एवं लक्समबर्ग के विदेश मंत्रियों ने एक संधिपत्र पर हस्ताक्षर किए। यूरोपीय एकता की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम था।

(घ) यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन :—(O. E. E. C.: Organization for European Economic Co-operation)—संयुक्त राज्य अमेरिका के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट मार्शल ने युद्ध में ध्वस्त यूरोप के आर्थिक पुनरोत्थान के लिए एक आर्थिक योजना का

निर्माण किया। इस योजना में यूरोप के साम्यवादी देशों ने भाग लेने से इन्कार कर दिया, किन्तु अन्य १६ देशों ने (आस्ट्रिया, बेल्जियम, डैनमार्क, आयर, ग्रीस, आइसलैंड, इटली, लक्समबर्ग, नीदरलैंड, नोर्वे, पुर्तगाल, स्वीडन, स्वीटजरलैंड, टर्की, इङ्गलैंड और फ्रांस) अमेरिका से आर्थिक सहायता पाने के लिए एवं परस्पर आर्थिक सहकार के लिए पेरिस में २२ सितम्बर १६४७ के दिन उक्त संगठन का विधिवत निर्माण किया। इस योजना के अनुसार उक्त देशों में बहुत कुछ काम हुआ, साथ ही साथ अमेरिका का आर्थिक प्रभाव तो पच्छिमी यूरोप पर छा ही गया।

(ङ) यूरोपीय परिषद् :—५ मई १६४६ के दिन कुछ यूरोपीय देशों ने यूरोपीय परिपद् का निर्माण किया, इस उद्देश्य से कि उनमें पारस्परिक सहयोग और दृढ़ एकता स्थापित हो जिससे कि वे अपने आदर्शों और सिद्धान्तों की रक्षा कर सकें।—अर्थ स्पष्ट था, वे साम्यवाद के फैलते हुए आदर्श से अपनी रक्षा करना चाहते थे। इस परिषद् में निम्न देश सम्मिलित हुए :—ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैंड, बेल्जियम, लक्समबर्ग, डेनमार्क, यूनान, आइसलेंड, आयरलेंड, इटली, नार्वे, स्वीडन, तुर्की, प० जर्मनी और सार।

(च) उत्तरी अतलांतिक संधि संगठन : (NATO : North Atlantic Treaty Organization)—पश्चिमी यूरोप के जिन पांच संगठनों की ऊपर चर्चा की गई है, उन सबकी समाहिती 'नाटो' में होजाती है। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए, बल्कि खुलकर उसका मुकाबला करने के लिए, पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों ने ४ अप्रैल १६४६ के दिन संयुक्तराज्य अमेरिका और कनाडा का सम्पूर्ण आश्वासन पाकर वांशिगटन में एक संधि द्वारा उक्त सर्वोच्च संगठन का निर्माण किया। इसमें १६५७ तक १५ देश सम्मिलित हो चुके हैं। वे हैं :—१.अमेरिका,२. ब्रिटेन, ३. फ्रांस, ४. कनाडा, ५. इटली, ६. पुर्तगाल, ७. नोर्वे,८. डेनमार्क, ६. आइसलैंड, १०. बेल्जियम, ११. लक्समबर्ग, १२. नीदरलेंड, १३. यूनान, १४. तुर्की; १५. पश्चिमी जर्मनी

(५ मई १९५५ से)। इस संधि की एक प्रमुख शर्त यह है कि किसी भी सदस्य राष्ट्र पर सशस्त्र आक्रमण सभी सदस्यों पर आक्रमण समझा जायगा, और उस आक्रमण का सभी सदस्यों की सामूहिक शक्ति से मुकाबला किया जाएगा। नाटो के अन्तर्गत वस्तुतः आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित एक विशाल सैनिक-संगठन का निर्माण किया गया है। अमेरिका के वर्तमान (१९५७) प्रेसिडेन्ट आइसन होवर इस सैन्य संगठन के सर्वोच्च सेनापति थे। पश्चिमी जर्मनी के ५ लाख प्रशिक्षित सैनिकों की सेनायें भी इस संगठन में सम्मिलित करली गई हैं। इसके नियंत्रण में वे साधन भी हैं जिनसे रूस के दूरस्थ भागों पर भी अणुबम डाले जा सकते हैं। एक ओर तो यह कहा जा सकता है कि अतलांतिक संधि और सैन्य संगठन लोकतंत्र, एवं स्वतन्त्र देशों की रक्षा के लिए खड़ा हुआ है। दूसरी ओर यह कहा जा सकता है यह अमेरिका के नेतृत्व में साम्राज्यवाद का वह संगठन है जो प्रगतिवादी जन की आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना को खत्म कर डालना चाहता है, एवं अफ्रीका और एशिया के शोषित राष्ट्रों की मुक्त होने की चेष्टा को कुचल डालना चाहता है।

३. एशियाई देशों का संगठन :—जिस प्रकार अमेरिका ने यूरोप के साम्राज्यवादी देशों को लेकर पश्चिम में रक्षा पंक्तियां बनाईं, ठीक उसी प्रकार के प्रतिरक्षा संगठन उसने मध्यपूर्व और सुदूर पूर्व में भी बनाए। मध्यपूर्व और पूर्व में अमेरिका ने उन देशों को मिलाया जो, चाहे राजनैतिक न्याय से स्वतन्त्र थे, किन्तु आर्थिक दृष्टि से उसके (अमेरिका के) प्रभाव में आगए थे, या जहां के शासक वर्ग अपनी जनता की आर्थिक समानता की आकांक्षा को उभरना न देकर पूंजीवादी सत्ता यथावत बनाए रखना चाहते थे। इस प्रकार के संगठन निम्नांकित बने :—

(क) दक्षिण-पूर्वीय एशिया संधि संगठन : (SEATO : South-East Asia Treaty Organisation)—बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार पश्चिम में साम्यवाद को रोकने के लिए नाटो की स्थापना

हुई थी, पूर्व में सीटो की स्थापना हुई। नेतृत्व अमेरिका का ही रहा है। फिलीपीन की राजधानी मनीला में ८ सितम्बर १९५४ को, आठ राष्ट्रों अमेरिका, फ्रांस, इंगलैंड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान, थाईलैंड तथा फिलीपीन ने एक प्रतिरक्षा संधि पर हस्ताक्षर कर सीडो का निर्माण किया।

(ख) मध्यपूर्व प्रतिरक्षा संगठन (MEDO : Middle East Defence Organisation)—मध्यपूर्व को साम्यवादी होने से बचाये रखने के लिए २४ जनवरी १९५५ के दिन आंग्ल-अमेरिकन गुट की संरक्षता में, ईराक की राजधानी बगदाद में एक प्रतिरक्षा संधि पर तुर्की और ईराक ने हस्ताक्षर किए। इस संगठन में ४ अप्रेल १९५५ को इंगलैंड, २३ सितम्बर १९५५ को पाकिस्तान एवं ११ अक्टूबर १९५५ को ईरान सम्मिलित होगए।

(ग) मध्यपूर्व के लिए आइजन होवर-योजना :—संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेसिडेन्ट आइजन होवर ने अपने देश की सीनेट के सामने मध्यपूर्व के देशों को आर्थिक सहायता देने, उनको सशक्त बनाने और वहां 'साम्यवादी आक्रमण का मुकाबला करने की एक योजना रक्खी। ९ मार्च १९५७ के दिन सीनेट ने उक्त योजना संबंधी अधिनियम स्वीकृत कर लिया। अमेरिका ने दबाव डालकर मध्यपूर्व के देश ईराक, जोर्डन, लेबनान, तुर्की, पाकिस्तान, एवं साऊदी अरब को इसमें सम्मिलित होने के लिए राजी कर लिया, किन्तु मिस्र और सीरिया ने इसका कड़ा विरोध किया। अन्तिम दो देशों ने तो ये भाव व्यक्त किए कि आइजन होवर योजना तो अरब देशों को गुलाम बनाने की योजना है।

(घ) पूर्वी एशिया : आस्ट्रेलिया-न्यूजीलैंड-अमेरिका (Anzus : Australia, New Zealand, America)—सुदूरपूर्व में एवं प्रशांत महासागरीय क्षेत्र में साम्यवाद की प्रगति को रोकने के लिए १ सितंबर १९५१ को आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और अमेरिका एक सुरक्षा संधि में सम्बद्ध हुए।

रूसी गुट (साम्यवादी)

१. **वारसा संधि** :—नाटो, सीटो, मीडो, अन्जुस— विभिन्न पूंजीवादी सैन्य संगठन—रूस के चारों ओर संगठित होगए। रूस ने देखा पूंजीवाद उसकी (रूस की) नई सभ्यता को विनष्ट करने के लिए तुला हुआ है। उसने भी प्रतिरक्षात्मक उद्देश्य से यूरोप के साम्यवादी राष्ट्रों का एक सम्मेलन पोलैंड की राजधानी वारसा में बुलाया। चीन उसमें प्रेक्षक के रूप में सम्मिलित हुआ। १४ मई १९५५ के दिन ८ देशों–अल्बानिया, बलगेरिया, चेकोस्लोवेकिया, पूर्वी जर्मनी, पोलैंड, रुमानिया, हंगरी और सोवियत संघ ने मैत्री तथा सहयोग की एक संधि पर हस्ताक्षर किए। साथ ही, नाटो की तरह एक संयुक्त कमान का निर्माण किया गया जिसके प्रथम सेनापति रूस के मार्शल कोनिव नियुक्त किए गए। सोवियत संघ के प्रधान मंत्री मार्शल बुलगानिन ने इस संगठन की नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था कि यह विशुद्ध सुरक्षात्मक है, तथा शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त पर आधारित है। जो कुछ हो, वारसा संधि के अन्तर्गत संयुक्त कमान निर्मित होजाने के बाद यूरोप दो सशस्त्र शिविरों में विभाजित होगया—नाटो शिविर और वारसा शिविर।

रूस वारसा संधि के अतिरिक्त अन्य किसी संगठन का निर्माण नहीं कर सका। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां पूंजीवादी गुट ने विश्व में चारों ओर—उत्तर अतलांतिक (नाटो), सुदूर पच्छिम (ओएस), सुदूर पूर्व (अन्जुस), दक्षिण-पूर्व (सीटो), एवं मध्य-पूर्व (मीडो)—अपने संगठन खड़े किए हैं, वहां साम्यवाद केवल एक संगठन बना सका है। किन्तु आज (१९५७ में) यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक गुट शक्तिशाली है और अमुक कमजोर। पूंजीवादी गुट के पास है शक्ति इसके साधन सम्पन्न देशों की, वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों की, एवं उपनिवेशवाद से शोषित राष्ट्रों (एशिया और अफ्रीका में) के साम्राज्यवादी शासक वर्ग की, एवं अन्य मित्र राष्ट्रों के पूंजीपति शासक वर्ग की।

साम्यवादी गुट के पास भी है शक्ति साधन-सम्पन्न बनते हुए चीन की, वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों की (१९५७ में रूस परमाणु अस्त्रों में अमेरिका से पीछे नहीं, बल्कि मिसाइल्स—क्षेपकीय अस्त्रों—में अमेरिका से आगे है), एवं साम्राज्यवाद और पूंजीवाद से शोषित सभी देशों की कोटि कोटि जनता की भावना की।

पूंजीवादी गुट की कूटनीति

१. साम्राज्यवादी देशों ने ऐतिहासिक परिस्थितियों से परीभूत होकर जिन जिन देशों को स्वाधीन किया वहां उन्होंने, उन देशों को छोड़ने के पहिले, लोगों में विभेद उत्पन्न करने या देश को विभाजित करने के प्रयत्न किए, जिससे कि स्वाधीन होने के बाद वे देश सशक्त न हो सकें, वहां का पूंजीपति शासक वर्ग अपने पूर्ववर्ती शासकों का मित्र बना रहे, एवं देश आर्थिक दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती शासकों पर ही निर्भर रहे। इस नीति के स्पष्ट उदाहरण निम्नांकित हैं :—

(क) भारतवर्ष का विभाजन किया गया—भारत और पाकिस्तान में।

(ख) फलस्तीन का विभाजन हुआ—इज़राइल और समीपस्थ अरब क्षेत्रों में।

(ग) स्वतंत्र होते हुए कोरिया में साम्राज्यवादी देशों ने अपनी फौजें जा अड़ा दीं, और उसका विभाजन हुआ उत्तर और दक्षिण कोरिया में।

(घ) स्वतंत्र होते हुए हिंदचीन में संयुक्तराज्य अमेरिका ने फ्रांसिसी शासकों को अपनी सहायता पहुंचादी, और उसका विभाजन हुआ उत्तर और दक्षिण वियतनाम में।

(ङ) मध्यपूर्व के अरब राष्ट्रों का इतिहास रहा है परस्पर फूट का, और उस फूट के मूल में रही हैं साम्राज्यवादी देशों की कुचालें।

(च) मलाया छोड़ते समय अंग्रेजों ने वहां की राज्यसत्ता सौंपी वहां के सुल्तानों और सत्व-प्राप्त वर्गों के प्रतिनिधियों को, न

कि जनता, "रैयत" के प्रतिनिधियों को और तुरंत एक संधि द्वारा अपने स्वत्वों की रक्षा के लिए वहां स्थापित करदी एक अंग्रेजी फ़ौज।

२. दूसरी नीति जो अपनायी गई वह थी आर्थिक पंजे को फैलाकर देशों को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लेना। युद्धोत्तर काल में केवल अमेरिका यह काम करने में समर्थ था, और उसने यह किया। जहां जहां से यूरोपीय साम्राज्यवादी देश हटे, वहां वहां उनका रिक्त स्थान पूरा किया अमेरिका ने। प्राय: समस्त विश्व पर उसका डॉलर छा गया—पच्छिमी यूरोप के सभी देशों में; तुर्की, इज़राइल, जोर्डन, ईराक, ईरान, अरब और पाकिस्तान में; और पूर्व में दक्षिण कोरिया, दक्षिण वियटनाम, और फिलीपीन में। जहां जहां डॉलर जाता था वहां साथ साथ अमेरिकन अस्त्र भी जाते थे; और यदि संभव होता था तो अमेरिकन अड्डे भी स्थापित हो जाते थे। जो देश इन शर्तों को नहीं मानते थे, वहां अमेरिकन डॉलर कम पहुंचता था।

३. तीसरी नीति यह थी कि सामरिक महत्त्व के स्थानों पर सैनिक अड्डे बना लिए जाएँ और रूस को चारों ओर से घेर लिया जाए। अनेक स्वतन्त्र देशों ने भी, डालर के प्रभाव से या भय से, अपनी भूमि पर अमेरिकन सैनिक अड्डे बनने की स्वीकृति देदी। विश्व में मुख्यतया निम्न स्थानों पर अमेरिकन सामरिक अड्डे स्थापित हुए :—

सुदूर पश्चिम में :—पनामा नहर क्षेत्र, पोर्टोरीको, जमाइका, ट्रिनीडेड, बरमुडा, अलास्का में कई स्थान, न्यू फाउन्डलेंड, ग्रीनलैंड, आइसलैंड, अजोर्स द्वीप।

पश्चिम में :—इंगलैंड, स्पेन, प० जर्मनी, लक्समबर्ग।

मध्यपूर्व में :—मोरक्को, लीबिया, तुर्की, कातर (अरब)।

सुदूर पूर्व में :—फिलीपीन द्वीप समूह, फौरमूसा, जापान, ओकीनावा, अलशीयन द्वीप समूह एवं प्रशांत द्वीप समूह।

इस प्रकार रूस की समस्त उत्तरी, पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी सीमा के चारों ओर पूंजीवादी खतरे का घेरा पड़ गया।

४. चौथी नीति यह रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी प्रभाव को न बढ़ने देना। वस्तुतः जबसे संयुक्त राष्ट्र संघ बना है तबसे आज (१९५७) तक वह अमेरिका का पिष्ट पोषण करता रहा है—मानो वह अमेरिका का ध्वनि यंत्र हो। सारी दुनिया साफ जानती है कि चीन की ५० करोड़ जनता की मनोनीत सरकार पेकिंग की जनवादी सरकार है; इस कोटि कोटि जनता का जीवन सुखी, मुक्त और उल्लासमय इस जनवादी सरकार ने जितने कम समय में बनाया है उसका सानी इतिहास में कम ही मिलता है। किन्तु फिर भी, चूंकि अमेरिका उस वास्तविक चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बनाना चाहता, इसलिए वह सदस्यता से वंचित है और उसकी जगह अमेरिका की अणुबम की शक्ति पर खड़ी हुई फॉरमूसा की काल्पनिक सरकार चीन का प्रतिनिधित्व संयुक्त राष्ट्र संघ और सुरक्षा परिषद् में करती है। पूंजीवादी-साम्राज्यवादी कूटनीति का इससे अधिक बेशर्म उदाहरण नहीं मिल सकता—जैसे इतिहास के साथ खिलवाड़ की जा रही हो।

साम्यवादी गुट की कूटनीति

१. औपनिवेशिक परतन्त्र देशों की जनता में राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत करना एवं स्वाधीनता के लिए लड़ने को उसे उभारना। साम्राज्यवाद से पराधीन देशों की मुक्ति अपने आप में साम्यवाद की प्रगति है और पूंजीवाद की अधोगति।

२. स्वाधीन देशों की जनता में पूंजीवादी शोषण से मुक्त होने के लिए आकांक्षा उत्पन्न करना।

उपर्युक्त दोनों कामों के लिए साम्यवाद का साधन है साम्यवादी साहित्य का प्रचार, साम्यवादी देशों में भूख और बेकारी के डर से

मानव की मुक्ति, एवं प्रत्येक देश में नई सभ्यता के आदर्श से प्रेरित साम्यवादी दल का अस्तित्व।

३. पिछड़े हुए देशों को बिना शर्त आर्थिक एवं टैकनिकल सहायता देना। ऐसी सहायता उसने भारत, चीन और मिस्र को दी है।

४. चौथी नीति यह है कि पूंजीवादी रक्षापंक्ति में किसी-न-किसी प्रकार, शक्ति का प्रदर्शन करके या बिना शर्त आर्थिक सहायता देकर, भांग डालते रहना। ऐसा करने में रूस सफल हुआ है। पूर्व में यह पंक्ति कोरिया और हिंदचीन में तोड़ी गई, एवं मध्य पूर्व में सीरिया और मिस्र ने रूस का पक्ष लेकर इस पंक्ति को ध्वस्त किया। (अक्टूबर १९५७ तक की स्थिति)

५. इस नीति की पांचवी दिशा है—पिछले ७०–८० वर्षों की ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर दुनिया के समझदार लोगों को आश्वस्त करते रहना कि इतिहास की गति वस्तुतः साम्यवादी समाज की स्थापना की ओर, मानव की आर्थिक–सांस्कृतिक मुक्ति की ओर है : जहां आर्थिक मुक्ति नहीं वहां सांस्कृतिक स्वाधीनता भुलावा मात्र है।

युद्धोत्तर काल (१९४५–१९५६) की ऐतिहासिक घटनाओं का सिंहावलोकन

युद्धोत्तर काल में जो कुछ भी घटनाएं हुई हैं उनमें ऊपर-वर्णित दो शक्तियों—साम्यवाद और पूंजीवाद के द्वन्द्व-युद्ध की प्रक्रिया परोक्ष या अपरोक्ष रूप में स्पष्ट देखी जा सकती है।

१. द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत, लंका, बर्मा, पाकिस्तान, फिलीपीन, कोरिया, हिंदेशिया, इज़राइल, सीरिया, जोर्डन, लेबनान, (मिस्र), सूदान, लीबिया, ट्यूनेसिया, मोरक्को, हिंदचीन, घना, मलाया आदि देश सीधे साम्राज्यवादी शासन या प्रभाव से मुक्त हुए। (विवरण अन्यत्र देखिए)। मुक्त होने के बाद इनमें से कुछ देश अमेरिका के एवं कुछ रूस के प्रभाव क्षेत्र में चले गए; कुछ ने स्वतंत्र तटस्थ नीति अपनाई।

● पाकिस्तान, ईराक, (ईरान), इज़राइल, जोर्डन, लेबनान, फीलीपीन, दक्षिण-हिंदचीन (वियट नाम), दक्षिण-कोरिया, मलाया ने अंग्लो-अमेरिकन गुट का सहारा पकड़ा।

●● उत्तरी कोरिया, उत्तरी हिंदचीन (वियट-मिन्ह) ने रूस का सहारा लिया।

●●● मुख्यतया भारत, लंका, बर्मा, हिंदेशिया ने स्वतंत्र तटस्थ नीति अपनायी।

●●●● किन्तु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उक्त सभी देशों की साधारण जनता (संभवतः फिलीपीन और इज़राइल को छोड़ कर) रूस के पक्ष में है। जिन देशों की सरकारों ने अमेरिका का प्रभाव स्वीकार किया या जो तटस्थ हैं, वे अपने यहां के जन समुदाय की भावना की अवहेलना करके ही ऐसा कर रही हैं।

जो देश अभी परतंत्र हैं वे स्वाधीन होने की चेष्टा कर रहे हैं। इस समय (अक्टूबर १९५७ में) फ्रांस से मुक्त होने के लिए अलजीरिया में एवं ब्रिटेन से मुक्त होने के लिए साइप्रस में विध्वंसात्मक आन्दोलन चल रहे हैं। ब्रिटिश राज्य केनया और युगांडा में स्वतंत्रता के लिए वहां के मूलनिवासी माओ माओ लोगों ने १९५४ में भयंकर हिंसात्मक विद्रोह किए थे, किन्तु अंग्रेजों ने अपनी क्रूर संगीनों और मशीनगनों के बल से उन सब विद्रोहियों को कुचल डाला था। यह नहीं कहा जा सकता कि माओ माओ लोगों में आज़ादी की आग बुझ गई है।

कोरिया और कोरिया का युद्ध—कोरिया चीन के उत्तर पूर्व में एक छोटा देश है, २ करोड़ २५ लाख वहां की आबादी है। मंगोल उपजाति के वे लोग हैं, यूराल-अल्ताई परिवार की कोरियन भाषा बोलते हैं, लिखावट चीनी से मिलती जुलती है। मुख्य धर्म कन्फूशियस और बौद्ध है। इस देश का इतिहास प्राचीन है। ईसा की चतुर्थ शताब्दी में चीन की प्राचीन संस्कृति के सम्पर्क से कोरियन लोग सुसंस्कृत बने और उन्होंने बौद्ध धर्म अपनाया। १५९२ ई० तक वहां कोरियन

राजाओं का राज्य रहा,—फिर जापान और चीन का दखल होने लगा। सन् १६०५ में कोरिया जापानी साम्राज्य का अंग बना। द्वितीय महायुद्ध काल के अंत तक (१६४५) वहां जापान का अधिकार रहा। जब युद्ध हो रहा था तो उत्तरी कोरिया में तो रूसी फौजें और दक्षिणी कोरिया में अमरीकी फौजें जापानियों से लड़ रही थीं। जापान की पराजय के बाद उत्तरी कोरिया में रूस का प्रभाव रहा और दक्षिणी कोरिया में अमेरिका का; इस प्रकार देश के दो विभाग हो गये। इस उद्देश्य से कि एक ही देश दो खंडो में विभाजित नहीं रहना चाहिये उत्तरी कोरिया ने जो साम्यवादी रूस के प्रभाव में था प्रयत्न किया कि वह और दक्षिणी भाग मिलकर एक हो जायें। दक्षिण कोरिया ने जो अमेरिका के प्रभाव में था इसका विरोध किया। उत्तरी कोरिया ने युद्ध का रास्ता अपनाया— २५ जून १६५० के दिन दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। अमेरिका इसको सहन नहीं कर सका अतएव अमेरिका ने दक्षिण कोरिया का पक्ष लेकर प्रत्याक्रमण किया। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद ने जिसका रूस ने बहिष्कार कर दिया था प्रस्ताव पास किया कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार आक्रमक उत्तर कोरिया या तो तुरंत युद्ध बंद करदे अन्यथा राष्ट्र संघ के सदस्य उसको उचित दंड दें। प्रस्ताव के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के १६ सदस्यों ने सेनाएं, ५ ने मैडिकल सहायता तथा ५० ने आर्थिक सहायता प्रदान की। ७ जुलाई १६५० के दिन सुरक्षा परिषद ने एक संयुक्त फौज का निर्माण किया तथा अमेरीका के जनरल मेकार्थर को कोरिया में संयुक्त राष्ट्रीय सेनाओं का सेनापति बना दिया। किन्तु उत्तर और दक्षिण कोरिया में युद्ध विराम नहीं हो सका। दक्षिण कोरिया की फौजें एवं उसकी तरफ से लड़ने वाली अमेरिकन तथा अन्य राष्ट्रों की फौजें उत्तर कोरिया की फौजों को जिनकी सहायता के लिए चीनी साम्यवादी फौजें आ गई थीं परास्त नहीं कर सकीं। युद्ध भयंकर था, इसमें १ लाख ४२ हजार अमेरिकन हताहत हुए। इस बीच में संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से युद्ध को समाप्त करने

के लिए कई आयोग बैठाए गये, और अंत में २७ जून १९५३ को उत्तर और दक्षिण कोरिया ने युद्ध-विराम संधि पर हस्ताक्षर किए और किसी तरह युद्ध समाप्त हुआ। उत्तर कोरिया में साम्यवादी गणतंत्र राज्य और दक्षिण कोरिया में अमेरिकन प्रभाव में पूंजीवादी गणतंत्र राज्य स्थापित हुआ। कोरिया की स्थिति यहीं पर आकर ठहरी हुई है। (१९५७)

फारमूसा में युद्ध की चिनगारी—फारमूसा चीन की मुख्य भूमि से ९० मील पूर्व एक छोटा सा उपजाऊ द्वीप है। जनसंख्या ५० लाख है, जिसमें ९५ प्रतिशत चीनी हैं, शेष कुछ तो जापान से आए हुए विदेशी, एवं लगभग डेढ़ लाख अर्द्ध-सभ्य आदि-निवासी। प्राचीन काल से १८९४-९५ ई० तक फारमूसा चीन राज्य का अंग रहा। उस वर्ष जापान-चीन युद्ध में फारमूसा पर जापान का अधिकार होगया। तबसे द्वितीय महायुद्ध तक, अर्थात् १९४५ तक वह जापानी साम्राज्य का ही अंग रहा। महायुद्ध में जापान की पराजय के बाद चीन ने फारमूसा में जापानी सेनाओं का आत्म समर्पण स्वीकार किया, और फिर से फारमूसा चीन का अंग बन गया। चीन में साम्यवादी और राष्ट्रवादी पक्षों में गृहयुद्ध हुआ, १९४९ ई० में राष्ट्रीय पक्ष की, जिसके नेता चांगकाईशेक थे, हार हुई। चांगकाईशेक ने भागकर फारमूसा में शरण ली, और साम्यवादी शक्ति की बाढ़ को रोकने के लिए अमेरिका से सहायता की अपेक्षा करने लगा। सुदूर पूर्व में फारमूसा का सामरिक महत्व है, अतः अमेरिका ने वहां जहाजी बेड़ा स्थापित किया, वायुयान अड्डे बनाए, एवं शायद आणविक अस्त्र भी एकत्र किए—इस आशा में कि चीन की साम्यवादी सरकार को उलटवाकर वह वहां अपने संरक्षण में चांगकाई-शेक की पूँजीवादी सरकार स्थापित करवा देगा। आज (१९५७ में) फारमूसा के लिए साम्यवादी चीन और अमेरिका में कश्मकश है। किसी भी समय युद्ध की चिनगारी सुलग सकती है।

ग्वाटीमाला (दक्षिण अमेरिका) में पूंजीवाद का पुनः प्रवेश— १९४४ ई० में ग्वाटीमाला की जनता ने निरंकुश अधिनायकवाद समाप्त करके लोकतंत्रीय राज्य स्थापित किया। इस जनवादी सरकार ने अपने देश की तीस लाख गरीब जनता का जीवन स्तर ऊंचा करने के लिए भूमि एवं कृषि सम्बन्धी कानूनों में सुधार किए, जिससे कि भूमिहीन किसानों को जीवन निर्वाह के लिए भूमि मिल सके। इसका भयंकर विरोध किया वहां की "यूनाइटेड फ्रूट कम्पनी" ने जिसके अधिकतम हिस्से संयुक्त राज्य अमेरिका के पूंजीपतियों के हाथ में थे। इन पूंजीपतियों ने संयुक्त राज्य की सरकार को दर्शाया कि ग्वाटीमाला में साम्यवाद का खतरा है। यह घटना जून १९५४ में हुई। संयुक्त राज्य की सरकार ने देखा कि यदि ग्वाटीमाला में जनवादी सुधार सफल हो गए तो संयुक्त राज्य अमेरिका के पूंजीपतियों के दक्षिण अमेरिका के देशों में फैले हुए आर्थिक स्वत्व नष्ट होने लगेंगे। वस्तुतः दक्षिण अमेरिका के सभी देशों के मुख्य उद्योगों पर जैसे केला और काफी उद्योग, चीली में तांबा उद्योग, पीरु में सीसा और ज़िन्क उद्योग, और वेनेजुएला और कोलोम्बिया में तांबा और तेल उद्योग—सब पर अमेरिकन पूंजी का प्रमुख अधिकार है। अमेरिकन सरकार ने यह भी देखा कि यदि ग्वाटीमाला में साम्यवादी सुधार करने वाली जनवादी सरकार (अमेरिका के शब्दों में साम्यवादी सरकार) दृढ़ और शक्तिशाली हो गई तो वहां से साम्यवाद की प्रक्रिया दक्षिण अमेरिका के समस्त प्रदेशों में फैल जाएगी। अतः १९ जून १९५४ के दिन अमेरिका ने कुछ पुराने सैनिक अफसरों को शह देकर ग्वाटीमाला में साम्यवादी विरोधी दंगा करवा दिया, वहां की मनोनीत जनवादी सरकार को अपनी फौजों की सहायता से उलटवा दिया और वहां अपनी इच्छा की सरकार कायम करवा दी।

उत्तरार्ध २०वीं शताब्दी के ऐतिहासिक पूंजीवाद और साम्यवाद के विरोध को स्पष्ट करते हुए फ्रेंच हिंदचीन में गृहयुद्ध (१९५४), एवं स्वेज नहर का युद्ध (१९५५), दो घटनाएँ हुईं। इनका वर्णन अन्यत्र हो चुका है।

हंगरी में विद्रोह—द्वितीय महायुद्ध में हंगरी ने जर्मनी का पक्ष लिया। मार्च १९४४ में वहां जर्मन फौजें तैनात थीं। युद्ध के दौरान में ४ अप्रैल १९४५ तक रूस ने जर्मन फौजों से हंगरी को मुक्त किया। तब से वहां १९४७ तक मित्र राष्ट्रों के नियंत्रण आयोग की देखरेख रही। उसके उपरांत देश में रूस की संरक्षता में जनवादी सरकार की स्थापना हुई। १९४९ से ब्रिटेन और अमेरिका ने कहना शुरू किया कि रूस हंगरी के लोगों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर रहा है। उनका प्रचार चलता रहा। हंगरी में प्रतिक्रियावादी तत्वों को अवसर मिला, बाहर से सहायता का उनको आश्वासन मिला। अक्टूबर १९५६ में हंगरी सरकार के विरुद्ध ऐसे तत्वों ने विद्रोह कर दिया। विद्रोह भयंकर था, हजारों कोम्यूनिस्ट कत्ल कर दिए गए। तुरन्त रूसी फौजें आईं, और कड़े हाथ से विद्रोहियों को दबा दिया। पूंजीवादी देश चिल्लाने लगे स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का गला घोंटा जारहा है; विश्व के प्रगतिवादी जनों ने कहा समाजवादी देशों में प्रतिक्रियावादी तत्वों को उभरने नहीं दिया जा सकता। कुछ ही दिनों में देश में शांति स्थापित होगई, प्रतिक्रियावादी तत्व साफ हो चुके थे। देश फिर समाजवादी निर्माण में लग गया।

सान-मैरिनो की घटना—इटली देश के मध्य में सान-मैरिनो एक छोटा सा गणतंत्र राज्य है। द्वितीय महायुद्ध के बाद से वहां की विधान सभा में साम्यवादी सदस्यों का बहुमत रहा है, अतः साम्यवादी सरकार। किन्तु यह स्थिति अमेरिका, एवं अमेरिका द्वारा अनुमोदित इटली सरकार के लिए असह्य रही है। अक्टूबर १९५७ में इटली ने उक्त छोटे से राज्य की सीमा पर अपनी फौजें तैनात करदीं और उसकी भूमि में से अपने युद्ध-टैंक चला दिए, एवं अमेरिका और इटली ने वहां एक साम्यवादी-विरोधी सरकार को मान्यता देदी।

मध्यपूर्व में अमेरिका और रूस की हलचल—मध्यपूर्व से इंगलैंड और फ्रांस के हट जाने के बाद वहां अमेरिका निर्विरोध अपना प्रभाव

चाहता रहा है, क्योंकि विश्व में यह क्षेत्र पेट्रोल तेल का सर्वोच्च भंडार है, वहाँ की तेल कम्पनियों में अमेरिकन पूंजीपतियों के अधिकांश हिस्से हैं; और क्योंकि साथ ही साथ यह डर है कि यदि अमेरिका वहां न आएगा तो रूस अपना प्रभाव वहां जमा लेगा। अतः मीडो (बग़दाद संधि) और आइजन होवर योजना के अन्तर्गत अमेरिका ने मध्यपूर्व के देशों को डॉलर और शस्त्रास्त्रों की सहायता देकर अपने प्रभाव क्षेत्र में लाना चाहा। अमेरिका इसमें बहुत हद तक सफल भी हुआ। १९५७ के आते आते तुर्की, ईरान, ईराक, लेबनान, जोर्डन एवं साऊदी-अरब, उसके प्रभाव क्षेत्र में आगए। जोर्डन की सरकार ने नहीं आना चाहा था किन्तु अमेरिका ने अपने एजेन्टों द्वारा वहां की प्रगतिवादी सरकार का तख्ता उलटवा दिया (अप्रेल १९५७) और अमेरिकन-पक्षी शाह और प्रधान मंत्री को शासनारूढ़ करवा दिया। किन्तु मिश्र और सीरिया अमेरिकन प्रभाव में नहीं आए; उन्होंने रूस की सहानुभूति और मैत्री पसंद की। अमेरिका इसको सहन नहीं कर सकता। आज (अक्टूबर १५, १९५७) स्थिति निम्न प्रकार है :—

अमेरिका ने अपने जहाजी बेड़े (छठी फ्लीट) को भूमध्यसागर में स्थापित कर दिया है। तुर्की की फौजें सीरिया की सीमा पर तैनात करवादी हैं। उधर सीरिया के मित्र मिस्र ने अपनी सेनाएं सीरिया में भेज दी हैं। रूस प्रतीक्षा कर रहा है—देख रहा है कि क्या कुछ घटनाएँ वहां होती हैं। सीरिया की मदद के लिए वह दृढ़ संकल्प है।

इन सभी घटनाओं के अध्ययन के उपरांत यही दिखता है कि विश्व में आज (अक्टूबर १९५७) युद्ध का वातावरण बना हुआ है। जगह जगह युद्ध की चिनगारियां बिखरी पड़ी हैं। मानव युद्ध के भय से त्रस्त है। फिर भी वह प्रतिदिन सुबह उठता है, अपने दैनिक काम में लग जाता है, और दिन भर सोचता काम करता रात को सो जाता है।

४. शांति के लिए प्रयत्न

शांति को लक्ष्य मानकर, विश्व-शांति स्थापन के लिए विश्व के राष्ट्रों का 'संयुक्त राष्ट्र संघ' अस्तित्व में आया, २४ अक्टूबर १९४५ को। युद्ध की खुराफात आखिर शुरू तो होती है मनुष्य के मस्तिष्क, उसके मन में ही; मन और मस्तिष्क को सुसंस्कृत करन के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के ही तत्वावधान में निर्मित हुई यूनेस्को (संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक-वैज्ञानिक-सांस्कृतिक संगठन)—४ नवम्बर १९४६ के दिन। यूनेस्को ने विश्व के विद्यालयों में, सांस्कृतिक संस्थाओं में शिक्षा के माध्यम द्वारा अपने ढंग से बालकों, विद्यार्थियों और नागरिकों में अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र, भ्रातृत्व, समानता और सहकार की भावना पुष्ट करने का प्रयत्न किया, और कर रही है। उधर संयुक्त राष्ट्र संघ ने निशस्त्रीकरण कमेटी एवं आणुविक शक्ति आयोग निर्मित करके, एवं विश्व के राजनैतिज्ञों को विशेष प्रश्नों के उठने पर परस्पर वार्तालाप, विचार विनिमय और शांतिपूर्ण निपटारे के लिए सम्मेलन बुलाने की प्रेरणा देकर विश्व-शांति के लिए अपने ढंग से प्रयत्न किए। महत्वपूर्ण सम्मेलनों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

● **जेनेवा सम्मेलन**—जून १९५४ में हिन्दचीन युद्ध को समाप्त करने के लिए एवं कोरिया की युद्ध-विराम रेखा पर विचार करने के लिए फ्रांस, इंगलैंड, चीन, वियटमिन, वियटनाम, कम्बोडिया और लाओस राज्यों के उच्चस्तरीय प्रतिनिधि स्वीटजरलैंड की राजधानी जेनेवा में सम्मिलित हुए। उक्त प्रश्नों का शांतिपूर्ण ढंग से निपटारा करने में वे बहुत अंश तक सफल हुए। हिन्द चीन में युद्ध समाप्त कर दिया गया और यह देखरेख करने के लिए कि समझौते की शर्तों का पालन होता है या नहीं भारत की अध्यक्षता में एक अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग का भी निर्माण कर दिया गया।

●● **चोटी का जेनेवा सम्मेलन**—(जुलाई १९५५) विश्व की राजनैतिक हलचल, उसमें युद्ध और शांति की संभावनाएं बनती बिगड़ती

रही हैं मुख्यतया रूस और अमेरिका की इच्छा और निर्णयों पर, और इन दो देशों के बाद इंगलैंड और फ्रांस की इच्छा और निर्णयों पर भी। इन चार देशों के अधिनायक, शासक-नेता परस्पर कभी नहीं मिलते थे। अतः जब जुलाई १९५५ में वे एक सम्मेलन में एक साथ बैठे और दुनिया की युद्ध और शांति की समस्याओं पर बातचीत की, तो यह एक महत्व-पूर्ण घटना थी। अमेरिका के प्रेसिडेन्ट आइजन होवर, रूस के प्रधान-मंत्री मार्शल बुल्गानिन, इंगलैंड के प्रधान मंत्री अन्थनी ईडन और फ्रांस के प्रधान मंत्री ऐडगर फेवर उक्त सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे। अनेक दिनों की विचारणा के बाद भी युद्ध और शांति के प्रश्नों और विश्व राजनीति की अनेक समस्याओं के संबंध में यद्यपि वे किसी सुनिश्चित और व्यावहारिक निर्णय पर एक मत होकर नहीं पहुंच पाए, तथापि उन्होंने यह अवश्य महसूस किया कि युद्ध से किसी का भी भला नहीं होगा, और वे दृढ़ संकल्प करके सम्मेलन में से उठे कि कभी न कभी निशस्त्रीकरण का प्रश्न हल करना ही होगा और परस्पर सशंकित स्थिति को खत्म करना ही होगा।

●●● **जेनेवा में विश्व के वैज्ञानिकों का सम्मेलन** (अगस्त १९५५) जेनेवा में उधर जब विश्व के चोटी के राजनैतिज्ञों का सम्मेलन हो रहा था, उसी समय वहां आणुविक शक्ति संबंधी ज्ञान का आदान प्रदान करने के लिए एवं तत्संबंधी विचारण करने के लिए विश्व के १२०० प्रमुख वैज्ञानिकों का सम्मेलन हुआ। यह भी विश्व में एक महत्वपूर्ण घटना थी; इसका महत्व इस बात में भी था कि मनुष्य ने महसूस किया कि जब वह प्रकृति और शक्ति के अनुपम रहस्य खोलता हुआ जारहा है, जीवन को सुखद बनाने के साधनों को पाता जा रहा है, उस समय युद्ध की बात कितनी निरर्थक मालूम होती है।

उधर भारतवर्ष ने अपने ढंग से विश्व में शांति का वातावरण बनाने के लिए प्रयत्न किए। स्वाधीनता मिलने के बाद भारत ने अन्त-र्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए पंचशील नामक पांच सिद्धांत स्थिर किए

(विवरण अन्यत्र देखिए)। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण था—सह अस्तित्व का सिद्धान्त, अर्थात् विभिन्न विचारधाराओं वाले राज्य और राष्ट्र भी साथ साथ शांति से रह सकते हैं, दुनिया में पूंजीवाद और साम्यवाद का अस्तित्व साथ साथ बना रह सकता है। रूस ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया। भारत ने ऐसे देशों की एक शृंखला बनाई जो, रूस और अमेरिका, किसी भी गुट से न जुड़े और अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रख सके। हिंदेशिया, बर्मा, लंका, अफ़ग़ानिस्तान, युगोस्लेविया और मिस्र ऐसे देशों में प्रमुख हैं।

निःशस्त्री करण सम्मेलन—संयुक्त राष्ट्र संघ निःशस्त्री करण कमेटी की अनेक बैठकें लंदन में १९५५–५६ में हुईं। अभी १९५७ में भी हो रही हैं, किन्तु बड़े राष्ट्र किसी भी समझौते पर नहीं पहुंच पा रहे हैं।

विरोधाभास—आज के मानव-इतिहास की गति में अजब विरोधाभास है। जहां एक ओर तो मानव, यह समझता हुआ कि युद्ध का अर्थ मनुष्य-जाति का सर्वनाश है, शांति के लिए अथक प्रयत्न कर रहा है, दूसरी ओर साथ ही साथ वह भयंकर से भयंकर युद्धास्त्रों के निर्माण में भी आतुरता से लगा हुआ है। १९४५ तक तो अणुबम ही निकला था, उसके बाद आज तक (१९५७) उद्जन बम निकल आए, क्षेपकीय अस्त्र (missiles) निकल आए, और फिर रूस का अन्तर्महाद्वीपीय विध्वंसकारी क्षेपक (Inter continental ballistic missile)।

क्या जीवन का कोई एक विशेष ढंग स्वयं जीवन से बड़ा है ?

सन् १९५९ ई० — एक विवेचन

किसी भी नए युद्ध में "अमेरिका और ब्रिटेन की स्थिति उस समय तक न्याय युक्त और धर्मसंगत नहीं होगी जब तक वे अपने आधीन अफ्रीका और एशिया के प्रदेशों से, एवं उन प्रदेशों में अपने सैनिक अड्डों से हटकर और रंग-भेद नीति को दूर करके, अपने ही घर को ठीक नहीं कर लेते।" —महात्मा गांधी

२० वीं सदी के पूर्वार्ध की राजनैतिक घटनाओं का मनन करें तो हम स्पष्ट देख पायेंगे कि वे समस्त घटनाएं परस्पर सम्बद्ध हैं और एक निर्दिष्ट दिशा की ओर बढ़ती हुई सी जारही हैं।

औद्योगिक क्रांति के बाद यूरोप में औद्योगिक पूंजीवाद विकसित हुआ जिसकी परिणति हुई साम्राज्यवाद में। अपनी पूंजी के उपयोग और प्रसार के लिए यूरोप के देश एशिया और अफ्रीका की ओर बढ़े और १९१४ तक उन्होंने इन दोनों महाद्वीपों का आपस में बंटवारा कर लिया। किन्तु बंटवारे के दौरान में प्रतिस्पर्द्धा हुई और पूंजीवादी देशों में विश्व प्रभुता के लिए पहली टक्कर हुई—१९१४-१८ का महायुद्ध। इस टक्कर के दौरान में एक नई शक्ति, साम्यवाद का उदय हुआ, और साथ ही साथ शोषित देश साम्राज्यवाद के पंजे से मुक्त होने लगे,—साम्राज्यवाद कमजोर पड़ने लगा। किन्तु उसने अपने आपको संभाला और वह पुनर्गठित होने लगा। दूसरी ओर नवोत्पन्न साम्यवाद भी संगठित होरहा था। ऐसा दिखने लगा था कि पूंजीवादी देशों

और साम्यवादी रूस में टक्कर होगी। ऐसा हो भी जाता, किन्तु अभी तक जिस प्रकार छोटे पूंजीवादी उद्योग मिलकर एक कार्टल या पूल में केन्द्रित होजाते हैं वैसे सभी पूंजीवादी देश एक कॉमन पूल या किसी विशेष बड़े देश के चारों ओर संगठित नहीं हो पाये थे; उनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा बनी हुई थी। अतः पूंजीवादी देशों की परस्पर दूसरी टक्कर हुई—१९३९–४५ का दूसरा महायुद्ध। इस युद्ध के बाद प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हुई: विश्व-पूंजीवाद अमेरिका में केन्द्रित होगया। दूसरी ओर विश्व-साम्यवाद दृढ़तर होगया।

इस प्रकार आज समस्त दुनिया, आर्थिक-राजनैतिक दृष्टि से, दो गुटों में विभक्त है। एक पूंजीवादी अमेरिकन गुट है। ऐसा माना जाता है कि अपनी मान्यताओं और विचारधारा में यह गुट आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में जनतन्त्रीय भावना और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का पोषक है। आर्थिक क्षेत्र में इस मान्यता का अर्थ यह है कि पूंजी और श्रम को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए (Free labour and enterpise), पूंजी पर कोई नियंत्रण न हो। दूसरा गुट है रूस और चीन का साम्यवादी गुट। अपनी मान्यताओं और विचारधारा में यह पक्ष शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पोषक है; आर्थिक क्षेत्र में "साम्यवादी" भावना का, जिसका व्यावहारिक अर्थ है कि पूंजी व्यक्तिगत न हो, इस पर समाज का नियन्त्रण रहे।

इन दो गुटों में शीत युद्ध चल रहा है, कौन जाने किस घड़ी यह शीत युद्ध वास्तविक युद्ध में परिणत हो जाये। मानव बहुत ही त्रस्त और अशांत है। अमेरिका तो डर रहा है कि कहीं साम्यवादी रूस का प्रभाव क्षेत्र बढ़ गया तो उसका व्यापार और आर्थिक प्रभाव ही कहीं ठप न हो जाये और दूसरी ओर रूस को यह डर है कि कहीं अमेरिका जैसे पूंजीपति देश उसको खत्म ही न कर डालें। इस भय और संदेह का समाधान कैसे हो? हम अपने ऐतिहासिक ज्ञान की दृष्टि से आज की वस्तु-स्थिति का कुछ विश्लेषण करें?

अरबों करोड़ों वर्षों की सृष्टि की गति का हमने अध्ययन किया, करोड़ों लाखों वर्षों की प्राण की गति और विकास का हमने अध्ययन किया, हजारों वर्षों की मानव की गति का हमने अध्ययन किया। क्या हम यह तथ्य नहीं समझ पाये हैं कि सृष्टि की गति या प्राण की गति या मानव की गति या सभ्यता और संस्कृति की गति अन्ततोगत्वा विकास की ओर ही है। यह तथ्य हमने जाना है कि प्रकृति विकासोन्मुख है, प्राण विकासोन्मुख है, मानव विकासोन्मुख है। सृष्टि में मानव के उद्भूत होने के बाद,-चेतना और बुद्धियुक्त मानव के उद्भूत होने के बाद, मानो प्रयोजन विहीन सृष्टि में कुछ प्रयोजन आगया। मानव शेष सृष्टि से इसी एक बात में भिन्न था कि उसमें चेतना और बुद्धि थी। इस बुद्धि और चेतना युक्त मानव ने सभ्यता और संस्कृति का विकास किया, स्वयं अपना विकास किया। हमने देखा है कि उसके विकास का आधार रहा उसकी बुद्धि और चेतना की स्वतंत्रता। उसकी बुद्धि और चेतना को यदि अवरुद्ध करदिया जाये, तो न मानव का विकास होगा और न उसको आनंद की अनुभूति। यह बात बिल्कुल सत्य है। किन्तु इसके साथ ही आज जो दूसरी बात उतनी ही सत्य है वह यह कि मानव की चेतना इस बात का भार आज सहन नहीं कर सकती कि हर घड़ी उसको यह चिंता बनी रहे कि पेट के लिए रोटी का इन्तजाम है या नहीं।

वस्तुतः साधारण मानव की चेतना की अवरुद्धता का कारण वे सामाजिक परिस्थितियां हैं जिनमें उसे जीवन-निर्वाह, शिक्षा और ज्ञानोपार्जन की सुविधाएँ आत्मसम्मानपूर्वक प्राप्त नहीं हो पातीं। मानव इतिहास के पिछले ५० हजार वर्षों में आज पहली बार व्यावहारिक रूप सें मानव को यह भान और विश्वास होने लगा है कि जीवन-विकास के साधन—वे भौतिक उपादान जिनसे, और वह सामाजिक व्यवस्था जिसमें चेतना मुक्त और निर्भय रह सके—सभी लोगों को, सर्व-साधारण को भी, न केवल कुछ धनी और विशेष-सत्व प्राप्त लोगों को, उपलब्ध कराए जा सकते हैं।

सन् १९५६ की यह दुखभरी कहानी है कि आज के सब विचारक, राजनैतिज्ञ, मानव समाज के नेता इस एक बात में तो सहमत हैं कि मानव समाज में सब प्राणी स्वतंत्र हों, सबको विकास की समान सुविधायें (अच्छा खानापीना, रहना, शिक्षा के साधन) प्राप्त हों, सबको सामाजिक न्याय मिले, किसी का भी आर्थिक शोषण न हो। किन्तु इस सामाजिक आदर्श के पाने के तरीकों में कोई भी एक मत नहीं होते। सबका अपने अपने तरीके के प्रति इतना दुराग्रह है कि भिन्न तरीकों, भिन्न साधनों में विश्वास करने वालों को वे मानों खत्म ही कर डालें। सन् १९५६ में मानव की यही ट्रेजेडी है।

बीसवीं शताब्दी में एक महामानव हुआ—महात्मा गांधी। उसने मानव इतिहास पर मंडराती हुई इस ट्रेजेडी को देखा और बतलाया कि किसी क्षेत्र में, चाहे व्यक्तिगत क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो, राजनैतिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र हो, ध्येय की श्रेष्ठता नहीं रह सकती यदि साधनों की श्रेष्ठता न हो। साधन दूषित होने से ध्येय भी दूषित हो जाता है। समानता, शोषणहीनता, सामाजिक न्याय का आदर्श नहीं प्राप्त किया जा सकता यदि साधन हिंसात्मक हों। जिस प्रकार व्यक्ति व्यक्ति में अहिंसा का व्यवहार मान्य है, प्राप्य है,—उसी प्रकार राष्ट्र राष्ट्र में अहिंसा मान्य होनी चाहिये, वह प्राप्य है, संभव है। बिना इस सत साधन के उच्च सामाजिक आदर्श की प्राप्ति नहीं हो सकती। गांधी की यह बात आज २०वीं सदी के मध्यकाल में जबकि उद्जन बम मानव जाति के सिर पर मंडरा रहा है कितनी मार्मिक मालूम होती है। मानव का अस्तित्व या विनाश आज मानव के इस निर्णय पर आधारित है कि वह साध्यकी ओर बढ़ने में शांतिपूर्ण उपाय अपनाता है या नहीं, कि वह ऐतिहासिक गति को अहिंसक बनाता है या नहीं।

आज ज्ञान विज्ञान की धारा

भूमिका—मनुष्य आवश्यकता से बाध्य, और उत्सुकता से प्रेरित होकर प्रकृति, समाज और स्वयं अपने विषय में तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमेशा से प्रयत्नशील रहा है। इस प्रयत्न से उसके अनुभव और ज्ञान के भंडार में अभिवृद्धि होती रही है। इस भंडार की अभिवृद्धि में कई देशों और कई जाति के लोगों ने अपना अपना विशेष अनुदान दिया है, यथा भारत ने एक मुक्त आनंदमय आत्मा का ज्ञान, ग्रीस ने प्रकृति के अन्वेषण और सौन्दर्यानुभूति का भाव, रोम ने नियम एवं सामाजिक राजकीय अनुशासन का ढङ्ग, आधुनिक पच्छिम ने विज्ञान की सफलतायें, इत्यादि। और इस प्रकार मानव सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है, मानव ने प्रगति की है। किसी भी एक देश या जाति द्वारा उद्घाटित कोई भी तथ्य उस देश और जाति तक सीमित नहीं रहा है। प्राचीन काल में भी जब यातायात के साधन सुलभ नहीं थे देश देश के विचारों में किसी न किसी रूप में आदान प्रदान हुआ और यह आदान प्रदान और विनिमय आधुनिक काल में तो इतना बढ़ गया है कि किसी भी क्षेत्र में साहित्य हो, कला हो, दर्शन-विज्ञान हो, धर्म हो,—दुनिया के किसी भी कोने में, कुछ भी हलचल होती है तो उसकी प्रतिक्रिया शेष संसार में तुरन्त होती है, मानो सब देश एक भूमि हैं सब लोग एक जाति।

मानव बुद्धि, एवं प्रकृति और समाज में परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया के व्यापार से उत्पन्न कई धाराओं ने मिलकर मानव सभ्यता और संस्कृति को प्रशस्त और धनी बनाया है। ये धारायें हैं विशेषतः विज्ञान, सामा-

जिक विज्ञान, दर्शन, धर्म, साहित्य और कला। ज्ञान विज्ञान के इन क्षेत्रों में हजारों वर्षों की थाती तो मनुष्य के पास है ही, उस थाती में आज के मानव ने भी कुछ जोड़ा है और इस प्रकार वह ज्ञान की एक विशेष स्थिति तक पहुंचा है। ज्ञान के उपरोक्त क्षेत्रों में आज के मानव की जानकारी की क्या स्थिति है इसका बहुत थोड़े में हम यहां विवेचन करेंगे।

व्यावहारिक-विज्ञान—आदिकाल से मानव सभ्यता का भौतिक विकास होता चला आ रहा है कौनसा विशेष भौतिक पदार्थ किस काल में विकास का प्रमुख साधन रहा है इस दृष्टि से इतिहासज्ञों ने विकास अवस्था को भिन्न भिन्न युगों में विभक्त किया है; जैसे जिस युग में पत्थर के औजारों और हथियारों का विशेष प्रयोग रहा वह पाषाण युग, जिसमें कांसा धातु के औजारों का विशेष प्रयोग रहा वह कांस्य युग और इस प्रकार आगे। अतः

सर्व प्रथम— प्राचीन पाषाण युग—(आज से लगभग ५० हजार से १५ हजार वर्ष पूर्व तक)।

दूसरा—नव पाषाण युग—(आज से लगभग १५ हजार से ईसा पूर्व ६ हजार वर्ष पूर्व तक)।

तीसरा—धातु (कांस्य) युग—(लगभग ६ हजार से २ हजार वर्ष ई० पूर्व)।

चौथा—लौह युग—(२ हजार वर्ष ई० पू० से वर्तमान शताब्दी तक)

लौह युग को हम दो विभागों में बांट सकते हैं—

१. वाष्प-शक्ति युग—१८वीं १९वीं शताब्दी।

२. विद्युत-शक्ति युग—२०वीं शताब्दी

आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर हम कल्पना कर सकते हैं कि सभ्यता के विकास का अगला चरण, अर्थात् पांचवां युग "परमाणु शक्ति युग" (Atomic Age) होगा।

परमाणु शक्ति क्या है ?—इङ्गलैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक जोह्न डाल्टन ने १६वीं शती के प्रारंभ में अणु-सिद्धान्त (Atomic Theory) की स्थापना की थी; उसके अनुसार प्रकृति के समस्त तत्व (Elements) मूलतः पृथक पृथक ऐसे सूक्ष्म अणुओं के बने हुए होते हैं जो अविभाज्य माने गये। तत्वों के अंतिम अविभाज्य अंग को 'अणु' (Atom) नाम दिया गया। फिर २०वीं शती के प्रारंभ में भौतिक विज्ञान के अंग्रेज आचार्य थोमसन (J. J. Thomson) ने अविभाज्य अणु को विच्छिन्न किया अर्थात अणु को भी तोड़ने में वह सफल हुआ। यह एक आश्चर्यजनक, युगांतरकारी घटना थी। इसी बात के आधार पर कि पदार्थ का सूक्ष्मतम अंग अणुभी विच्छिन्न कर दिया, अणु संबंधी अन्य अनेक अनुसंधान किये गये, जिनमें महत्वपूर्ण काम था केमब्रिज के लोर्ड रदरफोर्ड का, कोपेनहेगन (डेनमार्क) के नीलसबोर (Niels Bohr) का, फ्रांस के बेकरल (Becqurel) तथा क्यूरी का; और प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता आइंस्टाइन का। इन के अनुसंधानों से पता लगा कि अणु के विच्छिन्न होने से जिन परमाणुओं (इल्कट्रोन, प्रोटोन) का प्रकटीकरण हुआ उनका धर्म पदार्थकण के समान नहीं किंतु विद्युत्कण के समान पाया गया; वे मानो द्रव्य-पदार्थ के कण नहीं थे, वे थे शक्तिकण, अर्थात् अणुओं का परमाणुओं में विच्छिन्न होने का अर्थ है पदार्थ का शक्ति में रूपान्तर होना। यही परमाणु शक्ति है। इस शक्ति का सर्व प्रथम परिचय उस समय मिला था जब १६४५ ई० में द्वितीय महायुद्ध काल में अमेरिका ने जापान के दो नगरों पर दो 'अणुबम' डाले थे, जिनमें अणु शक्ति के विस्फोट होने पर चारों ओर भयंकर आग, तूफान, आंधी फैल गई थी और जो कुछ उसकी झपेट में आया वह सब विनिष्ट होगया था। परमाणु शक्ति (Atomic Energy) संबंधी अमेरिका, रूस, इङ्गलैंड इत्यादि देशों में जो अनुसंधान होरहे हैं उनसे परमाणु शक्ति के उपयोग के संबंध में यह संभावना मानी जाने लगी है कि इससे मानव हित के लिये कल्पनातीत निर्माणकारी कार्य किये जा

सकेंगे—यथा (१) ऐसी संभावना है कि एक दो वर्षों में ही परमाणु शक्ति से विद्युत् शक्ति उत्पन्न की जा सकेगी।* (२) नासूर जैसे भयंकर रोगों की चिकित्सा में इसका उपयोग होने की निकट संभावना है। (३) इसके अतिरिक्त पौधों, वृक्षों और जीवों में पाचन क्रिया किस प्रकार होती है, किस प्रकार पौधे सूर्य की शक्ति को अपने में जज़्ब कर लेते हैं और फिर वही शक्ति हमको भोजन के रूप में देते हैं, ये सब क्रियायें किसी गति से होती हैं, ये बातें अणु शक्ति द्वारा प्रसूत किरणों के प्रकाश में स्पष्ट देखी जा सकेंगी। यदि ऐसा हुआ तो कृषि एवं चिकित्सा ज्ञान में अभूत पूर्व क्रांति हो सकती है और हम इस संभावना की कल्पना कर सकते हैं कि हम अपने कारखानों में ही खूब खाद्य पदार्थ पैदा कर सकेंगे, बिना मिट्टी और पौधों की सहायता के। (४) परमाणु शक्ति से 'रोकेट जहाज' चलाये जा सकेंगे जो अन्य ग्रहों तक पहुँच सकेंगे। (५) ऐसे समाचार हैं कि रूस में इस शक्ति का प्रयोग नदियों की दिशा बदलने में हो चुका है। (६) वर्तमान यांत्रिक युग में जलविद्युत से परिचालित कुछ कारखानों को छोड़ समस्त यंत्रों का (रेल, जहाज, वायुयान, मोटर, बिजलीघर इत्यादि का) परिचालन पेट्रोल तथा कोयले की शक्ति से किया जाता है। ऐसा अनुमान है कि इस काम के लिये वर्ष भर में आजकल संसार में १५० करोड़ टन कोयला एवं ५५ करोड़ टन पेट्रोल खर्च होता है। फिर संसार के कोयले की खदानों और पेट्रोल के कूओं की उत्पादन क्षमता का अनुमान लगाकर यह हिसाब लगाया गया है कि यदि इसी हिसाब से जैसा आज होता है हम पेट्रोल और कोयले खर्च करते गये तो दुनिया का समस्त कोयला और पेट्रोल एक हजार वर्षों में ही समाप्त हो जायेगा। परन्तु परमाणु शक्ति के आविष्कार से तो हमें शक्ति का इतना अपरिमित भण्डार मिल जायेगा जिसके खत्म होने की कल्पना भी हम नहीं कर सकते।

---

* १९५७ में रूस, अमेरिका और इंगलैंड ने ऐसा कर लिया है।

यदि संसार का लोहा खत्म होगया तो ?—यांत्रिक युग अर्थात् आधुनिक सभ्यता का बहुत सा दारोमदार इसी बात पर है कि हमें पृथ्वी के गर्भ में अर्थात् खदानों में लोहा बराबर मिलता रहे। जिस वेग से आज खदानों में से लोहा निकाला जा रहा है इससे तो कल्पना होती है कि लोहे का भण्डार शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा, किन्तु नये नये औद्योगिक टेकनीकों का अनुपम विकास किया जारहा है और आज यांत्रिक उद्योग इसमें सफल हुए हैं कि लोह का काम वे बहुत अंशों तक दो धातुओं यथा अल्यूमिनियम और मेगनेशियम से ले लें। अल्यूमिनियम तो वे कई प्रकार की मिट्टियों एवं बोक्साइट (Bauxite) में से निकालने लगे हैं और मेगनेसियम सीधा समुद्रों में से निकाला जा रहा है। समुद्र के अथाह जल में मेगनेसियम का अथाह भण्डार है।

हम देखते हैं कि जिस प्रकार परमाणु शक्ति ने हमारी इस चिन्ता को दूर किया है कि यदि कोयला और पेट्रोल खत्म हो जायेगा तो हमारा काम नहीं रुकेगा, उसी प्रकार मिट्टी और समुद्र से अलम्युनियम और मेगनेसियम के निकाले जाने की संभावना ने हमें इस फिक्र से मुक्त किया है कि यदि लोहा खत्म हो जायेगा तब भी हमारा काम नहीं रुकेगा।

सूर्य की शक्ति—सूर्य की ओर देखकर क्या आपने कभी यह अनुमान लगाया है कि शक्ति का यह कितना अक्षय भण्डार है ? वैज्ञानिक ने इस शक्ति को नापा है–उसने अनुमान लगाया है कि एक वर्ष में सूर्य इस पृथ्वी पर इतने ताप (Heat Energy) का प्रसरण करता है जितना ताप ४००,०००,०००,०००,०००,०००,०००,००० टन कोयले से उत्पन्न किया जाता है। आज से २००० वर्ष पूर्व जब कि ग्रीक वैज्ञानिक आर्शमडीज ने सर्व प्रथम सूर्य की किरणों को एक कांच में एकत्रित कर पानी के प्याले को गर्म करने का प्रयोग किया था तब से आजतक अनेक वैज्ञानिक यह प्रयत्न करते आ रहे हैं कि किस प्रकार सूर्य की शक्ति को केन्द्रीभूत करके उससे हम अपने ऐंजिन और कारखाने चला सकें। कोई कोई वैज्ञानिक अवश्य कुछ ऐसे ऐंजिन बनाने म

सफल हुए हैं जिनमें सूर्य की शक्ति काम में आये, किन्तु अभी ये प्रयोगात्मक स्थिति में ही हैं। फिर भी हम सोचें तो सही कि मानव मस्तिष्क भी कहां कहां तक पहुँचता है—कितनी अनन्त उसकी संभावनायें हैं।

नक्षत्रयान:—प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर आगस्ट पिकार्ड का कहना है कि आज सिद्धान्ततः तो यह सिद्ध है कि ऐसे 'अणुरोकेटस' (Atomic Rockets=यान) बनाये जा सकते हैं जिनमें बैठकर हम लोग चन्द्रमा तथा समीप वाले कई ग्रहों (जैसे मंगल=मार्स; बृहस्पति=जूपीटर) की यात्रा कर सकें। इन रोकेट्स की गति ४५०० मील प्रति सैकिण्ड होगी—अर्थात् एक घण्टे में एक करोड़ ६४ लाख मील! इस गति की थोड़ी कल्पना तो कीजिये, जब कि हमारी रेलगाड़ी की गति केवल ४० मील और तेज से तेज वायुयान की केवल ४०० मील प्रति घण्टा होती है। यह सम्भव है कि रोकेट्स पृथ्वी पर से रवाना होकर हमारे इस पृथ्वी के यात्रियों को चन्द्रमा उपग्रह एवं मंगल, बृहस्पति आदि उपग्रहों तक (जो हम से करोड़ों मील दूर हैं जैसे मंगल लगभग ५ करोड़, एवं बृहस्पति ३६ करोड़ मील) पहुँचा दें, और उन स्थलों का अन्वेषण करके हमारे यात्री इन्हीं रोकेट्स द्वारा पृथ्वी पर वापिस लौट आयें। रोकेट में यात्रा करते समय एवं चन्द्रमा तथा ग्रहों पर घूमते वक्त श्वास लेने के लिये ओक्सीजन गेस (प्राण वायु) का, अपार सर्दी गर्मी से बचने के लिये विशेष प्रकार के कपड़ों का, तथा भोजन एवं अन्य आवश्यक साधनों का प्रबन्ध, यात्रियों के लिये किया जा सकेगा। अणु रोकेट में मंगल तक १ दिन ११ घण्टों में एवं जूपीटर तक ४ दिन २ घण्टों में पहुंच सकेंगे। इन रोकेट का उपरोक्त गति से परिचालन परमाणुशक्ति के द्वारा हो सकेगा। व्यावहारिक रूप से तो ऐसे रोकेट का बनना अभी तक सम्भव नहीं हुआ है किन्तु भविष्य में ऐसा होना वस्तुतः सम्भव है। प्रो० पिकार्ड का कहना है कि रोकेट यात्रा अपने ही सौर मण्डल के ग्रहों तथा अपने उपग्रह चन्द्रमा तक ही सम्भव हो सकेगी; आज की स्थिति

में यह नहीं माना जा सकता कि हम अपने सौर मण्डल को भी पार करके अन्य सूर्यों के ग्रहों तक यात्रा कर सकें।

एक अचंभे की बात है, कि सचमुच इस आशा में कि १९७५ ई० तक 'रोकेट यान' मंगल की यात्रा करने लग जायेंगे, न्यूयोर्क की एक एजेन्सी ने मंगल की यात्रा के लिये टिकट भी रिजर्व करना प्रारम्भ कर दिया है। इस एजेन्सी का कहना है कि मार्च १९७५ ई० में चार 'रोकेट यान' प्रति दिन (रविवार को छोड़ कर) मंगलग्रह के लिये रवाना हुआ करेंगे; किराये की रकम फिर घोषित की जायगी। अब तक (१९५० ई०) २०० आदमी अपनी सीटे रिजर्व करवा चुके हैं। इन रोकेटयान को हम "नक्षत्र यान" कह सकते हैं। अन्तर्ग्रहीय यात्रा करने के लिए ये नक्षत्रयान सचमुच अद्‌भुत होंगे। क्या यह संभव नहीं कि इन नक्षत्रयानों में बैठकर मानव जब मंगल या अन्य ग्रहों में पहुंचेगा तो वहां उसे प्राण और चेतनायुक्त अपने ही जैसे प्राणी मिलें ?

मानव-कृत उपग्रह—पहली जुलाई १९५७ से ३१ दिसम्बर १९५८ तक संसार में एक अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिकी वर्ष (International Geo-Physical year) मनाया जायेगा। १८ महीनों तक विश्व के वैज्ञानिक एवं भूगोल विशेषज्ञ लगातार परस्पर सहयोग एवं अनुपम यंत्रों की सहायता से पृथ्वी और उसके चारों ओर फैले हुए वायुमंडल एवं आकाशीय वातावरण का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करेंगे। मानव इतिहास में प्रथम बार भूमंडल का इस प्रकार इतने विकसित वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन हो रहा है। इस भू-भौतिकी वर्ष के सर्वाधिक असाधारण वैज्ञानिक कार्यों में से एक काम मानवकृत उपग्रह छोड़ना है। यह विज्ञान और प्रविधि के विकास का नया दौर होगा, पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की बलवती शक्ति पर मानव की विजय इसकी विशेषता होगी। पृथ्वी, उसके वायुमंडल और ब्रह्मांडकीय अवकाश के सम्बन्ध में मानव की जानकारी के विकास के लिये तथा भावी ब्रह्मांडीय उड़ानों की तैयारी के लिये यह कार्य अनुक्त महत्व का होगा। पृथ्वी के मानवकृत उपग्रहों

को नियोजित रूप में काफी लम्बे अर्से तक छोड़ने से पहले राकेटों की सहायता से वायुमण्डल के व्यापक अनुसंधान किए गए। वायुमण्डलों के ऊपरी स्तरों के सम्बन्ध में राकेटों से जो अनुसंधान हुए, उन्होंने विज्ञान को बहुत अधिक मूल्यवान सूचना दी। अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिकी वर्ष के दौरान में भी राकेटों के द्वारा वायुमण्डल के ऊपरी स्तरों के अनुसंधान पूरे जोर शोर से चलाए जाएंगे। इस समय वैज्ञानिक और इंजीनियर इन समस्याओं को हल करने में बड़ी तन्मयता के साथ लगे हुए हैं कि मानव-कृत उपग्रहों को उनके समस्त वैज्ञानिक साज-सामान सहित कैसे पूर्ण रूप से सुरक्षित दशा में धरती पर वापस लाया जाए। और सचमुच आश्चर्य की बात है कि रूस के वैज्ञानिकों ने ५ अक्टूबर १९५७ के दिन एक मानवकृत उपग्रह (मानव-कृत चन्द्रमा) निर्मित करके अंतरिक्ष में छोड़ भी दिया। इस उपग्रह का व्यास २२ इंच था और इसका भार १९० पौंड। एक राकेट की सहायता से पृथ्वी से ५५० मील ऊपर यह पहुंचाया गया, और इतना दूर रहता हुआ पृथ्वी के चारों ओर १८२०० मील प्रति घटा के वेग से यह घूर्णित होने लगा।

आज (१५ अक्टूबर १९५७) तक यह उसी प्रकार घूम रहा है, और पृथ्वी के चारों ओर १०० से भी अधिक चक्कर लगा चुका है। जब से मानव सृष्टि प्रारम्भ हुई है तब से आज तक मानव बुद्धि, विचार और कर्तृत्व शक्ति की यह सर्वोपम कृति है। आज आशा बनती है कि मनुष्य सृष्टि के रहस्य को किसी दिन अवश्य समझ लेगा।

यह विश्व किन तत्त्वों का बना है ?—रश्मि वर्ण दर्शक यंत्रों की (Spectroscopes), जिनसे नक्षत्रों की रश्मियों के वर्ण के आधार पर नक्षत्रों के विषय में जानकारी हासिल की जाती है, टेकनीक (बनावट) में दिन दिन अभूत पूर्व सुधार की वजह से, एवं जो पुच्छलतारे टूटकर पृथ्वी पर गिर जाते हैं उनके विश्लेषण के ढंग में सुधार की वजह से, आज विज्ञान वेत्ताओं के लिये यह संभव हो पाया है कि वे कह सकें कि इस विश्व का रासायनिक संघटन (Chemical Composition)

एकसा है। अर्थात् वे रासायनिक पदार्थ जो पृथ्वी पर मिलते हैं, वे ही सूर्य, ग्रहों और नक्षत्रों में उपस्थित हैं; जिन पदार्थों की यह पृथ्वी बनी उन्हीं पदार्थों के सूर्य, ग्रह, नक्षत्र बने हैं—यद्यपि इन भिन्न २ स्थलों में पाये जाने वाले पदार्थों के अनुपात में विभिन्नता अवश्य है। छोटे ग्रह जैसे मंगल, बुध, शुक्र पृथ्वी की तरह धातु और शैल (चट्टानों) के बने हैं; यूरेनस एवं नेपच्यून गृह केन्द्र में धातु और शैल के बने हैं; इन धातु और शैल के चारों ओर बर्फ, तरल अमोनिया और 'मिथेन' की मोटी खाल है और हाईड्रोजन (उद्जन) और हेलियम गेसों की महीन खोल है; बृहस्पति ग्रह का ९० प्रतिशत भाग केवल उद्जन और हेलियम गेस का बना है। अधिक नहीं केवल दस वर्ष पूर्व तक वैज्ञानिकों को इस पृथ्वी पर केवल ९२ मूल तत्व ज्ञात थे, जिन मूल तत्वों के संघठन से इस पृथ्वी के भिन्न भिन्न रूप रंगों के असंख्यों पदार्थ बने हुए हैं। इन तत्वों में साक्षेप दृष्टि से सबसे हल्का हाईड्रोजन था और सबसे भारी यूरेनियम और यह विश्वास किया जाता था कि यूरेनियम से भारी कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि भारी तत्वों का शरीर स्वतः विच्छिन्न होता रहता है, और स्वतः पड़ा पड़ा अपेक्षाकृत दूसरे हलके तत्व में परिवर्तित हो जाता है; जैसे यूरेनियम पड़ा पड़ा स्वयं सीसे में परिवर्तित होजाता है। इस प्रकार के परिवर्तन की क्रिया को तेजोदग्रण (Radio Activity) कहते हैं, जिसका अनुसंधान प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ताओं प्रोफेसर और मेडम-क्यूरी तथा अन्य वैज्ञानिकों ने किया था। इस अनुसंधान के बाद तो वैज्ञानिक लोग प्रयोग शालाओं में यूरेनियम से भी अधिक भारी तत्व स्वयं बनाने लगे और इस प्रकार मूल तत्वों की संख्या बढ़कर अब प्रायः १०० तक पहुंच गई है। वैज्ञानिक अब तक ६ और नये तत्व बना सके हैं, यथा नेपट्यूनियमम, फिलोनिय, अमेरि कियम, क्यूरियम, बर्केलियम, केलीफोर्नियम। ये नए तत्व जिनको वैज्ञानिक लोग प्रयोगशालाओं में बनाने में सफल हुए हैं और जो स्वतन्त्ररूप से प्रकृति में नहीं मिलते, इतने भयंकर तेजोद्गरण वाले हैं और परमाणु शक्ति के रूप में इतने

विनाशकारी साबित हो सकते हैं कि दुनिया में एक आफत ढादें। जैसा तीसरे अध्याय में कहा जा चुका है यह तो याद होगा ही कि ये सब पदार्थ एवं तत्व अन्ततोगत्वा एक ही भूत-तत्व (Matter) के भिन्न भिन्न रूप हैं, वह भूत-तत्व जिसके अस्तित्व का अंतिम या आदि रूप, आज की ज्ञान की स्थिति में, प्राणु एवं विद्युद्णु के रूप में विद्यमान गत्यात्मक विद्युत शक्ति को माना जाता है। अतः आज की ज्ञान की स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि यह विश्व एक ही भूत-तत्व के प्राणु एवं विद्युद्णुओं का बना हुआ है।

विश्व के रूप की, उसके संघठन की, कल्पना हम अणु को देखकर कर सकते हैं, मानों पिंड में ब्रह्मांड समाया हो। यह कथन केवल प्रतीकात्मक नहीं, किन्तु एक वैज्ञानिक तथ्य है। किसी भी तत्त्व का अणु हमारा विश्व पूर्ण सौर मंडल है।

इनकी तुलना देखिए :—

अणु (पिंड)	सौर मंडली (ब्रह्मांड)
१. केन्द्र में नाभि कण	केन्द्र में सूर्य
२. नाभिकण के चारों ओर घूर्णित होनेवाले विद्युदणु	सूर्य के चारों ओर घूर्णित होने वाले ग्रह।
३. केन्द्रीय नाभिकण की मात्रा सम्पूर्ण अणु की ९९·९७ प्रतिशत; बाकी मात्रा में सब विद्युदणु।	सूर्य की मात्रा सम्पूर्ण सौर मंडली का लगभग ९९.८७ प्रतिशत। बाकी मात्रा में सब ग्रह।
४. विद्युदणुओं के बीच का अवकाश (Distance) उनके व्यास (Diameter) से हजारों गुणा अधिक।	ग्रहों के बीच का अवकाश उनके व्यास से हजारों गुणा अधिक। व्यास एवं ग्रहों के बीच की दूरी का अनुपात अणु एवं सौर में एक ही।

अणु (पिंड)	सौर मंडली (ब्रह्मांड)
५. नाभिकण एवं विद्युदअणु में परस्पर उतना ही तीव्र आकर्षण। विद्युदणु उतनी ही शक्ति एवं तीव्र गति से नाभिकण के चारों ओर घूर्णित।	सूर्य और ग्रहों में परस्पर उतना ही तीव्र आकर्षण। ग्रह भी अनुपात में उतनी ही शक्ति एवं तीव्र गति से सूर्य के चारों ओर घूर्णित।

आज सामाजिक विज्ञान की स्थिति

सामाजिक संगठन का जो विशेष रूप प्रधानतया आज सन् १९५० में हम देख रहे हैं वह है, राजनैतिक क्षेत्र में जनतन्त्र और आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद और कहीं कहीं साम्यवाद। क्या यह कोई अपरोक्ष परा-प्रकृति या दैवी शक्ति थी जिसने अपनी स्वेच्छा से मानव पर विशेष प्रकार की व्यवस्था लादी? प्राचीन काल में मिश्र में मानव यह सोच सकता था कि राजा तो देव हैं, सुमेर में मानव यह सोच सकता था कि राजा तो देव का पुरोहित है, मध्य-युग में सर्वत्र मानव यह सोच सकता था कि समाज की सब व्यवस्था ईश्वर द्वारा निर्मित और नियन्त्रित है, किन्तु आधुनिक काल में मानव की ऐसी मान्यता नहीं है। आज वह यह सोचता है कि सामाजिक विकास के भी कुछ कारण होते हैं और वे कारण विशेष सामाजिक परिस्थितियों में ही जैसे उत्पादन के साधन इत्यादि में निहित हैं। वे कारण कोई अज्ञात रहस्य नहीं, किन्तु ज्ञात प्रत्यक्ष बातें हैं। उत्पादन की परिस्थितियों के अनुरूप ही पहिले मानव समाज में आदि कालीन साम्यवाद का रूप आया, फिर सामंतवाद और फिर पूंजीवाद। आधुनिक उत्पादन के साधनों और ढङ्ग का अध्ययन करके कुछ समाज शास्त्रियों या विचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अब संसार में सामाजिक संगठन का रूप समाजवादी या साम्यवादी होगा। इनकी यह मान्यता बन गई है कि सामाजिक एवं ऐतिहासिक

परिस्थितियां इसी ओर अग्रसर हैं। वस्तुतः आज संसार के रूस और चीन जैसे दो विशाल देशों में साम्यवादी एकतन्त्र स्थापित है और वे अपने यहां साम्यवादी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने में प्रयत्नशील हैं; इस ओर भी दृढ़ता से अग्रसर हैं कि संसार के शेष देशों में भी साम्यवादी व्यवस्था कायम हो। पूंजीवाद, समाजवाद या साम्यवाद क्या हैं, उनके संगठन का कैसा रूप होता है उसका अध्ययन अध्याय ५–६ में हो चुका है। इस अध्याय में ऊपर प्रयास किया गया है यह जानने का कि इन कुछ पिछले वर्षों में प्रायोगिक (Applied) विज्ञान ने कितनी अभूतपूर्व और कल्पनातीत उन्नति की है और उसने कितनी अजीब अजीब और महान् संभावनायें आज के मानव के सामने प्रस्तुत करदी हैं।—इतनी अधिक कि मानव स्वयं चकित है अपनी उपलब्धियों या सफलताओं को देखकर। मानो एक प्रश्न है आज के मानव के सामने कि वह टटोले कि आखिर वह चाहता क्या है। क्या वह सुख चाहता है ? यदि वह सुख चाहता है तो वह टटोले कि क्या यह सुख विशेषतः गांव की शुद्ध वायु और प्रकाश में रहकर नहीं मिल सकता ?—गांव को स्वच्छ और व्यवस्थित बनाकर, वहां की स्थानीय व्यवस्था में अपना सीधा नियन्त्रण रखकर कि जिससे उसे भान हो कि वह भी इस दुनिया और समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है, ? सुख के लिये आखिर चाहिये क्या ? सादा मोटा भोजन, एवं शुद्ध वायु और प्रकाश जिसमें स्वास्थ्य निहित है, रहने के लिये एक साधारण सा किन्तु साफ घर एवं प्रकृति और विकास को समझने के लिए व्यावहारिक शिक्षा। क्या मुख्यतया गांव में रहकर ही सरल अपना संगठन बनाकर इनकी व्यवस्था नहीं की जा सकती ? या वह फिर टटोले कि क्या यह सुख बड़े बड़े शहरों में रहकर, अपने चारों ओर हजार तरह की चीजें बटोर कर मिलता है ?—हजार तरह के सीधे टेढ़े सम्बन्ध एवं विशाल सामाजिक और राजकीय व्यवस्था स्थापित करके जहां व्यवस्था जमाये रखने के लिए अनेक पेचीदा रास्ते और कानून और नियमों का एक जटिल ढांचा

खड़ा हो, जिसमें साधारण मानव यह समझ भी नहीं पाये कि कहां क्या हो रहा है और क्या नहीं।

सर्वोदय—२०वीं शताब्दी में भारत में एक महापुरुष हुए—महात्मा गांधी। उन्होंने देखा कि आधुनिक युग में व्यक्तियों और राष्ट्रों की यह वृत्ति यह गति है कि भौतिक शक्ति में खूब अभिवृद्धि हो, भौतिक वस्तुओं का खूब परिमाण बढ़े और देखा कि राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था की गति सामूहिकता की ओर है—केन्द्रीय करण की ओर;—ऐसी सामूहिकता जिसके व्यावहारिक रूप में व्यक्ति स्वातन्त्र्य का कोई अर्थ नहीं रहता, व्यक्ति की स्वतन्त्र अपनी कोई प्रेरणा (Initiative) नहीं रहती, सामाजिक, राजकीय व्यवस्था की पेचीदगी में चकराकर व्यक्ति विशाल समूह में खो सा जाता है। ऐसी गति के प्रति उनकी आत्मा में प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने मानव को सच्चे सुख की ओर लेजाने के लिये एक नई कल्पना, जीवन और सभ्यता के मूल्यांकन का एक नया मापदण्ड दिया। उन्होंने कहा "किसी समाज की सभ्यता की कसौटी यह नहीं कि उसने प्राकृतिक शक्तियों पर कितनी विजय प्राप्त करली है और न साहित्य और कला में पारङ्गत होना ही उसकी कसौटी है बल्कि उस समाज के सदस्यों में पारस्परिक बर्ताव में तथा प्राणीमात्र के प्रति कितनी करुणा, उदारता या मैत्री है बस यही सभ्यता की सबसे बड़ी कसौटी है।"—(गांधी)। मानव सुख और सभ्यता की यह कल्पना सर्वोदय की कल्पना है। इस कल्पना के अनुसार वास्तविक जनतन्त्र जिसको सभी चाहते हैं तभी स्थापित हो सकता जब राजनैतिक क्षेत्र में एवं आर्थिक क्षेत्र में भी शक्ति का विकेन्द्रीकरण (Decentralization) हो, अर्थात् व्यक्ति और गांव आर्थिक आवश्यताओं में आत्मनिर्भर हों, उनको अपनी आवश्यकताओं के लिये किसी शहर या किसी अन्य देश की पूर्ति (Supply) पर निर्भर न रहना पड़े। सर्वोदय की यह प्रेरणा है कि जहां तक हो सके लोग गांवों में ही फैलकर बसें, बड़े बड़े शहरों में एकत्रित होकर नहीं। यन्त्रों द्वारा

केन्द्रित उत्पादन से बचें, कारखानों की भीड़ से बचें और गांवों में शुद्ध हवा और प्रकृति के निकट सम्पर्क में अपना जीवन बितायें। जहां तक हो सके किसी के पास उत्पादन के साधन भूमि का इतना अधिक संग्रह न हो कि उस पर काम करने के लिये उसे दूसरे लोगों से मजदूरी कर वानी पड़े और इस प्रकार उसे शोषण का अवसर मिले; बड़े बड़े यान्त्रिक कारखाने न हों जिनमें पूंजीवाद के आधार पर किसी विशेष मालिक या कम्पनी द्वारा लोग मजदूरी पर लगाये जाते हों। कोई स्वयं अपने काम में यन्त्र का प्रयोग करे—जैसे चरखा या चरखे का परिष्कृत रूप भी एक यन्त्र ही है—तो कोई बाधा नहीं। इसी प्रकार राजनैतिक सत्ता भी गांव के लोगों में या गांव की पंचायतों में निहित हो। गांव की शिक्षा, न्याय, शांति-व्यवस्था का उत्तरदायित्व और भार गांव की पंचायतों पर ही हो। सर्वोदय के कुछ विचारकों के अनुसार केन्द्रीयकरण सर्वथा त्याज्य नहीं। इसका स्थान राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के साधनों जैसे रेल, बिजली, तार, हवाई जहाज और तत्सम्बन्धी कारखानों में या शक्ति जैसे जलविद्युत् इत्यादि के उत्पादन के कारखानों में हो सकता है, अन्यत्र नहीं। सर्वोदय भी जीवन का एक दृष्टिकोण है, जिसका आधार धर्म में, मानव की तात्विक श्रेष्ठता में, ईश्वर या सत्य में निहित है। उसकी धारणा के अनुसार सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सब क्षेत्रों में किसी भी साध्य के लिये हिंसा या अनैतिक साधन अमान्य हैं। सर्वोदय की सबसे बड़ी मान्यता यही है कि साधनों की पवित्रता में ही साध्य की पवित्रता बनी रह सकती है।

हम देख सकते हैं कि समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदय,—सबका ध्येय प्रायः एक ही है कि शोषण-विहीन समाज की स्थापना हो, मानव व्यक्तित्व का आदर हो, सबके लिये विकास के समान साधन उपलब्ध हों, सच्चा जनतन्त्र या "शासन-विहीन" समाज स्थापित हो। किन्तु इस ध्येय की प्राप्ति के लिये साधन भिन्न भिन्न हैं, आधारभूत मान्यतायें भी भिन्न भिन्न हैं।

सर्वोदय—सर्वोदय की मान्यता है–धर्म अर्थात् ईश्वर अर्थात् आत्मा अर्थात् सत्य में आस्था; एवं साधन हैं–सत्य, अहिंसा को अपनाते हुए सरलता और प्राकृत अवस्था की ओर गति, राजनैतिक शक्ति एवं आर्थिक संगठन का विकेन्द्री करण।

समाजवाद—समाजवाद की मान्यता है–मनुष्य का अस्तित्व सर्वोपरि है; किसी भी अदृश्य परा-प्रकृति तत्व से मुक्त मनुष्य ही अपने भाग्य का निर्माता है; एवं साधन हैं–विज्ञान का विकास, उत्पादन कार्य में विज्ञान की सहायता उत्पादन के साधनों का (भूमि, खनिज, कारखानों) सामाजीकरण, सब साधनों पर समाज का नियंत्रण और समाज की व्यवस्था।

पूञ्जीवाद—उपरोक्त तीनों प्रकार की व्यवस्थाओं को छोड़कर आज संसार के विशेष भाग में स्थापना है पूंजीवाद की। पूंजीवाद का आधार अवश्य व्यक्ति स्वातंत्र्य है, इसके आधार पर उन्नति भी अवश्य अभूतपूर्व हुई है। ऐसा माना जाता है कि इस संगठन के अन्तर्गत काम में निपुणता भी विशेष रहती है, किन्तु इसका मूल आधार व्यक्तिगत लाभ की भावना है; समाज की आवश्यकतायें क्या हैं इसकी कुछ भी परवाह नहीं रहती। यह ठीक है कि आर्थिक क्षेत्र में "मांग और पूर्ति" का नियम चलता रहता है, अत: स्वभावत: अपने लाभ के लिये पूंजीपति उत्पादक वही चीज देता है जिसकी समाज में आवश्यकता अर्थात् मांग है। किन्तु अनुभव ऐसा है कि चूंकि पूंजीपति के हाथ में अतुल पूंजी (रुपये के बाजार) का नियंत्रण भी रहता है अत: वह समाज में झूठी कृत्रिम मांग या पूर्ति की स्थिति पैदा कर देता है और इस प्रकार समाज के साधारण वर्ग तक उचित मूल्य और उचित मात्रा में वस्तुऐं नहीं पहुंचने देता और स्वयं उस स्थिति का लाभ उठाता रहता है। ऐसे समाज में धन का मान रह जाता है, गुण या परिश्रम का मान नहीं; शक्ति भी पूंजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है और उनके निजी स्वार्थ स्थापित हो जाते हैं जिसमें शेष समाज की अवहेलना होती रहती है।

किसी विशेष प्रकार के सामाजिक संगठन के गुण दोषों की व्याख्या यहां नहीं करनी थी। काम केवल यही था कि हम देख पायें कि आज २०वीं सदी के इस मध्य काल में मानव समाज की यह स्थिति है, और मानव को इन "वादों" में से अपना एक रास्ता निकालना है, बुनियादी तौर से किसी एक वाद को अपनाते हुए या इनमें किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित करते हुए। मानव की इस लंबी कहानी में यह बात तो देखी होगी कि किसी भी एक वस्तु, या तथ्य, या सिद्धांत की व्यावहारिक रूप में स्थापना कभी भी अपने निर्पेक्ष, अमिश्रित रूप में नहीं होती।

आज – विज्ञान, मनोविज्ञान और दर्शन

भौतिक क्षेत्र में व्यावहारिक जीवन पर प्रभाव डालने वाले पिछले वर्षों के महत्वपूर्ण कुछ वैज्ञानिक अन्वेषणों का अब तक जिक्र किया गया। अब हम २०वीं शताब्दी में उद्घाटित उन कुछ वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों का जिक्र करते हैं जिन्होंने मानव की आजतक की मान्यताओं की बुनियादों को ही हिला दिया और एक महत् क्रान्ति पैदा करदी, ऐसी क्रांति मानों मानव को अपने विचारों, विश्वासों और सिद्धान्तों के मूल आधार ही स्यात् बदलने पड़ें। इन तथ्यों की उचित जानकारी और ठीक व्याख्या के लिये तो तत्संबंधी साहित्य पढ़ना चाहिये, यहां तो उनका जिक्र मात्र हो सकता है। मुख्यतया ये तथ्य हैं–भौतिक विज्ञान का सापेक्षवाद; न्यूक्लियर (Atomic) भौतिक विज्ञान; रूसी मनोवैज्ञानिक पैवलोव का बिहेवियरिज्म एवं डा० फ्रायड और ऐडलर का अंतर्विशलेषण।

आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद—विज्ञानवेत्ता आइंस्टाइन की स्थापना है कि इस विश्व में निर्पेक्ष (Absolute), स्वयं स्थित, अपने में ही सीमित और स्थिर कुछ नहीं। आइन्स्टाइन के पहिले न्यूटन द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त माना जाता था कि सब नक्षत्रों, पिंडों और

ग्रहों में आकर्षण शक्ति (Gravitation) है और यह शक्ति खाली आकाश में ईथर (Ether) के माध्यम द्वारा चलती है (जैसे विद्युत् शक्ति के चलने के लिये तार का माध्यम चाहिये); यह ईथर एक कल्पित वस्तु थी। न्यूटन ने इस तथ्य का तो उद्घाटन कर लिया था कि पिंडों में आकर्षण शक्ति है किन्तु वह इस रहस्य का पता नहीं लगा सका था कि यह आकर्षण शक्ति क्यों है। इस आकर्षण शक्ति एवं ईथर को स्वयंसिद्ध, निर्पेक्ष तथ्य मान लिया गया था। न्यूटन के सिद्धांत की इस कमी को पूरा किया आइन्स्टाइन ने। उसने बताया कि पिंडों में पाई जाने वाली आकर्षण शक्ति तो केवल उस मूलगति (Motion) की शक्ति है जो उस पिंड में उसके पहिली बार आविर्भूत होते समय थी, और जो अब तक उसमें है; जैसे जब पृथ्वी घूर्णमान सूर्य से पृथक हुई (देखो अध्याय ४) तो यह पृथ्वी भी उस घूर्णित सूर्य की झोंक में उसी के चारों ओर चक्कर काटने लगी, जैसे चलती गाड़ी में से उतरते समय हमें भी उस गाड़ी की झौंक में (गति शक्ति में) उसी ओर दौड़ना पड़ता है जिधर गाड़ी जारही थी। तो आकर्षण शक्ति और ईथर की निश्पेक्षता को आइन्स्टाइन ने असिद्ध ठहराया और बतलाया कि वह शक्ति तो पिंड की गति है, कोई स्वतन्त्र रहस्य-मयी शक्ति नहीं।

इसी प्रकार आइन्स्टाइन के पहिले "आकाश" (Space) एवं काल (Time) को भी स्वतन्त्र, स्वयं सिद्ध, निरपेक्ष वस्तु या तथ्य माना जाया करता था। किन्तु उसने यह स्थापित किया कि आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं, ये तो वस्तु (द्रव्य पदार्थ=Matter) के धर्म मात्र हैं, वस्तु की विशेष रूप में प्रक्रियायें हैं। किसी भी वस्तु का अस्तित्व पहिले तीन दिशाओं में माना जाया करता था, यथा लंबाई, चौड़ाई और गहराई या ऊंचाई में; किन्तु उसने बतलाया कि वस्तु का अस्तित्व चार दिशाओं में होता है। चौथी दिशा है—काल। वस्तु का रेखागणित में (ऊंचाई, लम्बाई, चौड़ाई में) प्रसार (Geometrical Extension) आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार (Chrono-

logical Extension) काल है। आकाश और काल दो भिन्न भिन्न तथ्य नहीं, यह तथ्य एक बात से समझ में आ सकता है। यह तो अपने प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि काल (समय) लम्बा होता हुआ जा रहा है; ज्यों ही एक दिन या एक घड़ी बीती उतने ही परिमाण में काल लम्बा होगया। अब चूंकि काल स्वतन्त्र नहीं, आकाश सापेक्ष है, अतः जब काल लम्बा होता है तो आकाश भी लंबा होना चाहिये। वस्तुतः यह सिद्ध किया गया है कि काल के साथ साथ आकाश अर्थात् विश्व आयतन का भी प्रसार होरहा है। इस प्रकार शक्ति, आकाश और काल, वस्तु का धर्म है।

सापेक्षतावाद ने यह भी सिद्ध करके बतलाया कि वस्तु और शक्ति दोनों परस्पर एक दूसरे में परिवर्तित किये जा सकते हैं, वस्तु शक्ति के रूप में बदली जा सकती है और शक्ति वस्तु के रूप में। कितनी वस्तु कितनी शक्ति बन जाती है इसके एक समानीकरण (Equation) का आइन्स्टाइन ने अन्वेषण किया। यथा:—शक्ति=वस्तु का घनत्व × $(१८६०००)^{२}$। जरा कल्पना कीजिये कितने थोड़े से द्रव्य–पदार्थ में से कितनी शक्ति का प्रादुर्भाव किया जा सकता है। गणना करके यह अनुमान लगाया गया है कि एक ग्राम किसी भी वस्तु में से इतनी शक्ति पैदा की जा सकती है जितनी ३००० टन कोयला जलाने से पैदा होती है। तब क्या आश्चर्य कि एक अणु में इतनी विशाल शक्ति छिपी हुई है?—इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें अणुबम में मिला है। इस प्रकार आइन्स्टाइन ने इस धारणा को गलत सिद्ध किया कि 'वस्तु' और 'शक्ति' दो भिन्न तथ्य हैं। इस द्वैत की जगह उसने अद्वैत की स्थापना की।

आइन्स्टाइन के सिद्धान्तों से भौतिकवादी अद्वैत (Materialistic Monism) की पुष्टि मिली। इस धारणा को मजबूत वैज्ञानिक आधार मिला कि यह सकल विश्व एक आदि भूत-पदार्थ (Matter) की विकासात्मक गति है। यह भूत-पदार्थ कोई स्थिर निरपेक्ष वस्तु नहीं किंतु एक सतत गत्यात्मक वस्तु है। इसकी गति इसी में निहित नियमों

के अनुसार होती रहती है। ये नियम ज्ञातव्य हैं, कोई परोक्ष रहस्य नहीं। अपनी गति या अभिव्यक्ति में भूत-पदार्थ (द्रव्य) विकास की ऐसी स्थिति तक भी पहुंचता है जब इसमें प्राण और चेतना आविर्भूत होते हैं।

न्यूक्लियर (Atomic) भौतिक शास्त्र एवं कान्तम सिद्धान्त (अर्जाणुवाद)—१६वीं सदी तक यह मान्यता बनी हुई थी कि भूत पदार्थ का अंतिम रूप अणु (Atom) है। यह अणु एक कण है जिसकी आकाश (Space) में स्थिति है एवं जो भार युक्त है। यह समस्त विश्व इन छोटे छोटे कणों का बना हुआ है। इन कणों की गति, इनका संघटन निश्चित नियमों के अनुसार होता है। अणुओं का बना यह विश्व सुनिश्चित प्राकृतिक (भौतिक) नियमों के अनुसार यंत्रवत चल रहा है। किंतु २०वीं सदी में जिन भौतिक सिद्धान्तों का उद्‌घाटन हुआ उनने इन पूर्ण रूप से निश्चित मान्यताओं की जड़ हिला दी। सर्व प्रथम तो केम्ब्रिज विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर थोमसन ने, फिर वैज्ञानिक रथरफोर्ड, फिर डेनिश भौतिक शास्त्री नील्स बोहर एवं अन्य विज्ञान वेत्ताओं ने मूलतः एक नये भौतिक-शास्त्र की स्थापना की। उन्होंने बतलाया कि भूत-पदार्थ का अंतिम रूप अणु नहीं है। अणु को भी सूक्ष्मतर भागों में तोड़ा जा सका। यह सिद्ध किया गया कि एक अणु तो अनेक सूक्ष्मतर स्थितियों का बना एक कण है। इन स्थितियों को प्रोटोन, न्यूट्रोन, इलक्ट्रोन आदि नाम दिया गया। प्रोटोन हां-धर्मी विद्युत् (Positive Electricity) है; न्यूट्रोन न तो हां धर्मी और न "ना-धर्मी" एक तटस्थ स्थिति की विद्युदणु है; इलक्ट्रोन "ना-धर्मी" विद्युदणु है। अलग अलग तत्व के अणु का नाभिकण अलग अलग निश्चित संख्या के न्यूट्रोन एवं प्रोटोन विद्युत् रूपों का बना होता है। इस नाभिकरण के चारों ओर निश्चित संख्या में इलक्ट्रोन तीव्रगति से घूर्णित होते रहते हैं। इलक्ट्रोन नाभिकण के चारों ओर निश्चित परिधि में घूमते हैं, किन्तु कभी कभी कोई इलकट्रोन अपनी निश्चित परिधि से बाहर भी निकल जाता है। कब कोई इलक्ट्रोन इस प्रकार का

व्यवहार करेगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। प्रकृति में यह एक अनियमित, अनिश्चित स्थिति की कल्पना हुई। अणु के इन सूक्ष्म विद्युत् रूपों को हम पदार्थकरण मानें या "शक्ति" (अ-भूत अथवा आत्मा या विचार तत्व) का कोई रूप तो क्या यह दृश्य भूत-द्रव्य अन्ततोगत्वा केवल एक विचार या आत्म-तत्व निकला, जो अरूप, निराकार, अज्ञात निर्विशेष है? यदि भूत-द्रव्य का अणु इलक्ट्रोन, प्रोटोन रूप विधुत का बना हुआ है तो हम वस्तु का अंतिम रूप वही मान सकते हैं जो विधुत का है किन्तु विधुत का क्या रूप है यह भी निश्चित नहीं था। सन् १६१८ में जर्मन विज्ञान वेत्ता प्लांक (Planck) ने इस तथ्य की गवेषणा की और उसने निर्धारित किया कि प्रकाश की किरण का, शक्ति का (Energy), विद्युतका भी जो कि एक प्रकार की शक्ति ही है, प्रवाह किसी धारा की तरह लगातार नहीं होता; किन्तु जिस प्रकार पदार्थ कण एक जगह से दूसरी जगह किसी प्रवाह या तरंग के रूप में नहीं जाता, बल्कि एक कुदान भर कर जाता है, उसी प्रकार किरण या 'शक्ति' भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक एक कुदान के रूप में जाती है; किन्तु साथ ही साथ कभी कभी शक्ति या किरण तरंग की तरह प्रवाह रूप में ही चलती है, अर्थात् शक्ति एवं प्रकाश या किरण प्रसरण (Radiation) कण (Particle) और तरंग (Wave) दोनों हैं। कब प्रकाश या शक्ति कण के समान व्यवहार करती है, कब तरंग की तरह यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तरंग की तरह एक सतत प्रवाह में बहती हुई कोई भी किरण या शक्ति कभी कभी कण की तरह भी एक कुदानसी भरकर दूसरी जगह चली जाती है। अतः प्रश्न रह जाता है कि द्रव्य-पदार्थ का अंतिम रूप कण है या तरंग: उसके अस्तित्व की अंतिम स्थिति कण है या तरंग, अर्थात् उसको 'भूत-कण' रूप मानें या 'विचार' रूप। कुछ भी निश्चित नहीं। जब से न्यूक्लियर भौतिक शास्त्र या अणु-विज्ञान की स्थापना हुई है तब से इस ओर बराबर नई नई गवेषणायें हो रही हैं और तेजी से

प्रगति हो रही है। अतः आज की स्थापनायें एक दृष्टि से संक्रात्मक स्थिति में हैं। सिद्धान्तों में वह स्थिरता नहीं आपाई है जो विज्ञान की दुनिया में १९वीं शताब्दी नें आ गई थी। अतः इन तमाम नये वैज्ञानिक तथ्यों की प्रतिक्रिया दार्शनिक दुनिया में भिन्न भिन्न प्रकार से हुई है।

अध्यात्मवादी या आदर्शवादी दार्शनिको ने भौतिक विज्ञान के इस नव अन्वेषित तथ्य में कि वस्तु का रूप अन्ततोगत्वा कोई एक अनिश्चित अ-पदार्थ शक्ति-रूप स्थिति है अपने मतकी पुष्टि देखी कि यह सृष्टि एक आत्म-तत्व, या ब्रह्म-तत्व, विचार-तत्व की अभिव्यक्ति है। जो कुछ यह दृश्य रूप में दिखलाई दे रहा है वह तो केवल भ्रम है, एक अ-वास्तविक स्थिति है; सत्य और वास्तविकता तो 'विचार' या "आत्म" तत्त्व है। दो महान साइंसवेत्ता जेम्सजोन्स और डाक्टर एडिंगटन स्वयं इन तथ्यों से इतने चकित हुए कि वे भी अध्यात्मवादी दार्शनिक बन गये; किन्तु दूसरी ओर भौतिकवादी दार्शनिक लोग यही मानते रहे कि यद्यपि वस्तु का अंतिम स्वरूप "शक्ति रूप" है, जिसका अभी पूर्णज्ञान नहीं, तथापि उससे वस्तु की वस्तुता (Objectivity) नहीं चली गई, बल्कि पंक की यह धारणा कि वस्तु तरंग के साथ साथ कण भी हैं, एवं उस तरंग को हम भौतिक पदार्थों की तरह नाप सकते हैं, इन दार्शनिकों के मत की पुष्टि में सहायता हुई। आज जैसी स्थिति है उसमें हम इस संबंध में कोई निर्णय नहीं बना सकते इतना ही कह सकते हैं कि एक विशाल क्षेत्र मानव की दृष्टि के सामने नया नया खुला है और उसमें ज्ञातव्य अनेक संभावनायें हैं। अद्भुत और रोमाञ्चकारी, मानव मस्तिष्क को चक्कर खिला देने वाला, यह नया क्षेत्र खुला है।

वनस्पति एवं प्राणी शास्त्र (Biology)—का सर्वाधिक युगान्तरकारी सिद्धान्त जिसने १९वीं सदी में सब क्षेत्रों में मानव की विचार-धारा को ही मूलतः बदल दिया था डार्विन इत्यादि का विकासवाद था जिसका यथा स्थान वर्णन हो चुका है। उसका सार यही है कि आज भिन्न भिन्न असंख्यों प्रकार के जितने भी प्राणी हम देख रहे हैं, चींटी,

चिड़िया, शेर, हाथी से लेकर मानव तक वे सब एक ही मूल, सूक्ष्म, सरलतम जीव से शनैः शनैः आकस्मिक परिवर्तन, जातगुण (Heredity) एवं प्राकृतिक निर्वाचन के नियमों द्वारा (देखो अध्याय ६) विकसित होकर करोड़ों वर्षों में वर्तमान स्थिति तक पहुंचे हैं। १९वीं सदी से आजतक जैसे विज्ञान की अन्य शाखाओं के ज्ञान में वृद्धि हुई है उसी प्रकार वनस्पति और प्राणी-शास्त्र के ज्ञान में भी अभिवृद्धि हुई है। वनस्पति क्षेत्र में इस कला का प्रादुर्भाव और विकास हुआ है कि किस प्रकार दो विभिन्न वनस्पतियों के बीजों को मिलाकर (Cross-Breeding) बोने से सर्वथा भिन्न प्रकार की एक ऐसी वस्तु पैदा की जा सके जिसका अस्तित्व प्रकृति में पहिले था ही नहीं। इसी दिशा में उन्नति करते करते धीरे धीरे प्रजनन शास्त्र (Science Of Eugenics) की उत्पत्ति हुई, जिसके द्वारा ये प्रयोग किये जा रहे हैं कि मानव जाति की नस्ल कैसे सुधरे और किस प्रकार शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ मानवों की उत्पत्ति हो। अभी दो वर्ष पहिले अर्थात् सन् १९४८ में रूस के प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्र वेत्ता लाइसंको ने इस क्रांतिकारी सिद्धान्त की सूचना विश्व को दी कि शरीर द्वारा संग्रहित (Acquired) गुणों का इनहेरिटेंस (एक के बाद दूसरी पीढ़ी द्वारा जन्म से अपनाया जाना) सम्भव तथा आवश्यक है। हम प्राणियों में किसी निश्चित दिशा में बाध्य परिस्थितियों के प्रभाव से उनकी आन्तरिक कार्य-प्रणाली में परिवर्तन कर उनको अपने इच्छानुकूल बदल सकते हैं। इस सिद्धान्त का आशय यह है कि हम मानव जाति में, मानव प्रकृति को ही, मानव के आन्तरिक संघटन को ही, अपनी इच्छानुकूल बदल सकते हैं। यह एक अन्यन्त क्रांतिकारी सिद्धान्त है; मानो हम प्रकृति के स्वामी हों। यद्यपि उपरोक्त सिद्धान्त अभी तक अन्य विशेषज्ञों द्वारा सिद्ध नहीं माना गया है किन्तु इसकी कल्पना ही एक बिल्कुल नई चीज है जो मानव विचारधारा को अवश्य प्रभावित करेगी। (Science of biology, Genetics, Eugenics)

मनोविज्ञान—रूसी वैज्ञानिक पैवलोव के बिहेवियरिज्म (व्यवहार-वाद) तथा अन्य प्राणी एवं मन-शास्त्रज्ञों ने अपनी गवेषणाओं के आधार पर यह निर्धारित किया कि प्राणी में इस भौतिक शरीर के एक अङ्ग मस्तिष्क या स्नायुसंस्थान से भिन्न कोई मन या आत्मा जैसी वस्तु नहीं है। जिस प्रकार भौतिक नियमों के अनुरूप हमारा शरीर यंत्रवत काम करता है उसी प्रकार इस शरीर का अङ्ग मस्तिष्क भी। जिस प्रकार पेट का धर्म पाचन करना है, फेफड़ों का काम रक्त-शोधन करना है, उसी प्रकार मस्तिष्क का धर्म बाह्य-वस्तुओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सोचना, विचारना और कल्पना करना है। यदि मस्तिष्क को कोई आघात पहुंच जाये तो सोचने विचारने की ये सब क्रियायें बन्द हो जायें। अतः सोचना विचारना मस्तिष्क से भिन्न, स्वतन्त्र अपने में कोई तथ्य नहीं।

फ्रायड और ऐडलर ने मन विश्लेषण (Psycho-Analysis) के सिद्धान्त की स्थापना की, और यह बतलाया कि हमारे प्रत्यक्ष चेतन मन की दुनिया के नीचे एक विशालतर अ-प्रत्यक्ष मन की दुनिया और है जिसमें वे सब स्वाभाविक प्रवृत्तियां, भावनायें और वासनायें (Instincts), जैसे स्वाभाविक यौन संबंधी भावना या स्वाभाविक अहं भावना जा छिपती हैं, जिनको हम अपनी कृत्रिम सभ्यता या समाज के डर से बरबस दबाने या कुंठित करने का प्रयत्न करते हैं। ये वासनायें कभी मरती नहीं वरन् भिन्न भिन्न रूपों में पाखण्ड के आवरण में छिपकर हमारे प्रत्यक्ष मनमें प्रकट होती रहती हैं। मानो हमारा प्रत्यक्ष चेतन मन हमारे अ-प्रत्यक्ष मन का एक रूपान्तर मात्र है, अर्थात् हमारे प्रत्यक्ष मन की इच्छाएं, भाव और विचार हमारे स्वतन्त्र विचार या भाव नहीं हैं, वरन् वे सब मात्र हमारे अप्रत्यक्ष मन के कार्य (Effects) हैं। अर्थात् हम अपने सब व्यवहार और कार्यों में जन्मजात प्रवृत्तियों (Instincts) से परिचालित होते हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त था जिसने सभ्यता, नैतिकता और धर्म के आवरण को बेरहमी से चीर कर

मानव को अपने वास्तविक रूप में प्रकट किया। इससे और कुछ हुआ या न हुआ हो किन्तु यह बात अवश्य सिद्ध हो गई कि मानव की वासनाओं अर्थात् स्वाभाविक प्रवृत्तियों (Instincts) का दमन करने से उसका विकास या कल्याण नहीं हो सकता। उसकी जन्मजात इच्छाओं या प्रवृत्तियों की स्वस्थ स्वाभाविक तुष्टि या अभिव्यक्ति होनी ही चाहिये।

पैवलोव के व्यवहारवाद और फ्रायड एवं ऐडलर के मन-विशलेषण ने इसी दिशा की ओर संकेत किया कि मानव में अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं होती। मानव जन्मजात प्रवृत्तियों और प्रकृति और समाज की प्रतिक्रियाओं द्वारा परिचालित एक यंत्र मात्र है। उसमें स्वतंत्र पराप्रकृति अज्ञात तत्व कुछ भी नहीं।

भूत प्रेत और पुनर्जन्म—आदिकालीन मानव के जमाने से चले आते हुए भूत प्रेत और पुनर्जन्म के प्रश्न भी आज बहुत अंशों तक प्रत्यक्ष अन्वेषण अर्थात् विज्ञान के क्षेत्र में आ जाते हैं। इङ्गलैंड और अमेरिका में आध्यात्मिक (Psychical) अन्वेषण की राष्ट्रीय प्रयोगशालायें स्थापित हैं; भारत में भी कहीं कहीं ऐसा कुछ कार्य हो रहा है। इन प्रयोगशालाओं में "लकड़ी की तिपाई" के प्रयोग, मेसमेरिज्म एवं हिपनोटिज्म जैसी कई तरकीबों से मृतात्माओं को बुलाया जाता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि मृतात्मायें आती हैं और संदेश देती हैं। इस प्रकार के प्रयोगों से इङ्गलैंड के प्रसिद्ध विज्ञान वेत्ता ऑलिवरलॉज और एक अन्य प्राच्य शास्त्र विशारद एफ. डबल्. एच. मायर्स ने यह धारणायें बनाईं कि मनुष्य के व्यक्तित्व का अस्तित्व मृत्यु के पश्चात भी रहता है और उसका पुनर्जन्म होता है। किन्तु ये सब धारणायें मात्र रहीं। प्रयोगशालाओं में कोई भी बात ऐसी नहीं हुई कि जिससे यह मान्य समझ लिया जाये कि पुनर्जन्म होता है। इन प्रयोगशालाओं में जो कुछ होता है उसके आधार पर अमेरिका के महान चिंतक श्री कोर्लिसलेमोंट (Corlis Lamont) ने जिनकी गणना विश्व के सर्वकालीन महान चिंतकों में होती है यह स्पष्ट करके बतलाया है कि

आज की ज्ञान विज्ञान की स्थिति में कोई कारण नहीं है कि हम यह मानें कि मानव का पुनर्जन्म होता है। यह तो ठीक है कि नवजीव उत्पन्न होते रहते हैं; मरण और नवजीवोत्पत्ति के लयमय नृत्य में यह सृष्टि हरी भरी, युवा और ताजा बनी रहती है, किन्तु यह कोई कारण नहीं दिखता कि 'जो' व्यक्ति मरता है वही व्यक्ति अपने पूर्व व्यक्तित्व या पूर्व कर्म को लिये हुए फिर उत्पन्न होता हो। आज तो विज्ञान की यही मान्यता है।

विज्ञान, दर्शन और धर्म—आज की विकसित ज्ञान, विज्ञान की दशा में वह स्थिति आगई मालूम होती है जब विज्ञान और दर्शन पृथक पृथक नहीं ठहरते, दर्शन के स्वतंत्र अस्तित्व की कोई आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक विज्ञान द्वारा उद्घाटित तथ्य ही दर्शन के भी आधार होंगे। यदि दर्शन को कोरी कल्पनात्मक प्रणाली मानली जाये तो बात दूसरी है किंतु यदि दर्शन का उद्देश्य सत्य की खोज है तो वह विज्ञान से पृथक नहीं हो सकता। आज विज्ञान अपने साधनों से वस्तुओं की गहराई तक इतना पहुंच गया है कि वे सब प्रश्न जो युगों से दार्शनिक को परेशान करते आरहे हैं आज वैज्ञानिक की परिधि में, प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक खोज की परिधि में आजाते हैं। धर्म एक दूसरी वस्तु है, उसका दृष्टिकोण दूसरी प्रकार का होता है। एक दृष्टिकोण तो वह होता है जो पदार्थ के सत्य को खोजता है, इसे विज्ञान या दर्शन कहिये; दूसरा दृष्टिकोण उस पदार्थ के सौन्दर्य को खोजता है जिसे कला या धर्म कहिये। विज्ञान वस्तु को "जानता" है, धर्म वस्तु को "प्यार" करता है।

वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक इतने तथ्यों की बात कर लेने के बाद युगों युगों का वही प्रश्न फिर आज के मानव के सामने उसी रूप में उपस्थित है—क्या कोई चेतनायुक्त परा-प्रकृति शक्ति—परमात्मा—इस सृष्टि का नियंत्रण कर रही है? यदि ऐसी परा-प्रकृति शक्ति है तो क्या मानव उस शक्ति का यन्त्रवत नियन्त्रित एक साधन या पुर्जामात्र है, या मानव की भी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा है? आज १९५० तक भी मानव ने इन प्रश्नों का कोई सीधा निश्चित उत्तर नहीं ढूंढ लिया

है, किन्तु ज्ञान विज्ञान और विशाल निरीक्षण, पर्यवेक्षण और अनुभव के आधार पर आज की स्थिति में वस्तुगत (Objective) वैज्ञानिक दृष्टि से देखता हुआ मानव यह कहने लगा है कि इस सृष्टि में इस सृष्टि के परे कोई भी परा-प्रकृति तत्व या शक्ति नहीं है जो ऊपर से इस सृष्टि का या व्यक्तियों का नियन्त्रण कर रही हो। यह समग्र सृष्टि या प्रकृति स्वयं-चालित भूत-द्रव्य (Matter) की एक गति या प्रक्रिया है। इस गति में एक विशेष स्टेज पर प्राण का प्रादुर्भाव होता है और फिर शनैः शनैः सर्वाधिक विकसित मानव का आगमन होता है। वह सचेतन मानव प्रकृति से कोई भिन्न तथ्य नहीं। उस प्रकृति का ही अंग है, यद्यपि आज उसमें चेतना और कल्पना है जो प्रकृति में पहिले नहीं थी। भूत-द्रव्य या प्रकृति की गतिमानता में ऐसे गुणात्मक परिवर्तन भी होते रहते हैं जब निष्प्राण अचेतन भूत स्थिति से मूलतः भिन्न गुणों का जैसे प्राण, चेतना, आनन्द का आविर्भाव हो जाता है। प्रकृति का वह रूप जिसमें ये गुण आविर्भूत हुए हैं मानव है। उस मानव की भौतिक आवश्यकतायें महत्वपूर्ण हैं किन्तु उतनी ही महत्वपूर्ण उसकी वे आवश्यकतायें हैं जिनको हम उसके विशेष विकास के अनुरूप उसकी मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकतायें कह सकते हैं, यथा, उत्कृष्ट सुव्यवस्थित सामाजिक संगठन और जीवन, प्राकृतिक तथ्यों के अन्वेषण की उत्कण्ठा, कला साहित्य में रसानुभूति, धर्म में प्रेमानुभूति इत्यादि। इन्हीं उच्चतर दिशाओं में गतिमान प्रकृति में प्रकृति के ही अंग मानव के विकास की अनेक सम्भावनायें हैं।

ज्ञान विज्ञान की परिणति कहां ?—मानव, विज्ञानवेत्ता अपने अध्यवसाय से प्रकृति (सृष्टि) के अब तक अज्ञात नियमों का अन्वेषण, उद्घाटन करता रहेगा। इसके अतिरिक्त प्रकृति की कुछ प्रक्रियायें हैं जिनसे प्रकृति में अचानक कभी कभी कोई अभूतपूर्व परिवर्तन जैसे जड़में से जीव और चेतना का विकास और कभी कोई अभूतपूर्व भयंकर घटना जैसे कहीं कहीं जल प्रलय और सहसा ऋतु-परिवर्तन इत्यादि उपस्थित

हो जाते हैं। इन प्रक्रियाओं का कारण और ढंग मानव को अभी अज्ञात है, यद्यपि उनको समझने की ओर पर्याप्त प्रगति हो चुकी है। मानव (वैज्ञानिक) इन अज्ञात प्रक्रियाओं को समझने में भी, उनके रहस्य का उद्घाटन करने में भी समर्थ होगा। वास्तव में मानव और प्रकृति भिन्न नहीं, इनमें अंगा अंगी का सम्बन्ध है, मानव प्रकृति का ही एक अंग है। प्रकृति (एवं मानव) से परे अन्य कोई पदार्थ या तत्व नहीं। प्रकृति का रहस्य का उद्घाटन मानो मानव के रहस्य का उद्घाटन है, मानव के अन्तर के रहस्य का उद्घाटन मानो प्रकृति के रहस्य का उद्घाटन है। अतएव अपने अन्तर और बाह्य के रहस्यों का उद्घाटन करता हुआ मानव स्वयं अपने आपको पहिचाने, अपने विकास की सम्भावनाओं को पहिचाने।

आज का ज्ञान और सर्वसाधारण जन

आधुनिक ज्ञान विज्ञान धारा की जो रूप रेखा ऊपर दी गई है उससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि आज संसार के सभी सर्व साधारण जनों के मानस में यह ज्ञान विज्ञान की धारा समा गई है। इसमें संदेह नहीं कि १५वीं शताब्दी से जब से यूरोप में और फिर धीरे धीरे संसार के अन्य देशों में कागज और छपाई का प्रचलन हुआ, ज्ञान का प्रसार धीरे धीरे सर्व साधारण में भी होने लगा, किंतु इतना होते हुए भी केवल भारत, चीन एवं अन्य पूर्वीय देशों में ही नहीं किंतु यूरोप और अमेरिका में भी सर्व साधारण वास्तविक अर्थ में अभी तक अशिक्षित ही है। माना अमेरिका में वैसे गिनने को तो ६५ प्रतिशत जन शिक्षित हैं, स्वीडन और डेनमार्क में शत प्रतिशत जन शिक्षित हैं, इङ्गलैंड, फ्रांस, रूस इत्यादि देशों में लगभग ६४ प्रति शत जन शिक्षित हैं, किंतु यह केवल प्रारंभिक शिक्षा (Primary Education) ही है; केवल प्रारंभिक शिक्षा से कुछ नहीं होता, उनका ज्ञान अभी सीमित है, उनका मानस अभी पर्याप्त रूप से प्रकाशित नहीं। अब भी संसार के बहुजन प्राणी, यूरोप और अमेरिका के भी ऐसा सोचते हैं कि उनका भाग्य विधाता, उनके धन, ऐश्वर्य, गरीबी, बीमारी और सुख दुख का विधाता,

राष्ट्रों के उत्थान पतन का विधाता, कोई ईश्वर या जन्म होते समय के कोई नाक्षत्रिक प्रभाव या पूर्व जन्म के कर्मफल या कोई अन्य अदृश्य परा-प्राकृतिक शक्ति (Super natural Power) या स्वयं प्रकृति नियति (Physical Determinism) है। अब भी उनकी चेतना इस बंधन से, इस भय से मुक्त नहीं। जो विचार या धार्मिक विश्वास ज्ञान या अज्ञान रूप से आज से ५० हजार वर्ष पूर्व प्राचीन-पाषाण युगीय सर्व प्रथम वास्तविक मानव की बुद्धि और चेतना को जकड़े हुए था, बुनियादी रूप से वही (अपूर्ण) विचार (अंध) धार्मिक विश्वास अनेकांश तक आज भी मानव की बुद्धि और चेतना को जकड़े हुए है। यह बात अभी तक सर्वसाधारण के मानस पर नहीं जम पाई है कि मनुष्य ही मनुष्य के भाग्य का, समाज और संसार के भाग्य का निर्माता है, और अपने तथा समाज और संसार के भविष्य पर उसका यह नियंत्रण (Control) ज्यों ज्यों उसके प्राकृतिक ज्ञान में, समाज विज्ञान के ज्ञान में, प्राणी और मनोविज्ञान के ज्ञान में अभिवृद्धि होगी त्यों त्यों अधिक पूर्ण होता जायेगा। प्रकाश की यह रेखा साधारण मानव मन के अंधकार को अभी आलोकित नहीं कर पाई है। यह तभी हो सकता है जब संसार की सर्व साधारण जनता में, स्त्री पुरुष दोनों में, उच्च शिक्षा का प्रसार हो। वर्तमान दुनिया में वे अभूतपूर्व साधन मौजूद हैं यथा कागज, छपाई, रेडियो, सिनेमा, जिनसे ज्ञान विज्ञान का प्रसार सर्व साधारण में हो सकता है। इस अनुभूति के उपरान्त भी, कि मनुष्य की चेतना विमुक्त होनी चाहिये, यदि मानव चेतना को अज्ञानांधकार से विमुक्त नहीं किया गया तो मानव और मानव सभ्यता का विनाश की ओर लुढ़क पड़ना कोई आश्चर्य जनक घटना नहीं होगी। आज यह स्पष्ट भासित होने लगा है कि मानो मानव इतिहास शिक्षा और विनाश के बीच एक होड़ है। यदि शिक्षा की तीव्रगति से प्रगति हो सकी तो सभ्यता की रक्षा हो सकेगी अन्यथा विनाश अनेक काल तक इतिहास की गति रोक देगा।

सातवां खंड

भविष्य की ओर संकेत

भविष्य की दिशा

इस दिशा की ओर प्रगति में बाधक

१. जातिगत-रूढ़मान्यतायें

२. आर्थिक-रूढ़मान्यतायें

३. धार्मिक-रूढ़मान्यतायें

४. व्यक्तिगत स्वार्थ साधन

मानव विकास का अगला चरण

इतिहास की गति

भविष्य की ओर संकेत

(६०)

भविष्य की दिशा

अचेतन सृष्टि, असंख्य जीवधारी प्राणी और अन्त में मानव के विकास का जो इतिहास हम पढ़ आये हैं, उससे इतना तो स्पष्ट हुआ होगा कि इस सृष्टि में जीवित रह सकने की एक ही प्रमुख शर्त है और वह यह कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल प्राणी अपने आपको परिवर्तित करले—नवागत परिस्थितियों से अपना सामंजस्य बैठाले। जिस जिस जीव-प्राणी ने, जिस जिस जीव जाति ने ऐसा किया वह कायम रह सकी,—अनेक ऐसी जीव जातियां जो परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने में उचित परिवर्तन नहीं ला सकीं समूल नष्ट होगईं। मानव भी ऐसी ही एक जीव-जाति है—जब तक परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल यह स्वयं परिवर्तित होती रहेगी तब तक कायम रहेगी, अन्यथा यह भी अन्य लुप्त जीव-जातियों के समान बिना किसी पर कुछ ऐहसान किये चुपचाप लुप्त हो सकती है, सृष्टि के परदे से विलीन हो सकती है।

आज मानव के चारों ओर की परिस्थितियां, प्राकृतिक एवं सामाजिक, मूलतः बदल चुकी हैं। प्राकृतिक परिस्थितियां इस तरह बदल चुकी हैं कि विज्ञान ने अपनी नवीनतम स्थापनाओं (Theories) एवं क्रांतिकारी आविष्कारों से हमारे समय और आकाश (Time Space= देशकाल) के मान में अभूतपूर्व परिवर्तन करदिया है। उसने प्रकृति की चाल को रोकने और उसको बदलने की हमको शक्ति देदी है, जैसे वनस्पति और प्राणियों में नस्ल परिवर्तन या नस्ल सुधार; सन्तानोत्पत्ति पर मनचाहा निरोध इत्यादि। एवं उसने प्राकृतिक शक्ति (जिसका एक रूप है सौर-शक्ति–Solar Energy) के ज्ञान में, अतएव उसके उपयोग की संभावनाओं में, पर्याप्त वृद्धि करदी है। सामाजिक परिस्थितियां इस तरह बदल चुकी हैं कि वैज्ञानिक आविष्कारों ने हमारे उत्पादन के ढंग में, उत्पादन वृद्धि की सम्भावनाओं में एकदम क्रांतिकारी परिवर्तन करदिया है, एवं हमारे दैनिक जीवन में, रहन सहन में, हमारी सृजनकारी शक्तियों में, हमारी विनाशकारी शक्तियों में कल्पनातीत वृद्धि करदी है।

ऊपर हमने संकेत किया कि किस अभूतपूर्व विशाल पैमाने पर हमारी आविष्कारक बुद्धि और साहस ने हमारी प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन करदिया है, और किस तीव्र गति से अब भी यह परिवर्तन जारी है;–इतनी तीव्रगति से परिवर्तन पिछले ६०-७० वर्षों को छोड़कर पहिले कभी भी नहीं हुआ; पिछले ६०-७० वर्षों की उन्नति (परिस्थितियों में परिवर्तन) उसके पहिले के ५० हजार वर्षों की उन्नति से जब से मानव का अवतरण हुआ, कहीं बढ़कर है।

किन्तु जिस प्रकार और जिस गति से इन परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ उसके अनुरूप मानव के मानस में, विचार और भावनाओं में परिवर्तन नहीं हो पाया—मानव इन परिवर्तनों के अनुरूप अपना मानसिक सामञ्जस्य (Mental Adjustment) नहीं बैठा पाया;–वह अपने पुराने (पूर्व प्राप्त, पूर्व निर्मित) संस्कारों, विचारों, भावनाओं और दृष्टिकोण को नहीं बदल सका।

इसलिये आज के मानव के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न है। या तो परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल मानसिक सामंजस्य (Mental adjustment) का स्थापित होना या मानव जाति का विनाश।

इस बात को अच्छी तरह से समझने के लिये एक बार फिर हमें अपने प्राचीन जीव विकास के इतिहास को याद करना पड़ेगा। जीव का आगमन इस सृष्टि में हुआ, फिर उसका विकास होने लगा, भिन्न भिन्न प्रकार के जीव-प्राणियों में उसका विकास हुआ, ये जीव प्राणी अपने ही शरीर में आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनूकूल भिन्न-भिन्न अंग प्रत्यंगों का विकास करते गये; जो ऐसा नहीं कर पाये वे विलुप्त होते गये। विकास होते होते एक ऐसा स्टेज आया जब मानव का विकास हुआ। मानव की विशेषता यह थी कि उसका मस्तिष्क सब अन्य प्राणियों से अधिक विकसित था। ऐसा मालूम होता है कि मानव की शारीरिक मशीनरी का विकास तो अपनी पूर्णतम स्थिति तक पहुंच चुका है, उसके मस्तिष्क में ही अब वह चेतना और शक्ति निहित है कि वह अपने जीवन की हालत को परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बनाता चले। वास्तव में जब से मानव इतिहास प्रारम्भ होता है तब से आज तक उसकी कहानी यही रही है कि आवश्यकताओं के अनुसार एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल वह अपने मानस को परिवर्तित (Adjust) करता आया है – उसके मस्तिष्क में अवश्य कुछ न कुछ ऐसे अनुकूल संस्कार, विचार और भावनायें बनती रही हैं कि वह जीवित रह सके और मानव-प्रणाली को चलाता रहे।

वास्तव में जिस प्रकार किसी निम्न जीव प्राणी में पंजे, बाल, विशेष प्रकार के दांत इत्यादि का विकास हो जाना इस बात का द्योतक है कि आवश्यकताओं के अनूकूल उसने अपना सामंजस्य बैठा लिया है, उसी प्रकार मानव मस्तिष्क में स्मृतियों का ढेर, उसके सामाजिक तथा धार्मिक विचार और भावनायें, उसके संस्कार, उसके आदर्श इत्यादि,— जिनमें परिवर्तन हुआ है और होता रहता है, इस बात के द्योतक हैं

कि वह आवश्यकताओं एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल अपना सामंजस्य (adjustment) बैठाता रहता है। यहाँ यह बात भी ध्यान में लाई जा सकती है कि जहां परिस्थितियों के अनुकूल शारीरिक परिवर्तन में तो सैंकड़ों हजारों वर्ष लगते हैं, मानसिक परिवर्तन में अपेक्षाकृत कम समय लग सकता है।

जैसा ऊपर समझाया गया है, आज की परिवर्तित परिस्थितियों में मानव के मानसिक जोड़ तोड़ बैठाने की, सामंजस्य स्थापित करने की (adjustment) की जरूरत है, यही सामंजस्य (readjustment) उसको लुप्त होने से बचा सकता है। अब प्रश्न यही विचारणीय है कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल मानव के मानस में कैसा परिवर्तन उपेक्षणीय है, कैसे मानसिक सामंजस्य की आवश्यकता है, अर्थात् अब किस दिशा की ओर मानस की प्रगति हो; मानव के विकास का अगला चरण क्या है—क्या इसका हमें कुछ आभास है? इसी से संबंधित दूसरा प्रश्न यह होगा कि आखिर कौनसी वे बाधायें हैं जो मानव मानस में उपेक्षणीय परिवर्तन नहीं होने देतीं,—मानव के विकास को रोके हुए हैं।

ये दोनों प्रश्न स्वतन्त्र अध्यायों के विषय हैं—किंतु फिर भी आज के मनीषियों के विचारों के आधार पर तुरन्त इतना तो निर्देश करना यहां आवश्यक है कि आज की अस्थिर, एवं युद्ध और विनाश के भय से आतुर परिस्थितियों में मानव का मानस निम्न बातों को स्वभावतः स्वीकार कर ले तो अच्छा हो। मानस स्वभावतः यह मान ले—

१. कि, समस्त संसार में मानव समाज एक है, सब मानवों का इतिहास एक है एवं भविष्य एक।

२. ऐसी स्थिति कि किसी एक जन की भी उचित भौतिक आवश्यकतायें आत्म सम्मान पूर्वक पूरी न हों अ-प्राकृतिक है।

३. कि, इस मानव समाज में युद्ध निषिद्ध है। मानव का "मानस" स्वभावतः ये बातें मानने लगे, ऐसा संभव नहीं जब तक मानव के मानस

में आमूल परिवर्तन न हो। मानव स्वयं में जब तक आमूल परिवर्तन न हो, तब तक ऊपरी चेपाचेपी, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और आयोजनों मात्र के आधार पर मनुष्य को भय से मुक्ति नहीं मिल सकती। मानस में इस प्रकार का आमूल परिवर्तन वैज्ञानिक एवं उदार शिक्षा द्वारा ही हो सकता है—ऐसी शिक्षा जो रूढ़िगत बंधनों से मानव चेतना को विमुक्त कर उसे वैज्ञानिक और उदार दृष्टिकोण दे। इस परिवर्तन अथवा मानसिक विकास की बात जब हम सोचते हैं तो ध्यान देने पर हमें पता लगता है कि विकास के क़दम को पीछे से जकड़े हुए हैं कई "भूत"—जिनमें मुख्यतया निम्न हैं—

१. मानव में जातिगत रूढ़ मान्यतायें
२. मानव में आर्थिक रूढ़ मान्यतायें
३. मानव में धार्मिक रूढ़ मान्यतायें
४. मानव में व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की भावना

(६१)

इस दिशा की ओर प्रगति में बाधक

१. जातिगत-रूढ़ मान्यतायें

मानव का इस पृथ्वी पर आगमन हुआ। उसके आगमन के हजारों वर्ष पश्चात हम उसको अनेक जातियों में विभक्त हुआ पाते हैं—जैसे काकेशियस (आर्य), सेमेटक, निग्रो, मंगोल आदि जातियों (Races) में। मानव जाति का जातियों में इस प्रकार विभक्ति करण—यह घटना तो प्राकृतिक वातावरण में विभिन्नता के फल स्वरूप मालूम होती है। किन्तु इसके आलावा प्रारंभिक सभ्य स्थिति के आरम्भ में जहां कहीं भी मानव बसे हुए थे हम उनकी भिन्न-भिन्न छोटी-छोटी समूहगत जातियों में भी

विभक्त हुआ पाते हैं। ये भिन्न-भिन्न समूहगत जातियां इस तरह बनती थीं, या कि लोगों में इस बात की साधारण, कि वे किसी विशेष समूहगत जाति के लोग हैं जो दूसरे लोगों से भिन्न हैं, इसी प्रकार होने लगती थी कि मनुष्य प्रारम्भ में समूह बनाकर रहता था, और कुछ लोगों के एक समूह में अनेक वर्षों तक एक साथ रहते-रहते उन लोगों का परम्परागत या काल्पनिक रूप से कुछ ऐसा विश्वास बन जाताथ । कि मानो वे कुछ लोग जो एक ही समूह में रह रहे हैं, सब एक ही किसी विशेष पूर्वज की संतान हैं और उनका समूह, उनकी समूहगत जाति दूसरे समूहों, दूसरी समूहगत जातियों से, भिन्न है, क्योंकि इनके पूर्वज कोई अन्य विशेष लोग हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता होगा (किन्तु बहुत कम) कि अनेक वर्षों तक किसी एक ही स्थान पर रहते-रहते केवल उस स्थान विशेष के आधार पर ही उनकी जाति बन गई होगी।

इतिहासकार साधारणतया सभी प्रारंभिक स्थिति के मानवों (Primitive People) को इस प्रकार का समूहगत जातियों में संगठित हुआ मानते हैं।

हम जानते हैं नील नदी की उपत्यका में लगभग ३५०० ई० पू० में फेरो (Pharohas=राजाओं) के अधिनायकत्व में समस्त मिस्र के एक राज्य में संगठित होने के पूर्व वहां भिन्न-भिन्न समूहगत जातियों के अनेक छोटे-छोटे राज्य थे और वे एक दूसरे पर स्वामित्व पाने के लिए शताब्दियों तक परस्पर झगड़ते रहे थे।

यही दशा हम प्राचीन मेसोपोटेमिया में देखते हैं। मेसोपोटेमिया में सर्व प्रथम सुमेरियन जाति का राज्य स्थापित होता है, तदंतर एक अन्य जाति–अक्काद जाति का उत्थान होता है और वे सुमेरी लोगों को परास्त कर स्वयं, अपना राज्याधिकार स्थापित करते हैं। तदंतर असीरियन जाति आती है, और फिर केल्डियन लोग आते हैं और इस तरह एक जाति के राज्य-खंडहरों पर दूसरी जाति अपना राज्य-महल खड़ा करती है।

यही हाल हम उस भू-भाग में पाते हैं जो प्राचीन काल में मिस्र और मेसोपोटेमिया के बीच में पड़ता था—जहां आधुनिक एशिया माइनर, इजराइल, सीरिया, जोर्डन, लेबनान इत्यादि स्थित हैं। इस भू-भाग में राज्य प्रभुत्व (Ascendancy) के लिए अनेक जातियों में झगड़े होते थे—यथा, नेमेनाइट, यहूदी, फीनीशीयन, हत्ती, इत्यादि, और फिर असीरीयन और केल्डियन इन समस्त जातियों के लोग एक सेमेटिक उपजाति के थे, किन्तु फिर भी इनमें परस्पर युद्ध होते थे।

सुदूर पूर्व में चीन के प्रारंभिक इतिहास काल में भी यही तथ्य देखने को मिलता है। ई. पू. २६८७ में समस्त चीन के एक सम्राट के आधीन संगठित होने के पूर्व वहां पर भी भिन्न-भिन्न समूहगत जातियों के छोटे-छोटे राज्य थे, और उनमें प्रभुत्व के लिए परस्पर होड़ होती रहती थी, यद्यपि वे सब लोग एक ही जाति के थे।

उपरोक्त प्रारंभिक सभ्यताओं के युग के बाद यूरोप में नार्डिक (काकेशियन आर्य्य) जाति के लोग मानव इतिहास के रंग-मंच पर आते हैं। उन लोगों के प्रारंभिक काल में भी हम वही समूहगत जाति की भावना पाते हैं। ग्रीस का इतिहास लीजिये पहिले आयोनियन कबीले के लोग राज्य स्थापित करते हैं—फिर स्पटिन और ऐथिनीयन जाते हैं। और फिर सबको परास्त कर मेसोडेनियन लोग (सिकन्दर महान के नेतृत्व में) अपने साम्राज्य की स्थापना करते हैं।

भारत में भी भारतीय आर्यों के भिन्न भिन्न कबीलों के राजाओं के राज्य एवं जनपद स्थापित होते हैं। उदाहरण स्वरूप—नेपाल की तराइ में शाक्यों के, कपिल वस्तु में लिच्छवी वंश के, और मिथिला में विदेहों के जनपद या प्रजातन्त्र राज्य थे।

फिर यूरोप में मध्ययुग में एक के बाद दूसरी जाति यूरोपीयन सम्रांगण पर आती है। फ्रैंक आते हैं, गोथ आते हैं, नोर्समेन आते हैं। उन सब में परस्पर झगड़े और युद्ध होते हैं और इतिहास गतिमान रहता है।

यह बात किस तथ्य की ओर निर्देश करती है ? मानव जाति के प्रारम्भिक काल में जब लोगों की आबादी कम थी--जंगली जानवर, जंगल, और जंगली वातावरण अधिक, उस समय जहां कहीं भी, जिस किसी भूखण्ड पर भी मानव रहते थे, वे समूह बनाकर रहते थे; उनके छोटे छोटे समूह होते थे और अनेक वर्षों तक साथ रहते-रहते या एक साथ घूमते-घूमते लोगों के ये समूह ही लोगों के समूहगत कबीले बन जाते थे। उन लोगों के मन में यह भावना घर कर जाती थी कि उनके समूह में जितने भी आदमी हैं वे सब एक पूर्वज की संतान हैं और उनका एक कबीला है। ऐसी भावना उन प्रारम्भिक लोगों की एक "जातिगत जन्मजात भावना" सी होगई। उन दिनों सुन्दर उपजाऊ भूमि एवं सौम्य जलवायु वाले स्थानों की तलाश में जहां भोजन सरलता से और बाहुल्यता से उपलब्ध हो सके, ये जातियां इधर उधर घूमती-फिरती थीं, विचरण करती रहती थीं। एक स्थान पर रहते-रहते दूसरे स्थान पर प्रस्थान इसलिए भी होता होगा कि एक कबीले की जनसंख्या धीरे धीरे बहुत अधिक बढ़ जाने से, और उनकी निवास भूमि सबको पालने में असमर्थ होने से, बढ़ी हुई जनसंख्या प्रस्थान कर जाये, कहीं और उचित उपजाऊ भूमि ढूंढने के लिये। उपजाऊ और अच्छी जलवायु वाली भूमि पर स्वामित्व और एकाधिपत्य अधिकार प्राप्त करने के लिये कई कबीलों का मुकाबला होता रहता था। उनमें युद्ध होते थे और विजेता समूह के लोग शासक बन जाते थे। उनका नेता (Leader) उनमें सबसे प्रमुख व्यक्ति, राजा या सम्राट बन जाता था। प्राचीन-काल की प्रारम्भिक सभ्यताओं में बड़े बड़े राज्यों या साम्राज्यों की स्थापना के पूर्व मानव का इतिहास प्रायः इन समूहगत जातियों (Tribes) के परस्पर विरोध, युद्ध एवं उनके उत्थान-पतन का इतिहास है। यहां तक कि उन प्रारम्भिक साम्राज्यों की स्थापना के उपरांत भी राज्याधिकार के लिये जातियों (Tribes) में विरोध होते रहते हैं और इस प्रकार अनेक राज्यों में उलट पलट होती रहती है।

धीरे धीरे, पूर्वकाल की अपेक्षा लोगों का परस्पर सम्पर्क अधिक बढ़ा। लोगों के अपेक्षाकृत बड़े-बड़े समुदाय सम्पर्क में आये उनके रहन-सहन और जीवन में पारस्परिक अधिक विनिमय हुआ, अतएव धीरे-धीरे संकीर्ण समूहगत जाति की भावना विलुप्त होती गई। किन्तु ज्यों-ज्यों इतिहास में हम आगे बढ़ते हैं हम पाते हैं कि समूह गत जाति की भावना यद्यपि अपने प्रारंभिक आदिरूप में विलुप्तप्राय है, किन्तु किसी दूसरे रूप में वह प्रकट होती है। यह जाति गत भावना पहिले धर्म का आवरण धारण करती है और मानव इतिहास के मध्ययुग में (पच्छिमी एशिया और यूरोप में ७वीं शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी तक) तो अरब के मुसलमान अपने धर्म के प्रारम्भिक जोश में तलवार उठाकर चारों दिशाओं में फैल जाते हैं। दक्षिण में वे मिस्र और समस्त उत्तरी अफ्रिका को वश में कर लेते हैं, पच्छिमी स्पेन तक बढ़ जाते हैं और उत्तर पूर्व में मध्य एशिया तक। दूसरी ओर यूरोप के ईसाई अपनी तलवार उठाते हैं और फिलिस्तीन की भूमि में ईसाई और मुसलमानों में कई सौ वर्षों तक अनेक धार्मिक युद्ध (Crusades) होते हैं। फिर यूरोप में पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार के बाद यह आदि "समूहगत जाति" की भावना जातिगत राष्ट्रीयता के रूप में प्रकट होती है। इसी भावना के आधार पर यूरोप में अनेक राष्ट्रीय राज्य (National States) स्थापित होते हैं। जैसे इटली, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इत्यादि, जिनका पुनर्जागरण काल तक (अर्थात् १५वीं शताब्दी तक) यूरोप में नाम तक नहीं था। इस जाति गत राष्ट्रीयता की भावना का भयंकरतम रूप हम सन् १९१४-१८ के संसारव्यापी प्रथम महायुद्ध की विभीषिका में देखते हैं।

प्रथम महायुद्ध के बाद जो राष्ट्रीय राज्य बनते हैं उनमें किसी में भी यदि कुछ ऐसे अल्प संख्यक लोगों की आबादी रह जाती है जिनकी जातीयता (Nationality) उस राष्ट्रीय राज्य के बहु संख्यक लोगों की जातीयता से भिन्न है, तो वे हर समय देशों के लिये अशांति और बड़े बड़े राजनीतिज्ञों के लिये सरपच्ची का कारण बने रहते हैं।

और फिर हम देखते हैं हिटलर को जर्मनी में और मुसोलिनी को इटली में इसी जातीयता की भावना के आधार पर अपने देशों के बहु-संख्यक साधारणजन को भड़काते हुए और संसार में द्वितीय महायुद्ध की अभूतपूर्व भयावह विभीषिका प्रस्तुत करते हुए।

मानव इतिहास की इन घटनाओं का अवलोकन करते हुए फिर अपना ध्यान और चिन्तन मानव की उस प्रारम्भिक स्थिति की ओर ले जाइये जिस स्थिति में और जिस काल में समूहगत जाति की भावना का मानव में उदय हुआ था।

मानव की कहानी का प्रारम्भिक असभ्य स्थिति से आरम्भ करके युग-युग में उसके परिवर्तन और विकास का अवलोकन करते हुए आज हम इस स्थिति में हैं कि हम देख सकें कि मानव की "जातिगत समूह" की भावना, उसकी "जातिगत राष्ट्र" की भावना कितनी अज्ञानपूर्ण और निरर्थक है। अब तो उसे यह महसूस कर लेना चाहिये कि विश्व में प्राकृतिक विभिन्नता होते हुए भी, मनुष्यों में जातिगत शकल सूरत की विभिन्नता होते हुए भी मानव जाति वस्तुतः एक है। क्या सब देश में सब काल में प्रत्येक मानव के अन्तःकरण की यह चाह नहीं रही है कि "मैं जीवित रहूं, मुझे दुःख न हो ?"

ऐतिहासिक दृष्टि से तो हमने देखा कि आज की विकास की परि-स्थितियों में मानव में जातिगत भेदभाव (Tribal And Racial Difference) का रहना बिलकुल निरर्थक है। इसी प्रश्न का अध्य-यन यूनेस्को, राष्ट्रसंघ की शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक समिति के तत्वावधान में विश्व के वैज्ञानिकों, प्राणी शास्त्रियों, प्रजनन-विज्ञान शास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों, समाज-विज्ञान शास्त्रियों एवं पुरातत्व वेत्ताओं ने निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि से किया है। जातिगत भेदभाव के प्रश्न के सम्बन्ध में खोज करके अधिकारपूर्ण कुछ निष्कर्षों पर पहुंचे हैं, जिनका सारांश यह है :—

१. जातिय भेदभाव का कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं है।

२. सब जातियों में बौद्धिक क्षमता प्रायः समान है। इस बात का कोई भी सबूत नहीं मिलता कि भिन्न भिन्न जातियों की बुद्धि, मिजाज या जन्मजात मानसिक विशेषताओं में अन्तर हो।

३. जातियों के परस्पर मिश्रण से (वैवाहिक सम्बन्धों से) प्राणी-शास्त्र की दृष्टि से कोई खराबी पैदा होती हो—इसकी कोई भी साक्षी नहीं मिलती।

४. जातीयता (Race) कोई प्राणीविज्ञान का तथ्य नहीं है—यह तो केवल एक निराधार सामाजिक मान्यता है।

५. यदि सब जातियों को या समूहगत कबीलों को समान सांस्कृतिक सुविधायें मिलें तो प्रत्येक जाति के लोगों की साधारण उपलब्धियां प्रायः समान होंगी।

इतिहास और विज्ञान दोनों इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि मानव मानस को जातिगत भावना के बंधन से मुक्त होना चाहिये।

२. आर्थिक-रूढ़ मान्यतायें

मानव कहानी के पिछले अध्यायों के अध्ययन से आर्थिक विकास का यह क्रम ध्यान में आया होगा:—आदिम मानव प्रकृति प्रदत्त फलमूल से अपना पेट भरता था, उस समय तक प्रकृति में पाई जाने-वाली वस्तुओं पर व्यक्तिगत या किसी विशेष वर्गगत स्वामित्व का प्रश्न ही नहीं था; प्रकृति में चीजें बिखरी पड़ी थीं, जनसंख्या कम थी अतः जब जरूरत पड़ी स्वतन्त्रता से चीजें उपलब्ध होगई, खाने के सिवाय और कोई आवश्यकता थी नहीं। इस आदि स्थिति के साथ ही साथ या कुछ काल बाद आदि मानव की शिकारी एवं मछुए (माहीगीर) की स्थिति आई, वह जंगली जानवरों का शिकार करता था या मछली पकड़ता था और खाता था। इस स्थिति तक भी निजी सम्पत्ति की भावना पैदा नहीं हुई। धीरे धीरे

चरवाहे, गड़रिये या बंजारे की स्थिति में मानव आया। इस स्थिति में एक परिवार के पास, या एक गिरोह के पास, या एक समूहगत जाति के पास अपने भेड़, बकरी, अपने पशु होते थे। यहीं से स्वामित्व की भावना का कुछ कुछ विकास मानव में प्रारम्भ होता है। तदुपरान्त कृषि और पशुपालन प्रारम्भ होता है। कहीं कहीं ऐसा भी सम्भव है कि चरवाहे या बंजारे की स्थिति को पार किये बिना ही मानव कृषि और पशुपालन की स्थिति तक पहुंच गया था—इस स्थिति में हमने देखा कि किस प्रकार धीरे धीरे मिश्र में फेरों, सुमेर में राजा-पुरोहितों की धारणा का विकास होता है, और मानव के मन में धीरे धीरे यह धारणा बैठती जाती है कि फेरो या राजा-पुरोहित ही पृथ्वी का स्वामी है। इसी धारणा से प्रारम्भ होकर मानव समाज में कई वर्गों का विकास होता है—उच्च वर्ग जिसमें विशेषतः शासक और पुरोहित लोग होते थे, और निम्न वर्ग जो कृषि करते थे, मजदूर या घरेलू चाकरी करते थे। निम्न वर्ग के लोग सम्पूर्णतः उच्चवर्ग के लोगों के आश्रित थे।

फिर हमने ग्रीस और रोम में देखा जहां की सभ्यता का आधार गुलामी की प्रथा थी। गुलामों की संख्या उच्च वर्ग के लोगों से कई गुणा अधिक होती थी, और ये गुलाम उच्च वर्ग के लोगों के लिये कृषि या मजदूरी या घरेलू चाकरी किया करते थे। गुलामों की कोई निजी सम्पत्ति, किसी वस्तु पर कोई स्वत्व नहीं होता था। प्राचीन भारत में प्रायः वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी, विशाल भूमि अनजोती पड़ी थी, अतएव भूमि पर वस्तुतः उसी का स्वामित्व होता था जो कोई भी भूमि जोत लेता था, बस राजाओं को कुछ लगान दे देना पड़ता था (उपज का $\frac{1}{10}$ से $\frac{1}{6}$ भाग तक)। प्राचीन चीन में विश्वास तो यह था कि समस्त भूमि सम्राट की है किन्तु व्यवहार में समस्त भूमि कृषक परिवारों में विभक्त थी जो विशेष निर्दिष्ट भूमि की उपज, या प्रत्येक परिवार अपनी भूमि की उपज का कुछ भाग लगान के रूप में शासकों को दे देता था। धीरे धीरे भारत में भी यह सिद्धान्त माना

जाने लगा कि भूमि पर स्वत्व तो आखिर राजा या शासक या सरकार का ही है। यह विचार विशेषतः मुसलमान शासकों के जमाने से बना।

मध्ययुग में यूरोपीय देशों में एवं दुनियां के अन्य कई भागों में, किसी किसी रूप में भारत और चीन में भी, सामंतवाद का विकास और प्रसार हुआ। सामंत भूमि के अधिकारी समझे जाते थे और भूमि जोतने वाले स्वत्व हीन मजदूर। भारत में अंग्रेजों के आने पर जमींदारी प्रथा का प्रचलन हुआ जो अब भी कई भागों में प्रचलित है।

मध्य युग में ही यूरोप में स्वतन्त्र व्यापारी वर्ग का विकास होने लगा था; उन्हीं में से १८वीं १९वीं सदी में यांत्रिक क्रांति के बाद पूंजीपति वर्ग का विकास हुआ और भूमिहीन खेतीहर वर्ग में से औद्योगिक मजदूर वर्ग का। सामंतवाद का अन्त हुआ और उसकी जगह प्रगतिशील पूंजीवाद ने ली। २०वीं शताब्दी में पूंजीवाद का दौर दौरा पूर्वीय देशों में यथा जापान भारत और चीन में भी हुआ। पूंजीवाद में प्रगति की जितनी भी संभावनायें थीं वे सब सम्भवतः अपना ली गईं; फिर उसकी बन्धन की सीमाओं को तोड़कर प्रायः समाजवाद। सन् १९१७ में रूस में साम्यवादी क्रांति हुई और समाजवादी समाज की स्थापना करने के लिए सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित हुई। सन् १९४६ में ब्रिटेन की राष्ट्र सभा में मजदूर दल के प्रतिनिधि बहुमत में चुने गये अतएव वहां मजदूर सरकार की स्थापना हुई—और वे अपने ढङ्ग से शनैः शनैः अपने आर्थिक निर्माण से समाजवादी नीति का समावेश करने लगे; फिर १९४९ में चीन में अनेक वर्षों के विनाशकारी गृहयुद्ध के बाद साम्यवादी दल की विजय हुई और साम्यवादी दल के आधीन रूस की तरह वहां भी सर्वहारावर्ग की तानाशाही स्थापित हुई।

पूंजीवादी रूढ़ियों और मान्यताओं का वास्तविक उन्मूलन तो रूस और चीन में ही हो रहा है, ग्रेट ब्रिटेन में तो समाजवादी मजदूर दल की स्थापना के बाद भी पूंजीवाद की अनेक रूढ़ियां मान्य हैं। इन देशों एवं रूसी प्रभाव क्षेत्र के कुछ देशों जैसे पोलैंड, जेकोस्लोवेकिया, हंगरी

रूमानियां, बलगेरिया को छोड़ दुनियां के शेष सब देशों में आज पूंजीवादी संगठन व्याप्त हैं।

आर्थिक परम्पराओं और संगठन की दृष्टि से इतिहास का इतना अवलोकन कर लेने के बाद अब हम अध्ययन करें कि आज २०वीं शताब्दी के मध्य में आर्थिक दृष्टि से मानव की क्या समस्या है; वह क्या सोच रहा है। सभी लोग—विचारक, दार्शनिक, राजनीतिक नेता और अर्थशास्त्री आज कम से कम इतना तो जरूर मानते हैं कि दुनिया के सब लोगों को पर्याप्त पुष्टिकर भोजन, वस्त्र, रहने के लिये मकान, शिक्षा और विकास के लिये अन्य सब साधन समान रूप से उपलब्ध हों। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि इस मान्यता के बावजूद भी दुनियां के सभी लोगों को उपर्युक्त सभी साधन उपलब्ध नहीं। मानव का विशाल साधारण समुदाय, विशेषकर दुनियां के पूर्वीय देशों में, आज गरीब है, इतना गरीब कि संतुलित भोजन, स्वस्थ मकान, शिक्षा इत्यादि की बात तो दूर रही उनको समुचित रूप से पेट भरने के लिये साधारण भोजन भी उपलब्ध नहीं होता। मानव चेतना बर्बाद हो रही है, उस चेतना को गौरव और आनन्द की जो अनुभूति हो सकती थी, होना चाहिये थी, वह हो नहीं रही है। ऐसी दशा के दो कारण हो सकते हैं—या तो

१. दुनिया में इतनी चीजें, इतना अन्न, दूध, तरकारी, फल, इत्यादि उत्पन्न ही नहीं होता कि आज दुनिया की २ अरब २० करोड़ मानव जन संख्या के लिये इस तौर पर पर्याप्त हो कि प्रत्येक जन को ये चीजें आवश्यक परिमाण मे मिल सकें; और न अन्य आवश्यक सांस्कृतिक साधन (विद्यालय, कलाभवन; खेल मैदान) ही इतने उपलब्ध हैं जो उचित परिमाण में सबको अपने अपने विकास के लिये प्राप्त कराये जा सकें। आज के कई विशेषज्ञों की, जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य और कृषि आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष लॉर्ड बोयड ऑर, इङ्गलैंड के प्रसिद्ध समाजवादी विचारक एवं विज्ञानवेत्ता प्रो० जूलियन हक्सले

की, यह राय है कि दुनियां की जन संख्या तीव्र गति से बढ़ती हुई आज इतनी घनी हो गई है कि आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई है; आज जो कुछ भी खाद्य वस्तुयें पैदा हो रही हें एवं अन्य जो आवश्यक साधन उपलब्ध हें वे सम्पूर्ण जनता के लिये पर्याप्त नहीं हैं। इन विशेषज्ञों की यह भी राय है कि आज मानव जनसंख्या प्रतिवर्ष २ करोड़ के हिसाब से बढ़ती हुई जा रही है, किन्तु इसी अनुपात से, उत्पादन के अनेक वैज्ञानिक ढङ्ग होते हुए भी, आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन नहीं बढ़ रहा है। यदि स्थिति वस्तुतः ऐसी ही है तो इस बढ़ती हुई जनसंख्या तथा उससे उत्पन्न समस्या को कैसे सुलझाया जाये ? क्या इस प्रश्न को अपनी पूर्व मान्यताओं के अनुसार भाग्य या नियति या प्रकृति के भरोसे छोड़ दिया जाय, मानो बच्चे पैदा होते रहना, जनसंख्या में वृद्धि होते रहना प्रकृति का एक स्वाभाविक व्यापार है, इसमें मनुष्य क्या करे ? किन्तु नहीं,—आज मानव यह जानता है कि यह सृष्टि एक विकासात्मक अभिव्यक्ति (A revolutionary phenomenon) है, एवं विकास की जिस स्थिति तक मानव पहुंच चुका है उसमें उसे अचेतन द्रव्य पदार्थ की तरह प्रकृति के नियमों का यन्त्रवत् पालन करने की जरूरत नहीं, अथवा इतर प्राणियों की तरह केवल जन्मजात प्रवृत्ति (instinct) से प्रेरित होकर क्रिया करने की जरूरत नहीं। मानव विशेष-चेतना एवं बुद्धियुक्त कलामय प्राणी है, वह सामाजिक प्राणी भी है। अपने तथा समाज के विकास की दशा को वह स्वयं कुछ सीमा तक स्वतन्त्र रूप से निर्धारित कर सकता है—ऐसी स्थिति में वह है। एतदर्थ समाज एवं समाज के व्यक्तियों का जीवन मंगलमय रखने के लिये आवश्यकता पड़ने पर, वह प्रकृति के उपर्युक्त साधारण एवं स्वाभाविक व्यापार पर भी प्रतिबन्ध का प्रयोग कर सकता है, एवं जनसंख्या और उपज की ऐसी सामंजस्यात्मक योजना कर सकता है कि इस मानव प्राणी को भूखा नहीं मरना पड़े।

२. मानव चिन्ता का दूसरा कारण यह हो सकता है कि दुनिया में इतनी चीजें—इतना अन्न, दूध, फल, तरकारी इत्यादि उत्पन्न तो होता है या उत्पन्न तो किया जासकता है कि आज दुनिया की समस्त मानव जनसंख्या के लिये पर्याप्त हो, एवं आवश्यक सांस्कृतिक साधन भी इतने उपलब्ध हैं या किये जा सकते हैं कि सबको अपने विकास के लिये वे साधन प्राप्त कराये जासकें–किन्तु आर्थिक व्यवस्था ऐसी है जिसमें यह सम्भव हो नहीं रहा है। यह इसलिये कि वे व्यक्ति या वर्ग जिनके अधिकार में उत्पादन के साधन हैं, व्यक्तिगत या वर्ग विशेषगत स्वार्थ साधना के वशीभूत चीजों की कीमत बढाये रखने के लिये, या तो वस्तुओं का उत्पादन ही जान बूझकर कुछ काल के लिये बंद कर देते हैं अथवा उत्पादित वस्तु को ही बाजार में जाने से रोके रखते हैं। या फिर वितरण की व्यवस्था ही इतनी दूषित है कि एक तरफ तो अन्न के ढेर के ढेर पड़े हों, और दूसरी तरफ लोग भूखे मर रहे हों; ऐसी स्थिति इसलिये कि धन का ध्रुवी करण है, एक तरफ तो कुछ लोग अत्याधिक धनी हैं और दूसरी ओर इतने ग़रीब कि भोजन तक खरीदने के लिये उनके पास पैसा नहीं है। आर्थिक व्यवस्था का यह एक विशेष ढङ्ग है जो कई शताब्दियों से प्रचलित है और जिसे पूंजीवाद की संज्ञा दी जाती है। इसकी मुख्य मान्यतायें या इसके मूल आधार ये ही हैं कि सब व्यक्तियों को स्वतन्त्रता या अधिकार है कि वे जो चाहें, जितना चाहें उत्पादन करें; जिस ढङ्ग से चाहें उत्पादन करें, व्यवसाय करें, व्यापार करें उसमें राज्य (सरकार) की उस वक्त तक कोई दखल नहीं जब तक जबरन अवैधानिक ढंग से एक आदमी दूसरे आदमी का जीवन और उसकी मालकियत छीनने का प्रयत्न नहीं करता। इन मान्यताओं का व्यावहारिक परिणाम यही निकला कि ऐसो दशामें एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से, या एक वर्ग और जाति का दूसरे वर्ग और जाति से जितना भी व्यवसाय और व्यापार होता है वह मानव समाज के हितसाधन के उद्देश्य से नहीं होता बल्कि केवल इसी एक उद्देश्य से परिचालित होता

है कि किसको कितना अधिक से अधिक लाभ होता है। वे व्यक्ति जिनके हाथ में उत्पादन के साधन हैं,—यहां तक कि वे किसान जो अपनी भूमि के खुद मालिक हैं केवल इसी उद्देश्य से उतना ही और उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिससे उनको अधिकतम लाभ हो—समाज को किस काल में किस विशेष वस्तु की वस्तुतः आवश्यकता है, इसकी चिंता उन्हें नहीं होती। आर्थिक संगठन की ऐसी स्वतन्त्र व्यवस्था में जिसमें जो जितना चाहे, जितना उसकी कुशलता करवा सके उतना लाभ उठा ले, ऐसी स्थिति आती है कि समाज का सब धन, उत्पादन के सब साधन देश के कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में ही केन्द्रित हो जाते हैं, और फिर अंत में जाकर दुनिया के केवल एक ही देश के कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में जाकर केन्द्रित हो जाते हैं और शेष जनसमूह इतना गरीब हो जाता है कि समाज में इतनी क्षमता होते हुए भी कि जीवन के लिये सब आवश्यक साधन उपस्थित हैं या उपस्थित किये जा सकते हैं तब भी बिशाल जन वर्ग की आवश्यकतायें पूरी नहीं हो पातीं एवं सांस्कृतिक विकास के लिये उनको आवश्यक साधन नहीं मिल पाते; और इस तरह मानव चेतना की बर्बादी चलती रहती है। यह बात केवल एक ही देश जहां तक एक वर्ग के लोगों का दूसरे वर्ग के लोगों से सम्बन्ध है लागू नहीं होती, किन्तु दुनिया में जहां एक देश का सम्बन्ध दूसरे देश में होता है वहां भी लागू होती है, जैसे किसी एक देश में किन्हीं विशेष प्राकृतिक सुविधाओं की वजह से कोई विशेष चीज उत्पन्न होती है जो दूसरे देश में नहीं होती किन्तु जिसकी उसको आवश्यकता बहुत है तो पहिला देश दूसरे देश का जहां वह विशेष चीज पैदा नहीं होती खूब शोषण करेगा, और हमेशा ऐसा प्रयत्न करेगा कि दुनिया में कोई ऐसा समझौता या सामूहिक संगठन न हो सके जिससे उसको वह विशेष चीज उचित भाव पर देनी पड़े।

ऊपर वर्णित, कई शताब्दियों से प्रचलित परम्परागत एक विशेष आर्थिक विचारधारा या मान्यता है जिसका आधार है व्यवसायात्मक एवं व्यापारात्मक पूर्ण स्वतंत्रता, एवं व्यक्तिगत मालकियत (वह

मालकियत या स्वामित्व भूमि पर हो, मकान पर हो, उत्पादन के साधनों पर हो) के अधिकार की पूर्ण मान्यता। हमने देखा कि इन मान्यताओं को आज की बदली हुई परिस्थितियों में भी मानकर चलें तो काम नहीं बनता—व्यक्ति और मानव समाज की प्रगति में ये बाधा स्वरूप हैं, इनको बदलना आवश्यक है। इतिहास के अध्ययन ने यह हमको बतलाया है कि कोई भी सामाजिक या आर्थिक संगठन स्थायी नहीं रहता, समय के अनुकूल सब में परिवर्तन होता रहता है, और इसीलिये समाज में गति बनी रहती है और उसका विकास होता रहता है।

इन रूढ़िगत मान्यताओं के प्रतिक्रिया स्वरूप आया साम्यवाद। सन् १९१७ में साम्यवादी क्रांति सफल हुई रूस में, और फिर सन् १९४९ में यह सफल हुई चीन में। रूस में साम्यवादी क्रान्ति सफल होने का केवल इतना ही अर्थ है कि वहां सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना हो गई, उसका यह अर्थ नहीं कि देश में सब लोगों की सब आवश्यकतायें पूर्णतया पूरी होने लग गईं एवं सब प्रकार की आर्थिक विषमतायें दूर होगईं किन्तु इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं कि देश ने अभूतपूर्व प्रगति की—अनेक बंधनों से जैसे निरक्षरता, अज्ञान, अनेक अर्थ हीन रूढ़िगत विचारों से मनुष्य को मुक्ति मिली और लोगों का जीवन स्तर ऊपर उठा। लेकिन यह सब एक निर्मम तानाशाही भय के दबाव से हो रहा है, देश में किसी को भी ऐसे स्वतन्त्र विचार अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता नहीं जो थोड़े से भी साम्यवाद के विरोधी हों। इससे इतना आभास अवश्य कुछ कुछ मिलने लगा है कि साम्यवादी ढंग और विचार भी रूढ़ियों में ढलते हुए जारहे हैं, और वे इतने संकुचित और कठोर बनते हुए जारहे हैं, मानो रूसी साम्यवादी कहते हों कि दुनिया में केवल उन्हीं का तरीका ठीक है, अतएव अपनी इस मान्यता की संकुचितता में वे और किसी गैर-साम्यवादी देश के साथ बैठकर विश्व की समस्याओं को सुलझाने के लिये तैयार नहीं।

एक ओर पूंजीवाद की स्वार्थभावना दूसरी ओर साम्यवाद की निर्मम कठोर विचारधारा के फलस्वरूप आज दुनिया में एक विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। दो गुटों में दुनिया बंट चुकी है-एक साम्यवादी गुट जो व्यक्तिगत 'पूंजी' का उन्मूलन कर सामूहिक सहकार के आधार पर दुनिया के आदमियों को सुखी बनाना चाहता है, दूसरा तथा-कथित जनतन्त्रवादी गुट जो व्यक्तिगत पूंजी की स्वतन्त्रता कायम रखना चाहता है। इन दो गुटों में भयंकर द्वन्द्व चल रहा है जो तीसरे विश्व युद्ध की ओर उन्मुख है।

उपरोक्त दोनों विचारों की रूढ़िवादिता ने एवं एक दूसरे के प्रति असहिष्णुता के भाव ने मानव समाज को त्रासित कर रक्खा है। मानव दोनों विचारधाराओं की कठोरता से विमुक्त होकर एक तरफ तो यह तथ्य समझले कि उत्पादन व्यक्तिगत लाभ के आधार पर नहीं वरन् समाज की आवश्तकताओं के आधार पर होना उचित है, दूसरी ओर यह समझले कि व्यक्तियों और देशों में परस्पर स्वतंत्र विनिमय, आवा-गमन और विचार विमर्श से एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप अपनी मान्यताओं में परिवर्तन लाते रहने से नया प्रकाश ही मिलता है—और इस प्रकार समझकर दोनों ओर के मानव परस्पर मिलकर कोई एक ऐसी राजनैतिक आर्थिक विश्व योजना बना सकें जो विश्व व्यापी होने की वजह से कई अंशों में संभवतः होगी तो बड़े क्षेत्र में आयोजित सामूहिक ढंग की किंतु स्थानीय क्षेत्र में जिसमें सर्व साधारण की व्यक्तिगत स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व की भावना भी कायम रह सके तो आज की परिस्थितियों में मानव विकास का अगला चरण उठ सकेगा। अंत में आर्थिक दृष्टि से तो बुनियादी बात यही है कि जब तक समार में एक भी व्यक्ति को अपना पेट भरने के लिये और तन ढकने के लिये किसी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा करनी पड़ेगी, उसके मुंह की तरफ ताकना पड़ेगा, तब तक किसी न किसी रूप में युद्ध की संभावना बनी रहेगी। दूसरे शब्दों में—समाज की शांति बुनियादी तौर

से इसी पर आधारित है कि प्रत्येक जन की उचित भौतिक आवश्यकतायें आत्म-सम्मान-पूर्वक पूरी हों,—वह सभ्यता कितनी निखरी हुई और शुद्ध होगी जिसमें ऐसा प्रबंध हो। आधुनिक मानव अपने शरीर विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, एवं सामाजिक विज्ञान के ज्ञान के आधार पर ऐसी सभ्यता का विकास कर सकता है।

३. धार्मिक रूढ़ मान्यतायें

मानव कहानी में हमने पढ़ा कि धीरे धीरे आदि मानव के पुरखाओं के भाव में से, पुरुषों के प्रति स्त्री और स्त्री के प्रति पुरुष की अनेक भावनाओं में से, गंदगी और पवित्रता की भावना में से, स्वप्नों एवं आदि मानवों के अपूर्ण विज्ञान, जादू टोणा एवं गुप्त रहस्य में से वह भावना जिसे धर्म कहते हैं, उदय हो रही थी, विकसित हो रही थी—और अर्ध सभ्य मानव के मन में शनैः शनैः संस्कारित हो रही थी। धीरे-धीरे वस्तुओं में वह अदृष्ट या अज्ञात-शक्ति की कल्पना करने लगा, उससे भयभीत होने लगा। अवश्य शक्ति को देवी देवता माना जाने लगा—उन देवी देवताओं के रूप की कल्पना हुई; उनकी पूजा होने लगी, और उनको प्रसन्न रखने के लिये उन्हें भेंट चढ़ाई जाने लगी। यह प्रारंभिक धर्म भय और भेंट पूजा का धर्म था। भिन्न भिन्न समूहगत जातियों ने अपने अपने भिन्न भिन्न देवी देवताओं की कल्पना की थी, इन्हीं देवताओं के लिये फिर शनैः शनैः पूजा स्थान, मंदिर भवन बनने लगे। मंदिरों में देव पूजा के लिये पुजारी पुरोहित होते थे। पुरोहितों की वजह से अनेक प्रकार की पूजापाठ विधियों, कर्मकांडों और रीति रस्मों का प्रचलन हुआ। धीरे धीरे पुरोहित वर्ग ने इस भय धर्म की बुनियाद को पक्का बना दिया। पुरोहित वर्ग मानव का अज्ञात शक्ति से सुख दुख प्राप्त करवाने वाला ठेकेदार बन गया। भारत में चाहे वैदिक युग में, व चीन में "परिवर्तन के नियम" पुस्तक के युग में उपरोक्त प्रकार के मूर्ति पूजक (Paganism) धर्म का प्रचलन न रहा हो, किंतु साधारणतया प्रारंभिक युगों से लेकर हजारों वर्षों तक दुनिया के भिन्न भिन्न भागों में

ऐसे ही धर्म का प्रचलन रहा। अब भी अनेक लोगों की बुद्धि इन प्राचीन संस्कारों का गुलाम बनी हुई है।

इसके पश्चात उन संगठित धर्मों का प्रचलन हुआ जिनका आधार तथाकथित दिव्यवाणी कही जाती है—और जो दिव्यवाणी ग्रंथों में संकलित है। अलग अलग धर्म की अपनी अलग अलग धर्म पुस्तक है जैसे यहूदियों की इंजील, ईसाइयों की बाईबल, मुसलमानों की कुरान, हिन्दुओं के मुख्यतया वेद, बौद्धों के मुख्यतया त्रिपिटक। इन धर्म पुस्तकों में जो कुछ भी लिखा है उसमें भिन्न भिन्न धर्म वाले लोगों का इतना रूढ़ विश्वास जमा हुआ है कि जो कुछ उनमें लिखा हुआ है वही सत्य है उसके परे कुछ नहीं। यह भी मानलें कि धर्म में कोई शाश्वत तत्व होता है, किंतु बात तो यह है कि आज "दिव्यवाणी" वाले जितने भी धर्म ज्ञात हैं और जिनके विषय में यह कहा जाता है कि केवल उनमें आदि परम सत्य निहित है,—यदि उनके विकास का अध्ययन किया जाये तो पता लगेगा कि कोई भी धर्म अपने आदि शुद्ध रूप में नहीं रहा। प्रत्येक धर्म के चारों ओर मूढ़ परम्पराओं की सीमायें बंध जाती हैं और वह धर्म न रह कर प्रायः निरर्थक वाह्याचारों का एक संगठित आडंबर-मात्र रह जाता है जो केवल जड़वस्तु होती है। इतिहास पढ़ते पढ़ते यह भी दृष्टिगत हुआ होगा कि प्रारंभिक काल से लेकर समय समय पर और भिन्न-भिन्न देशों में धर्म के जिन भिन्न-भिन्न रूपों का उदय और विकास हुआ वह उन देश काल की परिस्थितियों में स्वाभाविक था। मूसा, ईसा, मुहम्मद ने जो विचार दिये सचमुच वे नये मौलिक विचार थे—विकास की उस अवस्था में, एवं तत्कालीन परिस्थितियों में। किंतु आज उनका महत्व विशेषकर ऐतिहासिक महत्व है। हां, व्यक्तिगत क्षेत्र में व्यक्तिगत शांति के लिये, व्यक्तिगत आध्यात्मिक आधार के लिये उनका एक दूसरा महत्व भी हो सकता है। इसके परे कुछ नहीं। आज यदि मूसा का यहूदी यह कहने लगे कि हम (यहूदी) तो परमात्मा के विशेष प्रिय प्राणी हैं और परमात्मा ने हमसे वायदा कर रक्खा है कि समस्त संसार में हमारी संरक्षता में न्याय

का एक राज्य स्थापित होगा—यदि ईसा का ईसाई कहने लगे कि इस पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य सबके ईसाई बनने पर ही अवतरित होगा,—यदि मुहम्मद का मुसलमान कहने लगे कि सारी दुनिया को मुसलमान बना कर हम इस पृथ्वी पर खुदा की सल्तनत कायम करेंगे,—इसी प्रकार यदि कोई हिन्दू, ईरानी और बौद्ध अपने व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र को छोड़कर यह कहने आये कि उसी की ही संस्कृति सर्वोत्तम है और केवल उसी में संसार का कल्याण निहित है, तो ये सब बातें, भावनायें और विचार मानव विकास में किसी भी प्रकार सहायक नहीं हो सकते, बल्कि उसकी प्रगति में बाधक होंगे, और उसका परिणाम अधोगति न कि कल्याण।

यह सब पढ़ने से यह धारणा नहीं बना लेना चाहिये कि धर्म अथवा ईश्वर का इतिहास में कुछ महत्व नहीं। माना जिस संसार में हम रहते हैं उस संसार में पदार्थ सत्य (वैज्ञानिक सत्य) सर्वोच्च है, उसको कोई नहीं बदल सकता, एवं इस पदार्थ सत्य को समझ जानकर ही हम अपना, समाज तथा समाज का नियमन परिचालन करें; किन्तु इतना होने पर भी यदि किसी मनुष्य में एक सच्ची, (पाखण्डात्मक नहीं— जैसा अनेक तथाकथित रहस्यवादी, भक्त एवं योगी लोग करते हैं) आन्तरिक प्रेरणा होती है और उससे प्रेरित होकर वह उधर दौड़ता है जहां उसको उसका ईश्वर अथवा प्रेमी, या कोई भी आराध्य 'देवता' या 'देवी' या आदर्श मिलने वाला है—तो उसे अपने पथ पर दौड़ने दो। यही उसका सच्चा धर्म है। इसका बाह्य संसार से कोई सम्बन्ध नहीं।

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य फिर अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक प्रेरणा से अपनी आराध्य देवी, या अपने इष्टदेव की मूर्ति स्थापित कर उसकी पूजा करना चाहता है तो उसे करने दो। मूर्तिखण्डनात्मक आर्य या इस्लाम धर्म को उस स्थान पर बाधा उपस्थित करने की कोई आवश्यकता नहीं। इटली का सबसे बड़ा कवि दांते ब्रिटिस नामक युवती की सुन्दरता से प्रेरित होकर, हृदय में उसकी मूर्ति स्थापित करके ही अपना महान ग्रंथ

"दिवाइना कोमेदिया" संसार के आनन्द के लिये प्रस्तुत कर सका था। लिओनार्दो दा विंसाई मोनालीसा के चित्र को बनाकर ही सत्य और सुन्दरता की पूजा कर सकता था। सत्य के इस रूप के आगे धर्म का कोई बाह्य रूप नहीं टिकता। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध धर्मों के सभी बाह्य रूपों का अस्तित्व मिट जाता है, कोई धर्म नहीं बचता। यदि कुछ शेष रह जाता है तो वह मनुष्य की एक आंतरिक प्रेरणा, एक "भावात्मक संसार", एक परम आनन्ददायिनी भावना (Ecstasy)—उसी भावात्मक आनन्द में उसका धर्म निवास करता है। यह आंतरिक भावात्मक अनुभूति हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, जैन इत्यादि धर्मों का परिणाम नहीं–यह तो उस मनुष्य की स्वत: कोई आंतरिक प्रेरणा है, उसके हृदय की कविता है; यही उसका धर्म है, यही उसका ईश्वर और इस धर्म अथवा ईश्वर का बाह्य संसार से क्या प्रयोजन ? बाह्य संसार में तो वह अपना व्यवहार पदार्थ सत्य पर ही निर्भर करेगा।

भावात्मक संसार को, दूसरे शब्दों में "भावलोक" अथवा "आध्यात्मिक लोक" को हम केवल कल्पना-मात्र नहीं बता सकते। वह भी एक वास्तविकता है। किन्तु वह वास्तविकता व्यक्ति के अन्तरंग हृदय, अनुभूति, की वास्तविकता है; उस वास्तविकता का स्थान व्यक्ति का अन्तरप्रदेश या हृदय ही है। वह अन्तर प्रदेश में अपने आराध्यदेव या देवी की पूजा में मग्न रहे, वहां आनन्द और शांति की अनुभूति करे, किन्तु जब संसार में व्यवहार करने आये तो अपने व्यवहार को पदार्थ या मनोवैज्ञानिक या अनुभव सत्य पर आश्रित करे। इस प्रकार व्यावहारिकता से आचरण और कार्य करते हुए भी वह अपने मन के देव अथवा देवी या और किसी परमात्मा के भरोसे छोड़ सकता है, अपने हृदय अथवा आत्मा में उस देवी अथवा देवता पर निर्भर रह सकता है और हृदय में आनन्द और शान्ति पा सकता है। इसका यही अर्थ होगा कि वह सब कार्य व्यावहारिकता से कर रहा है किन्तु फल की इच्छा से नहीं, केवल निर्लिप्त भाव से, अनासक्त योग से। ऐसा करने

से संसार में रहता हुआ भी, पदार्थ सत्य के अनुसार कार्य करता हुआ भी, अपने हृदय के आनन्ददायक देवी या देवता की आराधना में निमग्न रह सकता है और वहां शांति, मुक्ति और आनन्द पा सकता है।

वह हृदयस्थ देवी या देवता उसे आन्तरिक आनन्द और शांति दे सकता है–और कुछ नहीं। उस देवता, देवी या परमात्मा का और कहीं प्रयोग हुआ कि अनर्थ हुआ। अपनी कल्पना दृष्टि के सामने लाइये वह दृश्य जब ईश्वर का प्यारा भक्त ईसा सूली पर चढ़ते समय,—मुंह प्यास से सूखा हुआ, सारा शरीर दर्द के मारे ऐंठन खाता हुआ, अपने जीवन की अन्तिम घड़ी में चिल्ला रहा था—"ओ मेरे परमात्मा, मेरे परमात्मा, क्यों तूने मुझको विसार दिया ?" इस प्रश्न का उत्तर ? उत्तर यही है कि मानव यदि सच्चा है तो केवल भावलोक में ईश्वर की भावात्मक अनुभूति करले—बाह्य जगत में उसकी स्थापना करने का प्रयत्न न करे।

बाह्य जगत में यदि प्राकृतिक सत्य (वैज्ञानिक, व्यावहारिक सत्य) को छोड़ यदि उसने किसी परा-प्रकृतित्व (ईश्वर) की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया तो वह अपने ईश्वर को झूठा साबित करके ही छोड़ेगा। अब तक का मानव इतिहास पढ़ने से यह तथ्य भी समझ में आया ही होगा कि ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, बौद्ध इत्यादि किसी भी धर्म के समाज में संगठित रूप ने मानव का अमंगल अधिक एवं मंगल कम किया है—जब इन धर्मों का उदय हुआ तब से आज तक धर्म के नाम पर मानव का उत्पीड़न और उसकी हत्या प्रत्येक युग में दुनिया में किसी न किसी जगह होती ही रही है। अतएव धर्म एवं ईश्वर का भी उचित स्थान व्यक्ति का अन्तर ही है।

४. मानव में व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की भावना

ऊपर जिन जातीय, आर्थिक एवं धार्मिक रूढ़िगत मान्यताओं का वर्णन किया गया है उनके पीछे या मूल में व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की

भावना हो सकती है। मानव की यह आदत है कि ज्ञात या अज्ञात रूप से कभी कभी वह यह सोचने लगता है एवं ऐसा व्यवहार करने लगता है मानो वह समाज-निरपेक्ष है, मानो वह समाज से परे अपने आप में पूर्ण है। यह बात निर्विवाद है कि प्रकृति और समाज के परे व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं। प्रकृति, मानव और समाज मूलतः एक ही तत्व की अभिव्यक्ति हैं, इनमें से किसी एक की भी सत्ता सर्वथा स्वतंत्र निर्विशेष नहीं; अतएव वह चीज भी जिसे व्यक्ति का अपना 'व्यक्तित्व' कहते हैं सर्वथा स्वतंत्र और निर्विशेप कुछ चीज नहीं। इस मूलभूत बात को भूलकर जब समाज के बहुजन व्यक्ति केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ, व्यक्तिगत लाभ और व्यक्ति सुरक्षा की दृष्टि से आचरण करने लगजाते हैं तो कुछ समय के लिये उनका व्यक्तिगत भला चाहे अवश्य होजाये किन्तु अंततोगत्वा उससे समाज और मानवता का पतन ही होता है, उसका परिणाम दुःखद ही होता है। ऐसे संकुचित व्यक्तिवादी व्यक्ति यदि वुड्ढे हैं तो अपने स्वार्थपूर्ण व्यक्तित्व का दुःखद परिणाम अपनी आंखों के सामने चाहे न देख पायें किन्तु अपनी संतानों के लिये तो वे अभिशाप ही छोड़ जाते हैं। इसका साक्षी है इतिहास—प्राचीन मिश्र, बेबीलोन की सभ्यताओं और समाज का पतन उस समय हुआ जब वहां के शासक और उच्चवर्गीय लोगों का जीवन में यही एक ध्येय बच गया कि बस वे ऐशो आराम से रहें दुनिया में और चाहे जो कुछ होता रहे; ग्रीक नगर राज्य व्यक्तिगत अपने ही स्वार्थों को देखते रहे, उनमें यह दृष्टि (Vision) नहीं आपाई कि परस्पर मिलकर रहें, अतः वहां उनका विनाश हुआ; उधर मिश्र में ग्रीक टोलमी राजा प्राचीन मिश्र फेरो की तरह अपने ही ऐशो आराम की फिक्र में पड़ गये अतः वहां भी ग्रीक जीवन और सभ्यता का अंत हुआ; प्राचीन ईरान के सम्राट (ईसा पूर्व काल में सम्राट दारा के उत्तराधिकारी, और फिर ७वीं शताब्दी में ससनद वंश के सम्राट) भी समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन न कर अपने व्यक्तिगत धन, ऐश्वर्य और विलास के फंदे में पड़ गये, अतएव प्राचीन फारसी जीवन

और सभ्यता का भी अंत हुआ; रोमन सम्राट और रोमन उच्चवर्ग और प्राय: सभी व्यक्ति अपने अस्तित्व की अंतिम शताब्दियों में केवल अपने व्यक्तिगत धन और सत्ता की फिक्र करते थे, समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व की भावना को भूल चुके थे, उनकी दृष्टि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ तक ही सीमित थी अतएव कैसे वे देख सकते थे कि स्वयं उनके साम्राज्य में एवं उनके साम्राज्य के बाहर की दुनिया में किन्हीं नई शक्तियों का उदय हो रहा है, अतएव धीरे धीरे अंधकार छाया जिसमें विलुप्त होगये।

प्राचीन काल में तो परिस्थितियां भिन्न थीं एवं सामाजिक संगठन भी भिन्न; उस काल में, कुछ अपवादों को छोड़कर, सर्वसाधारण का राज्य (State) से इतना अधिक सम्पर्क नहीं था जितना आज, अत: साधारण जन में सामाजिक भावना का अधिक महत्व नहीं था। राज्य की स्थिति शासकवर्ग और प्राय: उच्चवर्ग पर ही आधारित होती थी, इसलिये विशेपत: उन्हीं में सामाजिक भावना अधिक उपेक्षणीय थी; और जब उनमें इस सामाजिक भावना का अभाव हो जाता था और वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सत्ता लोलुपता में फंस जाते थे तभी समाज और सभ्यता का पतन और विनाश प्रारम्भ हो जाता था। किंतु आज साधारण जन का युग है, आज के राज्य जनतन्त्र राज्य हैं एवं उनकी स्थिति आधारित है सर्वसाधारण पर। अत: साधारण जन के लिये आज यह विशेष उपेक्षणीय है कि उनमें सामाजिक भावना हो; इस 'सामाजिक भावना' के अभाव में आज सभ्यता और समाज का (जनतन्त्रवादी सभ्यता और समाज का) पतन हो सकता है; इतिहास का यह सबक हमको नहीं भूलना चाहिये।

अतएव आज अर्थात् जब हम व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास की बात करें तो हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि उस व्यक्तित्व में अपनी व्यक्गित विशेषताओं के साथ साथ "साभाजिकता" भी एक गुण हो, व्यवितत्व "सामाजिक व्यक्तित्व" हो। जैसा प्रारम्भ में कहा गया था,

"व्यक्तित्व" या "मानस" कोई स्थिर (Static) और निर्विशेष चीज नहीं है, प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण में परिवर्तन के साथ साथ "व्यक्तित्व" और "मानस" में भी परिवर्तन हो सकता है; ऐसा परिवर्तन नहीं जो केवल परिणात्मक (Quantitative) हो, किन्तु मानव प्रकृति में ही कोई मूलभूत परिवर्तन, जिसे गुणात्मक (Qualitative) परिवर्तन कहते हैं। अतः विकास की यह दिशा हो सकती है कि मानव के मानस में तत्वतः सामाजिकता का उदय हो, मन स्वभावतः 'सामाजिक' बन जाये, सामाजिकता उसकी अनुभूति का एक प्राकृत अंग बन जाये; उसमें नैसर्गिक यह समझ हो कि समाज और सभ्यता का विकास साधारण जन की समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना पर निर्भर करता है, और फिर यह समझ हो कि आज की परिस्थितियों में समाज कोरे आदर्श की दृष्टि से नहीं किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से, एकदेशीय नहीं वरन इतना विस्तृत होता जारहा है कि उसकी भावना के अन्तर्गत अखिल मानव जाति समाविष्ट है।

(६२)

मानव विकास का अगला चरण

आज हम संसार में नये नये, अद्भुत-अद्भुत ज्ञान विज्ञान की चकाचौंध देख रहे हैं। इतिहास में पहिले कभी भी सारे संसार में एक साथ, एक समय ज्ञान विज्ञान की इतनी और ऐसी संभावनायें उपस्थित नहीं हुई थीं जैसी आज। न कभी पहिले यह समस्त पृथ्वी एक ज्ञात पूर्ण इकाई बनी थी जैसी आज यह है, और न इस पृथ्वी का सही ज्ञान पहिले इतने मनुष्यों को था जितनों को आज है। जिन परिस्थितियों में कुछ वर्ष पूर्व हम रह रहे थे वे बदल चुकी हैं और तीव्र गति से बदलती

हुई जारही हैं। इसका आभास पूर्व अध्याय में करवाया जा चुका है। यदि विमुक्त हो हम आगे बढ़ते रहना चाहते हैं, जीवित रहना चाहते हैं—अंधकारमय युग की ओर प्रतिवर्तन रोकना चाहते हैं तो आज यह आवश्यक है कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल हम अपनी व्यवस्था बैठालें अर्थात परिवर्तित परिस्थितियों में और हमारी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था में एक सामञ्जस्य स्थापित हो; जो आज नहीं है। परिवर्तित परिस्थितियों का यह तकाजा है कि राष्ट्रराष्ट्र, धर्मधर्म जाति जाति एवं आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था के बीच जो भेदभाव है वह हटकर समस्त मानव जाति की पुनर्व्यवस्था इस ढंग से हो कि मानव जाति सतत क्रियाशील (Creative) एक, केवल एक विश्व समाज बने। एक ऐसा विश्व-समाज जिसकी राजनैतिक सत्ता एक विश्वसंघ राज्य (World State) में निहित हो, जहां की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था इस आधार पर खड़ी हो कि विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के लिये पुष्टिकर संतुलित भोजन, वस्त्र, खुला हवादार मकान, चेतना की अधिकतम जागृति और प्रस्फुटन के लिये शिक्षा एवं विकास के अन्य साधनों का समुचित प्रबन्ध हो,—प्रत्येक व्यक्ति का यह विधिवत मान्य अधिकार हो कि ये सब साधन उसको उपलब्ध हों, एवं भाषण, प्रकाशन, रचनात्मक आलोचना एवं अनुसन्धान की सबको पूर्ण स्वतन्त्रता हो जिसके बिना प्रकाश का मार्ग रूद्ध हो जाता है। आज ये संभावनायें उपस्थित हैं जो पहिले कभी नहीं थीं, कि ऐसा हो सके;—वैज्ञानिक आविष्कारों में और मानव ज्ञान में अपूर्व वृद्धि के फलस्वरूप मानव मानव, देश देश एक दूसरे के इतने निकट आ चुके हैं कि कोई एक जाति अथवा धर्म अथवा सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था अथवा कोई एक देश अपने आपको शेष मानव समाज से सर्वथा पृथक और अछूता नहीं रख सकता।

परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल नव मानव-व्यवस्था बैठाने के लिये आवश्यकता है मानव के मानस में परिवर्तन की–उसके विकास की। इस विकास का रूप यह हो सकता है।

(१) सामाजिक-आर्थिक रूढ़ मान्यताओं एवं जाति-धर्म के रूढ़ बंधनों से मानव चेतना विमुक्त हो। जैसा पिछले अध्याय में समझाया जा चुका है।

(२) मानव का व्यक्तित्व "सामाजिक व्यक्तित्व" हो। जैसा पिछले अध्याय में समझाया जा चुका है।

(३) वस्तुओं, जीवन और सृष्टि के प्रति मानस का दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण अर्थात् यह चेतना, या समझ कि समाज में संगठित मनुष्य अपनी बुद्धि, और भिन्न भिन्न प्राकृतिक एवं सामाजिक शक्तियों के विश्लेषण आदि से प्राप्त ज्ञान के आधार पर, सब प्रकार की परोक्ष सत्ता से (जैसे देवी देवता, ईश्वर, कर्मफल, नियति आदि से) स्वतन्त्र, अच्छी बुरी जैसी चाहे अपनी तथा अपने समाज की व्यवस्था कर सकता है। किसी भी प्रकार की परोक्ष-सत्ता से स्वतन्त्र—अर्थात् वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह मानकर चलता है कि व्यक्तिगत जीवन, समाज, राष्ट्र एवं सृष्टि के व्यापारों एवं संगठन में किसी भी परोक्ष सत्ता का (उपरोक्त देवी देवता, ईश्वर, कर्मफल नियति का) बिल्कुल भी दखल नहीं है। जो इस प्रकार का दृष्टिकोण रखते हैं उसका यह अर्थ नहीं कि वे परमात्मा में अनिवार्यतः विश्वास ही नहीं रखते हों। महात्मा गांधी ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखते थे, किन्तु अपने समाज और देश में जो विषम और दुःखद परिस्थितियां थीं उनकी ओर से कह कर वे उदासीन और विरक्त नहीं होगये थे कि इन बातों में हम मनुष्य क्या कर सकते हैं–जो कुछ ईश्वर को मंजूर होगा वह अपने आप ही हो जायेगा बल्कि अपने समाज, देश और विदेशों की आज की परिस्थितियों का मनन करके और विश्व-समाज में आज क्या शक्तियां काम कर रही हैं इसका चिंतन करके वे अपनी तीव्र बुद्धि एवं गूढ़ दृष्टि से इन विषम सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों से पार होने के और एक सुखद अवस्था तक पहुंचने के रास्ते के विषय में अपने ही एक विशेष निष्कर्ष

पर पहुँचे थे। यह निष्कर्ष भाग्यवादी नहीं था, बल्कि पदार्थ, इतिहास और समाज के तथ्यों पर निर्धारित एक रास्ता था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की यह एक मूल प्रेरणा है कि मानव, समाज को अनिश्चित घटनाओं के या भाग्य के भरोसे लुढ़कने देने की अपनी मानसिक आदत को छोड़कर स्वभावतः यह धारणा बनाले कि, समाज की व्यवस्था मानव अधिकार की वस्तु है, मानव इच्छानुकूल अपने समाज की व्यवस्था कर सकता है। मानव इतिहास में ऐसे प्रयोग हो चुके हैं और यह देखने में आ चुका है कि विशेष कठिनाइयों की परिस्थितियों में (जैसे पिछले १९३९–४५ महायुद्ध में) मनुष्य संगठित होकर अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञान की जानकारी और बुद्धि के प्रयोग से परिस्थितियों के अनुकूल समाज की नव-व्यवस्था कर सकते हैं।

मानव का ऐसा परिवर्तन और उपरोक्त दिशा की ओर विकास कोई सरल बात नहीं है। इसका अर्थ है मानव के मानस (Mental Construction) में एक अभूतपूर्व क्रांति;—इसका अर्थ है उसकी बुद्धि, चेतना और मन में युगान्तरकारी परिवर्तन होकर उसके समस्त मानस (बौद्धिक, नैतिक एवं भावात्मक) की नये आधारों पर पुनर्रचना। यह तभी संभव हो सकता है जब आज विश्व भर में प्रचलित शिक्षा संगठन में और उसके आदर्शों में आधारभूत परिवर्तन किया जाये और शिक्षा का इस प्रकार पुनर्सङ्गठन हो जिससे कि मानव मानस विमुक्त हो और उसमें वैज्ञानिक और उदार दृष्टिकोण उद्भासित हो उठे। इसका अर्थ है विश्व व्यापी सतत एक शिक्षणात्मक सांस्कृतिक आंदोलन। यदि मानव अपने मानस को आज के बंधनों से विमुक्त कर प्रगति का कदम उठा सका तो मानना चाहिये सृष्टि में नई आभा का उदय होगा अन्यथा अंधकारमय युग की ओर प्रतिवर्तन।

मानव मानस (चेतना, मन, बुद्धि) में युगान्तर-कारी परिवर्तन के तथ्य को एक और दृष्टि से भी देखा जा सकता है। वह इस प्रकार— निष्प्राण अचेतन द्रव्य में से किसी युग में उद्भव हुए प्राण, प्राण

में से उद्‌भव हुई चेतना; तो क्या विकास का अगला चरण यह नहीं हो सकता कि मानव की चेतना में से विकसित हो "अति चेतना," "अतिमानस" (Super Consciousness)। इस संभावना की ओर संकेत किया है आज के महायोगी श्री अरविंद ने। उनकी धारणा है, केवल उनकी धारणा ही नहीं किन्तु कहते हैं योगी अरविंद की यह प्रत्यक्ष अनुभूति थी कि सृष्टि में अतिमानस का अवतरण (Descent of the super-conscious state) निश्चित है। अतिमानस क्या है और कैसे इसकी उद्‌भावना होगी इस विषय में ऐसा कहा जाता है कि—"अतिमानस मन, प्राण और जड़तत्व के परे सत्ता का एक स्तर है और, जिस तरह, मन प्राण और जड़तत्व पृथ्वी पर अभिव्यक्त हुए हैं उसी तरह अतिमानस भी वस्तुओं की अनिवार्य धारा के अंदर अवश्य ही जड़ जगत में अभिव्यक्त होगा। वास्तव में अतिमानस यहां अभी भी विद्यमान है पर है निर्वतित अवस्था में, इस व्यक्त मन, प्राण और जड़ तत्व के पीछे छिपा हुआ और अभी वह ऊपर की ओर से अथवा अपनी निजी शक्ति से क्रिया नहीं करता; अगर वह क्रिया करता है तो इन निम्नतर शक्तियों के द्वारा करता है और उसकी क्रिया इनके विशिष्ट गुणों के द्वारा परिवर्तित हो जाती है और इस कारण अभी पहिचानी नहीं जाती। जब अवतरणोन्मुख अतिमानस यहाँ आ और पहुंच जायेगा केवल तभी यह प्रच्छन्न अतिमानस पृथ्वी पर उन्मुक्त होगा और हमारे अन्नमय, प्राणमय और मनोमय अंगों की क्रिया में अपने आपको प्रकट करेगा जिससे ये निम्नतर शक्तियां हमारी समस्त सत्ता की सम्पूर्ण दिव्य-भावापन्न क्रिया का अंग बन सकें, यही वह चीज है जो हमारे पास पूर्ण रूप से सिद्ध दिव्यत्व को अथवा दिव्य जीवन (Divine Life) को ले आयेगी। निःसंदेह ऐसे ही ढंग से जड़तत्व में निर्वतित प्राण और मन ने अपने आपको यहां सिद्ध किया है, प्रकट किया है, क्योंकि जो कुछ निर्वतित है वही विवर्तित, विकसित हो सकता है, अन्यथा कोई भी आविर्भाव, प्राकट्य नहीं हो सकता।"

"अतिमानस और उसकी सत्य चेतना की अभिव्यक्ति अवश्यंभावी है, यह इस संसार में जल्दी या देर में होकर ही रहेगी। परन्तु इसके दो पहलू हैं,–ऊपर से अवतरण, नीचे से आरोहण,–परम आत्मा का प्राकट्य, विश्व प्रकृति में विकास। आरोहण अवश्यमेव एक प्रयत्न है, प्रकृति की एक क्रिया है, उसके निम्नांगों को विकासात्मक अथवा क्रांतिकारी तरीके से उन्नति अथवा रूपान्तर द्वारा उठा कर दिव्यतत्व में परिवर्तित कर देने का एक संवेग या प्रयास।"

"विकास का जैसा रूप हम इस संसार में देखते हैं वह एक मंद तथा कठिन प्रक्रिया है और निःसंदेह उसे स्थायी परिणामों तक पहुंचने में प्रायः युगों की जरूरत होती है। परन्तु यह इसलिये कि विकास, अपने स्वरूप में, अचेतन प्रारम्भों से एक प्रकार की उत्क्रांति है, निश्चेतना-मूलक है, प्राकृतिक सत्ताओं के अज्ञान के भीतर प्रत्यक्षतः अचेतन बल द्वारा होने वाली एक क्रिया है। इसके विपरीत, एक ऐसा भी विकास हो सकता है जो पूर्ववत अंधकार में नहीं बल्कि प्रकाश में हो जिसमें विकासोन्मुख जीव सचेतन रूप से भागले तथा सहयोग दे, और ठीक यही चीज यहां घटित होगी।" [अदिति से]

(६३)

इतिहास की गति

इतिहास में अब स्व-चेतना आ गई है। अब तक मानव जितना ज्ञान सम्पादन कर सका है, उसके आधार पर कहा जाता है कि सृष्टि के व्यक्त रूप में प्रस्फुटन होने के पश्चात् वास्तविक मानव (True-man-Home-Sapien) का आविर्भाव हमारी इस पृथ्वी पर अनुमानतः आज से पचास-साठ हजार वर्ष पूर्व हुआ। तब से आजतक यह

मानव, स्वयं प्रकृति से उद्भूत होकर प्रकृति के वातावरण में प्रकृति का ही एक अंग बनकर रहता हुआ, इस पृथ्वी पर प्रयास (Adventure) करता हुआ आया है—प्रकृति के क्षेत्र में खेल खेलता हुआ आया है। मानव का यह प्रयास (Adventure), मानव का यह खेल ही मानव की कहानी है—मानव का इतिहास है। यह कहानी गतिमान है, यह इतिहास अभी चल रहा है। अब तक की यह कहानी पढ़कर क्या हमें यह प्रतीति हुई कि मानव ने जो खेल खेला और जो खेल खेल रहा है, उस खेल के कुछ अटल नियम थे, कुछ अटल नियम हैं ? क्या उन नियमों से नियन्त्रित होकर ही, उन नियमों की परिधि में ही मानव अपना खेल खेल पाया;—अपना प्रयास कर पाया ? उन नियमों का उल्लंघन करके नहीं ? क्या जैसा उसने चाहा स्वतन्त्र अपनी इच्छा से वह अपना कार्य-कलाप नहीं कर पाया—क्या जैसा वह चाहे, स्वतंत्र इच्छा से अपना खेल नहीं खेल सकता ? दूसरे शब्दों में, क्या इतिहास की गति भी नियमबद्ध है ? क्या नियमों की एक कठोर और अटल नियति ही इस इतिहास-चक्र को चला रही है—मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा की उसमें प्रतिष्ठा और मान्यता नहीं ? प्रकृति (अचेतन या अपेक्षाकृत कम अचेतन सृष्टि) तो अवश्य अटल नियमों में जकड़ी हुई, अबाधगति से चलती हुई हमें प्रतीत होती है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर अश्रान्त गति से चक्कर लगाती रहती है, अटल नियम से प्रति दिन प्रकाश का उदय होता रहता है, फिर उत्थानात्मक विकास, फिर पतनोन्मुख गति और फिर अन्त। क्या इतिहास की गति भी इसी प्रकार नियम बद्ध नहीं—इतिहास, जिसका क्षेत्र स्वयं यह प्रकृति है और जिस क्षेत्र में खेलनेवाला मानव स्वयं प्रकृति में से उद्भूत और विकसित प्रकृति का ही एक अंग है (विकासवाद) ? व्यक्ति स्वयं का भी तो जन्म, विकास और अन्त होता है—हमने देखा होगा सभ्यताओं की भी तो यही गति रही है—अनेक सभ्यताओं का उदय हुआ, उत्थानात्मक उनका विकास हुआ, फिर पतनोन्मुख गति और फिर अन्त। तो इतिहास की गति के

कुछ नियम हैं ? यदि हैं तो ये नियम क्या हैं ? क्या इन नियमों की जानकारी भविष्य में हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकती है ? उनकी जानकारी से क्या हम घटना चक्र को बदल सकते हैं ? या वे नियम स्वयं अटल हैं–हमें ज्ञात हों, न हों–जो कुछ होना है, वह तो होगा ही ?

५० हजार वर्षों के अनुभव की थाती मानव के पास होते हुए भी अभी तक वह इस स्थिति को प्राप्त नहीं हुआ है कि वह सम्पूर्ण ज्ञान का दावा कर सके। आखिर ज्ञान भी तो सतत वर्धनशील है, विकासमान है। फिर भी, महान दार्शनिकों ने, विज्ञानवेत्ता एवं इतिहासवेत्ताओं ने, इतिहास की गति के विषय में अपनी कुछ धारणाएं बनाई हैं–अपने कुछ अनुमान लगाये हैं। हम इन्हीं की संक्षेप में कुछ चर्चा करके उपयुक्त प्रश्नों का उत्तर ढूंढने का प्रयत्न करेंगे।

आदर्शवादी आध्यात्मिक विचार धारा—प्राचीन काल में भारत, चीन एवं ग्रीस के मनीषियों पर प्राकृतिक कार्य-कलाप का प्रकृति में दिनानुदिन, वर्षानुवर्ष होने वाले व्यापारों का गहरा प्रभाव पड़ा–'रात और दिन का चक्र, गर्मी और सर्दी का चक्र, जीने और मरने का चक्र घूमते देखकर उन्होंने यह समझा कि मनुष्य का इतिहास भी चक्रवत घूमता है।' (बुद्ध प्रकाश)। अर्थात् सृष्टि एक गतिमान चक्र है और सृष्टि-चक्र की गति में पड़कर मानव का इतिहास भी चक्रवत घूमता रहता है। इससे यह आभास होता है कि मानव की स्वतंत्र कोई स्थिति नहीं–उसका इतिहास सृष्टि के उन नियमों (शक्ति या शक्तियों) से बद्ध है जो स्वयं सृष्टि का परिचालन कर रहे हैं।

प्राचीन यहूदी मसीहा और पारसी धर्म गुरुओं की यह मान्यता थी कि 'इतिहास संसार के रंगमंच पर उस दैवी पद्धति की अभिव्यक्ति है जो मनुष्य को धार्मिक साक्षात्कार के क्षणों में झलकती दिखाई देती है लेकिन जो हर तरह से उनकी समझ और सूझ के बाहर है।' (बुद्ध प्रकाश)। इससे भी यही आभास मिलता है कि कोई (?) दैवी

पद्धति है, उस पद्धति के अनुकूल ही मानव के इतिहास की गति है, उस पद्धति में मानव की स्वतंत्र इच्छा (Free Will) का कोई स्थान नहीं।

वर्तमान काल में भी इतिहास के मननशील अध्ययन के लिये और इतिहास की गति को समझने के लिये मुख्यतया दो विचारधारायें उत्पन्न हुईं। एक दार्शनिक विचारधारा है जिसके प्रतिनिधि हीगल, कांचे और स्पेङ्गलर हैं और जो इतिहास को 'विश्व की प्रक्रियाओं के पारस्परिक कार्य-कलाप की अभिव्यक्ति' मानते हैं, अर्थात् विश्व में मानव-निरपेक्ष प्रक्रियायें (Processes) होती रहती हैं—मानव का इतिहास उन विश्व की प्रक्रियाओं से स्वतन्त्र नहीं, उनपर आधारित है—मानो मानव अपनी कहानी की दिशा जिस ओर वह चाहे मोड़ नहीं सकता। उपर्युक्त तीनों मान्यताओं में आध्यात्मिक भाव का समावेश करके तीनों में एक आधार-भूत साम्य ढूंढा जा सकता है एवं तीनों को एक 'आदर्शवादी आध्यात्मिक विचारधारा' के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

वैज्ञानिक विचारधारा—दूसरी वैज्ञानिक विचार-धारा है, जिसमें कार्लमार्क्स की 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' भी शामिल है। इसके अनुसार कुछ आर्थिक, सामाजिक एवं प्राकृतिक क्रियायें, प्रतिक्रियायें होती रहती हैं और उनके अनुरूप ही मानव-इतिहास का विकास होता रहता है। उदाहरण के लिए, समाज में कुछ वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप चीजों की उत्पादन-विधि में परिवर्तन हुआ एवं उससे प्रभावित होकर समाज के सामन्तशाही संगठन का विकास पूंजीवादी संगठन में हुआ और पूंजीवादी संगठन में कुछ विरोधी सामाजिक परिस्थितिया उत्पन्न होने से, जिनका एक विशेष प्रकार के संगठन में उत्पन्न होना स्वाभाविक था, मानव-इतिहास की गति किसी न किसी रूप में समाजवाद की ओर उन्मुख हुई। इस विचार में भी यही बात झलकती है कि मानव बाह्य परिस्थितियों का गुलाम है—प्रकृति में जिस प्रकार पूर्वस्थित नियमों के अनुकूल भौतिक-रासायनिक प्रक्रियायें (Physico-Chemical Actions) होती रहती हैं—मनुष्य भी उसी प्रकार चूंकि वह प्रकृति

का ही एक अंग है, भौतिक-रासायनिक नियमबद्ध प्रक्रियाओं से स्वतन्त्र काई वस्तु नहीं, या बाह्य प्राकृतिक, सामाजिक परिस्थितियों से परे वह कुछ भी नहीं। यह एक प्रकार का आर्थिक, वैज्ञानिक नियतिवाद है। जिस प्रकार की आर्थिक परिस्थितियां होंगी, उसी प्रकार की इतिहास की गति; जो प्रकृति की गति है वही मनुष्य की गति। इतिहास-सम्बन्धी उपर्युक्त विचारधाराओं के अनुसार क्या हम यह मान लें कि मानव की ५० हजार वर्ष पुरानी अब तक की कहानी केवल किसी अटल नियतिका (चाहे वह नियति दैवी नियति=Religious or Spiritual Determinism हो; या प्रकृति नियति=Natural Determinism हो; या विज्ञान नियति=Evolutionary Determinism हो) ही चक्र है? क्या मनुष्य इतिहास की गति में केवल एक मशीन के पुर्जे की तरह चला है? क्या किसी भी अंश में परिस्थितियों (प्राकृतिक एवं सामाजिक) से स्वतन्त्र उसका अस्तित्व नहीं रहा है? एवं क्या विश्व के विकास का क्रम पूर्व निश्चित है?

मानव चेतना का उद्भव और उसका अर्थ

ऊपर की पंक्तियों में सृष्टि के विकास की यह कहानी हम पढ़ आये हैं कि सामान्यतः कल्पनातीत वर्षों तक मूक निष्प्राण और अचेतन नक्षत्रों, फिर अपने सौरमण्डल, फिर अपनी पृथ्वी का विकास होता रहा। कुछ करोड़ वर्षों पूर्व ही इस निश्चेतन पृथ्वी पर प्राण का आविर्भाव हुआ। प्राणमय जीवों का विकास हुआ और उनमें चेतना जगी। फिर सर्वोत्तम जीव मानव अपनी चेतना और चिन्तन के साथ इस भूतल पर उद्भूत हुआ। उसका उद्भव तो हुआ निष्प्राण, अचेतना प्रकृति में से ही; किन्तु इस नवीन प्रकृति-वस्तु में, एक दृष्टिकोण से, शेष प्रकृति से भिन्न अपना ही स्वतन्त्र अस्तित्व था और अपना ही स्वतन्त्र एक व्यक्तित्व। सत्य है कि प्रकृति से पृथक उसकी कोई स्थिति नहीं, प्रकृति के वातावरण और गति में ही यह फूलता-फलता है और उसी में उसका विकास होता है किंतु

यह होते हुए भी उसके अन्दर एक चेतना होती है और इस चेतना द्वारा उसको शेष सृष्टि से पृथक अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है, और इसी के कारण वह समस्त सृष्टि को अपने ही एक दृष्टि-बिन्दु से देखता है— मानव में जब ऐसी चेतना का उदय हुआ तो उस चेतना ने उसमें और शेष प्रकृति में एक आधारभूत गुणात्मक भेद उत्पन्न कर दिया। इस चेतना की जागृति के बाद ही निष्प्रयोजन प्रकृति में मानो किसी प्रयोजन की प्रतीति होने लगी। आखिर इस सृष्टि में कुछ तो, कोई तो ऐसा आया जो स्वयं इस सृष्टि का अंग होते हुए भी सृष्टि के सम्पर्क से स्वयं अपने पृथक सुख-दुःख की अनुभूति तो करता था—सृष्टि को समझने का प्रयत्न तो करता था। इस प्रकार शेष प्रकृति के गुण से भिन्न अपने ही व्यक्तित्व के स्वतन्त्र अस्तित्व में, अपनी स्वतन्त्र चेतना में उसकी चिन्तन-स्वतन्त्रता और कर्म-स्वतन्त्रता भी निहित है। अर्थात् उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि प्रकृति की गति-विधि में या समाज की गति-विधि में शेष प्रकृति के उपादानों की तरह वह निस्सहाय (Passively) बहता और सरकता चला जाय और स्वयं अपनी इच्छानुसार कुछ भी न कर सके।

किन्तु यह प्रश्न उठ सकता है और यदि गहराई से देखें तो ऐसा ज्ञात भी होगा कि मानव स्वयं 'अपनी इच्छा' बनाने में स्वतन्त्र नहीं है। वंशानुवंश से प्राप्त उसके शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक गुण, उसकी जन्मजात वृत्तियां और वे सब सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परि-स्थितियां और वातावरण जिनमें पैदा होने के बाद वह पलता और बड़ा होता है—ये सब ही उसकी 'इच्छा' के निर्णायक हैं। उसकी इच्छा का स्वतन्त्र अस्तित्व फिर कहां रहा ? ये सब बातें होते हुए भी पंडितों, वैज्ञानिकों और मनोवैज्ञानिकों ने ऐसा पता लगाया है कि मनुष्य कई अंशों में अपनी इच्छा में और अपना कर्म करने में स्वतन्त्र है। मैकेनिक भौतिकवादी—वैज्ञानिक भौतिकवादी नहीं—एवं कर्म-सिद्धान्तवादी, कार्य-कारण की ऐसी निश्चित अटूट शृंखला की कल्पना कर सकते हैं कि

इस शृंखला बन्धन से मनुष्य किन्चित-मात्र भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता—इस शृंखला द्वारा निर्दिष्ट राह से किंचितमात्र भी इधर-उधर नहीं डिग सकता। मानो या तो यह उन्हीं प्राकृतिक नियमों से बंधा हुआ है जिनसे द्रव्य-पदार्थ के अणु-परमाणु परिचालित होते हैं—या वह कर्म-नियम से बाधित है। स्वतन्त्र न तो वह इच्छा कर सकता है न कोई कर्म; उसका प्रत्येक कर्म निश्चय किसी पूर्व कारण का फल है, वह कर्म अपने में स्वतन्त्र इच्छा का फल नहीं। यह कहा जा सकता है कि हम जो कुछ चाहें कर सकते हैं; हमको रोकने वाला कौन; किन्तु यहीं प्रकृति या कर्म-कारण आ धमकता है—ठीक है 'आप जो चाहे कर सकते हैं, किन्तु आप जैसा चाहना चाहें नहीं चाह सकते।' अर्थात् आप अपनी चाह में स्वतन्त्र नहीं हैं—आपकी चाह ही प्रकृति या पूर्व कार्य-कारण द्वारा निर्दिष्ट हो चुकी है। आप जीवकोषों (प्रकृति के परमाणुओं) के या कर्मफल के दास हैं। 'माना हम कुछ ऐसे जीवकोषों (Cells) के दास हैं जो बहुत प्रबल हैं, जीवकोषों में यह बल कुल-क्रम (Heredity) वातावरण, शिक्षा तथा अन्य अनेक कारणों से आता है। यह हास्य हमारा पूरा और एकान्त होता परन्तु इसको रोकनेवाली एक शक्ति विचित्र शक्ति हममें है, जिसको हम इच्छा-शक्ति या संकल्प कहते हैं। इच्छा-शक्ति से हम मस्तिष्क के चाहे जिन जीवकोषों को शान्त कर सकते हैं और चाहे जिनकी क्रियाशक्ति बढ़ा सकते हैं।' इस इच्छा-शक्ति, इस संकल्प को निर्धारित करने में हम स्वतन्त्र हैं। वैज्ञानिकों ने यह पता लगाया है कि प्रकृति का अन्तिम उपादान विद्युतकण (Electron) स्वयं कभी कभी प्रोटोन (विद्युतकण) के चारों तरफ घूर्णित होने की अपनी निश्चित परिधि का उल्लंघन कर जाता है अर्थात प्रकृनि के स्वयं निर्दिष्ट मार्ग को छोड़कर स्वेच्छा से और किधर ही दौड़ पड़ता है—यद्यपि ऐसा होता बहुत कम है। स्वयं प्रकृति के इस अद्भुत व्यापार में मनुष्य की इच्छा और कर्म-स्वातन्त्र्य के वैज्ञानिक आधार की कल्पना की जाती है—वह मनुष्य

जिसका आदि उपादान प्रकृति की तरह स्वयं गतिमान विद्युतकण (इलक्ट्रोन प्रोटोन) ही है।

अतएव आज वैज्ञानिक आधार पर हम यह मान सकते हैं कि कुछ अंशों तक वास्तव में मनुष्य अपनी इच्छा और कर्म में अवश्य स्वतंत्र है। ऐसी कल्पना तो हम कर सकते हैं कि शुद्धचित्त (आत्म-संयमी) महामानव तो अपनी इच्छा और कर्म में पूर्ण स्वतंत्र हो, एवं साधारण मानव अपनी इच्छा और कर्म में 'बहुत कम अंश' तक ही स्वतंत्र हो, किंतु किसी रूप में यह बात मान लेने पर कि मनुष्य बहुत कुछ अंशों तक अपनी इच्छाओं और कर्म में स्वतंत्र है, हम यह धारणा बना सकते हैं कि मानव की कहानी की गति, इतिहास की प्रगति—केवल एक कल्पित सृष्टि—चक्र, एक दैवी पद्धति या अचेतन प्रकृति के अटल नियम, या बाह्य आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों पर आधारित नहीं। मानव-कहानी की गति में, मानव-इतिहास की रचना में मनुष्य की अपनी इच्छा का काफी जबरदस्त दायित्व रहा है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि मानव-इतिहास की अनेक घटनायें जैसी वे घटित हुई, वैसी घटित होने में अन्य कारणों के साथ यह भी एक कारण था कि उन घटनाओं से सम्बन्धित मनुष्यों ने अमुक प्रकार से अपनी इच्छा और कर्म स्वातंत्र्य का प्रयोग किया।

इस संबंध में वर्तमान प्रसिद्ध इतिहासज्ञ आर्नोल्डटोयन्वी का एक दृढ़ विश्वास है जो हम उन्हीं के शब्दों में व्यक्त करते हैं—"हम अपने मंगल या अमंगल जीवन या विनाश के लिये अपने भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। एक इतिहासज्ञ के नाते जिस एक बात पर मेरा पक्का विश्वास है, वह यह कि इतिहास कभी भी स्वयंभू नहीं है। उसका निर्माण किया जाता है, और यह निर्माण मनुष्यों के स्वतंत्र निर्णयों द्वारा घटित होता है। कल सुबह का वे वीरतापूर्वक सामना करते हैं या भय से, इस पर उनकी भावी की रचना बनती या बिगड़ती है।"

इतिहास की गति किस ओर ?

आज हमें चेतन ज्ञान हुआ है कि मनुष्य के भाग्य का (व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से) एवं इतिहास की गति का विधायक पूर्ण रूप से केवल कोई बाह्य परिस्थितियां, या दैविक एवं प्राकृतिक नियति या कार्य-कारण रूप में 'कर्म फल का सिद्धान्त' नहीं है, किंतु इसका विधायक कई अंशों में मनुष्य है। यह ज्ञान हम अनुपम वर्तमान साधनों से जन-जन में प्रचारित कर सकते हैं। वर्तमान सभ्यता हमारे सामने है, हजारों वर्षों के ज्ञान-विज्ञान, कला और अनुभव की विरासत इसको मिली हुई है। पिछले ही दो-तीन सौ वर्षों से इसने अभूतपूर्व उन्नति की है–प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में, सामाजिक विज्ञान के क्षत्र में, कला-साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में। और यह सभ्यता द्रुत गति से गतिमान भी है। 'नियतिवाद' में विश्वास करते हुए तो अपने आपको बेबस मान कर हम सभ्यता की इस सम्पूर्ण गतिमान प्रक्रिया को इसके भाग्य पर छोड़ सकते हैं और यह कल्पना कर सकते हैं कि जिस प्रकार अनेक प्राचीन सभ्यताओं का उदय और विकास होकर अन्त हो गया, उसी प्रकार यह सभ्यता भी नष्ट होगी और मानव एक बार फिर अन्धकार में लुप्त होगा।

किन्तु आज हमें नव जाग्रत अनुभूति हुई है कि हमारे और हमारी गति के विधायक हम स्वयं भी हैं—केवल कोई नियति ही नहीं। एक महान् अवसर हमें मिला है, हमको अनेक साधन उपलब्ध हैं। यदि हम चाहें तो अपने भविष्य के निर्माता हम स्वयं बन सकते हैं, जिस ओर हम चाहें अपनी सभ्यता की दिशा को मोड़ सकते हैं, जिस प्रकार चाहें अपनी कहानी लिख सकते हैं। जन-जन को इस तथ्य का परिचय कराकर हमें इस इतिहास-प्रदत्त अवसर से लाभ उठाना चाहिए और हमें व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से क्रियाशील बनना चाहिए कि मानव कहानी की प्रगति उत्तरोत्तर उचित दिशा की ओर हो। अब तक हमने देखा है कि सभ्यता की गति बराबर दो दिशाओं की ओर बनी रही है—एक

दिशा रही है रचना की, प्रेम की और सहकार की; दूसरी दिशा रही है विनाश की, द्वेष की, प्रतिद्वन्द्विता की। आज भी हम यही देख रहे हैं। संसार के प्राणी एक ओर मिल रहे हैं एक दूसरे को सहायता देने के लिये; दूसरी ओर विलग हो रहे हैं एक दूसरे का विनाश करने के लिये। एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय सामूहिक प्रयत्न हो रहे हैं कि सब देशों के लोगों को स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान हो, बीमारियों से बचने के उपाय उन्हें विदित हों, उचित स्वास्थ्यप्रद और पौष्टिक भोजन उनको उपलब्ध हो, ज्ञान की किरणें उनके अन्तर को प्रकाशित करें;—दूसरी ओर बन रहे हैं विध्वंसक वायुयान, जहरीले गैस और प्रलयंकारी अणु-बम। किन्तु बड़ी बात तो यह है कि आज हमें इस बात की चेतना है कि दो विरोधी प्रवृत्तियां विद्यमान हैं—एक कल्याणकारी दूसरी विनाशकारी। यह चेतना हमें आज है। क्या हम क्रूर विनाशकारी वृत्ति को रोक पायंगे, उस पर विजय प्राप्त कर पायेंगे? मानव ऐसा करने में स्वतन्त्र है;—वह अपनी प्रतिष्ठा बनाये रख सकता है। माना बहुत अंशों तक वह प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में बंधा हुआ है—इसके अतिरिक्त माना वह अपनी व्यक्तिगत जन्मजात एवं जातीय (Racial) सांस्कारिक वृत्तियों से भी सर्वथा मुक्त नहीं, किन्तु फिर भी नैतिक संयम (Moral Discipline) द्वारा वह एक स्वार्थरहित, अनासक्त, शुद्ध मानसिक बौद्धिक स्थिति तक पहुंच सकता है, तब ही अपनी इच्छा और क्रिया में वह वस्तुतः स्वतंत्र होगा और तब ही उसमें से ऐसे कार्य उद्भूत होंगे जो लोकसंग्रहकारी और कल्याणकारी हों। साधारण जन भी—उनमें शिक्षा और ज्ञान का प्रसार हो जाने पर, इच्छा और कर्म-स्वातंत्र्य में निहित व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का तथ्य उनके समझ लेने पर —समाज हितकारी कर्मों की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं, एवं लोक-विनाशकारी प्रवृत्तियों को रोक सकते हैं।

सृष्टि एवं इतिहास का उद्देश्य?

अन्त में व्यक्तिगत रूप से हम तो यही सोचने को बाध्य हुए हैं कि यह चेतनामय प्राणी ही विश्व का केन्द्र है। प्राणी की इस चेतना को

पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति हो—यह अनुभूति ही पूर्ण आनन्द की अनुभूति है। फिर हम सोचते हैं कि इन हजारों वर्षों में किन्हीं विरले व्यक्तियों को ही इस पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति हुई हो, शेष असंख्य मानवजन तो यों-के-यों ही रहे हैं। यहां बोधिसत्व के हमें ये शब्द याद आते हैं, "मैंने मुक्ति पाली तो क्या हुआ, इस पृथ्वी के मानव तो अभी पीड़ित ही हैं। जब तक इन सबको मुक्ति नहीं मिल जाती तब तक मैं जीवित रहूंगा।" आज योगी अरविन्द ने यह साधना की है—यह अनुभूति की है कि मानव में (जो एक चेतनामय प्राणी है किन्तु जिसकी चेतना अभी तक मुक्त और स्वतन्त्र नहीं है) उसकी चेतना का विकास इसी ओर होरहा है कि वह चेतना (Consciousness) बन्धनों से मुक्त होगी, पूर्ण स्वतन्त्र होगी—वह दैवी-चेतना बनेगी। क्या हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि मानव कहानी की गति इसी ओर हो? करोड़ों वर्षों तक 'प्राण' का यही प्रयास रहा है कि वह शरीर जिसमें वह वास करता है—उस शरीर की गति मुक्त हो—स्वतन्त्र हो। करोड़ों वर्षों के परीक्षण, परिश्रम के बाद 'प्राण' को ऐसा शरीर प्राप्त हुआ जो पूर्ण था, जो स्वतन्त्र था, जो मुक्त रूप से हिल-डुल सकता था। वह शरीर था मानव शरीर; किन्तु उस शरीर में प्राण के साथ-साथ एक और चिन्ता मानव को मिली–वह चिन्ता थी उसकी 'चेतना'। मानव की चेतना मानव को बेचैन रखती है। साथ ही साथ यदि चेतना न हो तो इस सृष्टि की स्थिति ही निरर्थक है–यह हो न हो। जब तक इस सृष्टि को देखने वाली, इसका अनुभव करने वाली 'चेतना' है, तब तक ही इसकी स्थिति का, इसकी गति का अर्थ है—अन्यथा कुछ नहीं।

किंतु मानव की यह 'चेतना' बंधन में है, इस पर कुछ दबाव सा रहता है, इस पर कुछ भार-सा रहता है। इसकी गति स्वतंत्र नहीं–निर्द्वन्द्व यह उल्लसित नहीं हो पाती, निश्चित यह फूल नहीं उठती। मुक्त यह समस्त सृष्टि को अपने में समा नहीं पाती।

'मानव की कहानी' उस प्रयास की कहानी है–उस प्रगति की कहानी है, जो वह कर रहा है 'चेतना' की मुक्ति की ओर–कि चेतना भार मुक्त हो, एक बार विहंस उठे निश्चिन्त होकर।

किंतु क्या यह स्थिति अंतिम स्थिति होगी ? नहीं ! अध्यात्म-समाधि (मुक्ति) में मग्न रहते हुए भी इस तथ्य से दृष्टि ओझल नहीं की जा सकती कि इस सृष्टि में पदार्थ और गति (Matter and Motion) अविभाज्य हैं। तामस से तामस पदार्थ भी, प्रत्यक्ष गतिहीन से गतिहीन पदार्थ भी अप्रतिहत गति से घूर्णित असंख्य विद्युदणुओं का एक समूहमात्र है। गति का अर्थ है परिवर्तन; क्षण-क्षण परिवर्तन-शीलता ही गति है। परिवर्तन ही जीवन है, परिवर्तन ही सृष्टि, परिवर्तन-हीनता मृत्यु है, शून्य है। इस परिवर्तन-शीलता में सृष्टि के किसी एक अन्तिम निश्चित उद्देश्य का कुछ भी अर्थ नहीं। इस संसार में यदि कोई आदर्श स्थिति भी ले आये, प्राणीमात्र 'आध्यात्मिक' स्वतन्त्रता भी पाले, सृष्टि में 'राम राज्य' भी स्थापित हो जाय–किंतु वह आदर्श स्थिति स्वयं प्रति पल परिवर्तनशील होगी। उद्देश्य यदि हो सकता है तो कोई विकासमान उद्देश्य ही हो सकता है–प्रकृति (सृष्टि) और समाज में सन्निहित (किन्तु अब तक अप्रकट) गुणों की अभिव्यक्ति के साथ साथ युग युग का अपना अपना उद्देश्य।

उपसंहार

युग युग से धर्म और दर्शन मानव को यह कहते हुए आरहे हैं कि मनुष्य जीवन सुख दुख का द्वन्द्व होता है।

प्रारम्भ से अब तक की मानव कहानी का अवलोकन कर और भविष्य की ओर दृष्टि रख, आज इस उपरोक्त बात में विश्वास करने से इंकार किया जा सकता है और यह सोचा जा सकता है कि आज कोई कारण नहीं कि दुख, दर्द और दरिद्रता जीवन के अंग हों ही।

व्यक्ति और समाज ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि मनुष्य जीवन स्वस्थ, सुखी और प्रसन्न हो। मानव जाति में ऐसे गुणात्मक विकास की संभावना मानी जा सकती है कि वह सुख दुख के द्वन्द्व से मुक्त हो।

परिशिष्ट १

सृष्टि और मानव विकास का इतिहास–तिथिक्रम

काल	विवरण
अनिश्चित अतीतकाल	आदि द्रव्य-पदार्थ का अस्तित्व। कौन कह सकता है कि यह स्थिति चेतन थी या अचेतन ! आज का वैज्ञानिक मत तो यही है कि यह अ-प्राण, अ-चेतन द्रव्य था।
असंख्यों वर्ष पूर्व	आदि द्रव्य में से नक्षत्र पुंजों, एवं असंख्य नक्षत्रों का उद्भव। शनैः शनैः एक नक्षत्र, हमारे सूर्य का भी उद्भव
२ अरब वर्ष पूर्व	सूर्य से वाष्पपिंड रूप में कुछ पदार्थ का पृथक होना; जिनसे ग्रहों का निर्माण होना इन ग्रहों में हमारी पृथ्वी भी एक।
२ अरब वर्ष पूर्व से ६०-७० करोड़ वर्ष पूर्व	पृथ्वी का वाष्परूप से ठोस रूप में परिवर्तन होना; जल थल भाग पृथक होना; स्तरीय चट्टानों का शनैः शनैः बनना।
६०-७० करोड़ वर्ष पूर्व	प्राण का उदय
६० से २० करोड़ वर्ष पूर्व	"प्रारम्भिक जीव युग", अति सूक्ष्म निरावयवजीव इत्यादि
२० से ६ करोड़ वर्ष पूर्व	"मध्यजीव युग" थलचर सरीसृप प्राणी
६ करोड़ से ५ लाख वर्ष पूर्व	"नवजीवयुग" स्तनधारीप्राणी; पक्षी, पशु

काल ई. पू.	विवरण
५ लाख वर्ष पूर्व से ५० हजार वर्ष पूर्व तक	—अर्धमानव प्राणी; प्राचीन पाषाणयुगीय सभ्यता
५० हजार वर्ष पूर्व	—वास्तविक मानव का उदय
५० से १५ हजार वर्ष पूर्व	—प्राचीन पाषाणयुगीय उत्तरकालीन पूर्व सभ्यता
१५ हजार वर्ष पूर्व से ६ हजार वर्ष ई० पूर्व	—नव पाषाणयुगीय सभ्यता; एवं सौरपाषाणी सभ्यता
६०००-२००० ई० पू०	—प्राचीन लुप्त, मिश्र, मेसोपोटेमिया, सिंधु, क्रीट सभ्यताओं का काल
४२४१	मिश्र में सौर गणना के अनुसार प्रथम पत्रा
३३००	मिश्र का प्रथम राज्य वंश; फेरा (सम्राट)
३२५०	मोहेंजोदाड़ो नगर का प्रारम्भकाल
२७५०	सुमेर-अक्काद साम्राज्य का सम्राट सार्गन
२७००	मिश्र का पिरेमिड निर्माण काल
२६९७	चीन का प्रथम सम्राट ह्वांगटी (पीत सम्राट)
२३५७–२२०६	चीनियों के सर्व प्राचीन ग्रंथ–यी-चिन एवं शू-चिन का निर्माण
२१००	वेबीलोन साम्राज्य का सम्राट हमूरबी
२०००	क्रीट के क्नोसस नगर में माइनोस के महल का निर्माण
१३७५	मिस्र का प्रसिद्ध सम्राट इखनातन
९००	यहूदी राजा सोलोमन
लगभग ८००	ग्रीक महाकवि होमर और उसका महाकाव्य इलियड; कार्थेज का निर्माण
७७६	प्रथम ओलम्पियन खेल
७२२–७०५	असीरिया का प्रसिद्ध सम्राट सार्गन द्वितीय–राजधानी निनेवेह ।
६६८–६२६	असीरिया का प्रसिद्ध सम्राट असुरबनीपाल

ई० पू०	विवरण
६०४–५६१	द्वितीय बेबीलोन साम्राज्य का सम्राट नेबू का ड्रेजार जिसके राज्य काल में यहूदी बेबीलोन पकड़ कर लाये गये ।
५८६–५३८	यहूदियों का बेबीलोन में प्रवास, जब वे अपने दृष्टाओं, महात्माओं के शब्द संग्रह करने लगे ।
लगभग–६२५-५४५	महात्मा बुद्ध
५५१	चीनी महात्मा कनफ्यूसियस का जन्म, लाओत्से का समकालीन
५३८	प्राचीन मेसोपोटेमिया बेबीलोन इत्यादि की परम्परा समाप्त–ईरानी आर्य लोगों का इस देश में आगमन और प्रभुत्व ।
५२०	हन्नोन नामक फीनिशियन मल्लाह की जिबरालटर से दक्षिण अफ्रीका तट की सामुद्रिक यात्रा
४८०	थर्मोपली का युद्ध ग्रीक और ईरानियों में
४६६	ग्रीस में पेरीकलीज का काल
४५०	प्राचीन अलिखित कानूनों के आधार पर कुछ रोमन कानून बनाये गये ।
३९९	सुक्रात द्वारा विषपान
४२७--३४७	प्लेटो (अरस्तू) ग्रीक दार्शनिक
३५६–३२३	ग्रीक सम्राट अलक्षेन्द्र महान
३३१	ईरान में ग्रीक सम्राट अलक्षेन्द्र की विजय
२६८–२३२	भारत सम्राट अशोक
३२७	भारत पर ग्रीक अलक्षेन्द्र का आक्रमण
२४६	शी हवांगटी चिनवंश का चीन में प्रथम सम्राट (२४६-२०७)

ई० पू०	विवरण
५१०–२७	रोमन गणराज्य काल
१०२–४४	सीजर रोमन डिक्टेटर
२७	रोमन प्रजातन्त्र का अंत, ओगस्टस सीजर के नाम से ओक्टेवियन प्रथम सम्राट
४	ईसा का जन्म

ईस्वी सन्	विवरण
२६	ईसा को फांसी
७०	यरुशलम पर रोमन लोगों का अधिकार
३१३	रोमन सम्राट कोन्सटेनटाइन द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण
३२५	ईसाई धर्म गुरुओं का नीसिया में सम्मेलन; ईसाई धर्म का संगठित रूप में निर्माण
३७५–४१३	चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भारत सम्राट
४०५–४११	चीनीयात्री फाहयान का भारत भ्रमण
४८०–५४४	संत वेनेदिक्त जिसने ईसाई बिहारों की स्थापना की
४५०	रोमन साम्राज्य एवं परम्परा का अन्त, यूरोप में उत्तर से गोथ, वेन्डल, ट्यूटोनिक नोर्डिक लोगों का प्रभुत्व प्रारंभ
५६०	रोम का सर्व प्रथम पोप ग्रिगोरी
५२७–५६५	पूर्वी रोमन सम्राट जस्टीनियन—"जस्टीनियन कानून" का संपादन
५७०	मोहम्मद, इस्लाम के संस्थापक का जन्म (५७०-६३२)
६२२	मुसलमान (इस्लाम) धर्म की स्थापना; हिजरी सन् प्रारम्भ
६३	चीनीयात्री युवानच्यांग की भारत यात्रा; तिब्बत एक राजा के आधीन संगठित

ईस्वी सन्	विवरण
६३६–३७	ईरान के आर्य राजाओं पर अरबी मुसलमानों की विजय
७१०–११	सिंध पर अरबी खलीफाओं की ओर से मुहम्मदबिन-कासिम का आक्रमण
७८८	शंकराचार्य का जन्म
७८६–८०९	खलीफा हारुनल रशीद–बग़दाद
१० वीं शती	तुर्क लोगों का मुसलमान बनना
६१८–९०६	चीन का प्रसिद्ध तांग राज्य वंश
१०९५	हेनरी द्वारा स्वतन्त्र पुर्तगाल राज्य स्थापित
१०९५–१२४९	क्रूसेड–ईसाई मुसलमान धर्म युद्ध
१२१७–१९	मंगोल चंगेजखां की विजय यात्रा
१२५८	अरब खलीफाओं के नगर बग़दाद एवं अरब खलीफाओं की परम्परा का मंगोलों द्वारा खात्मा
१२१५	इंगलैंड के राजा द्वारा मैगनाकार्टा स्वीकृत
७११–१४९२	स्पेन में अरब मुसलमानों (मूरों) की परम्परा
११८१–१२२६	संत फ्रांसिस
१२६५–१३२१	इटली का महाकवि दांते
१३४०–१४११	इङ्गलैंड का कवि चॉसर
१४५३	पूर्वी रोमन साम्राज्य के अंतिम स्थल कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार, रिनेसॉं की परम्परा प्रारम्भ और गतिशील
१४४६	प्रथम बार यूरोप में मुद्रणालयों का प्रचलन
१४५४	लेटिन भाषा में पहली बाइबल मुद्रित की गई।
१४७४	इटली के टोस्कानेली ने तत्कालीन दुनिया का चार्ट तैय्यार किया।
१४९२	कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज
१४९८	वास्कोदगामा अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत आया। आधुनिक काल में पच्छिम का भारत से प्रथम सम्पर्क

ईस्वी सन्	विवरण
१५००	पेड्रो द्वारा ब्राजील की खोज
१५१६	कोर्टेज द्वारा मेक्सिको की खोज
१५१८	पुर्तगाली नाविक मगेलन ने जहाज में दुनिया की परिक्रमा की
१५३०	पिजारो द्वारा पीरु की खोज
१५७७	इङ्गलैंड के फ्रांसिस ड्रेक द्वारा विश्व-परिक्रमा
१४७३–१५४३	पोलेंड का विज्ञानवेत्ता कोपरनिकस
१५६४–१६४२	इटली के विज्ञानवेत्ता गेलिलियो
१६४२–१७२६	इंगलैंड का विज्ञानवेत्ता न्यूटन
१६६२	लंदन में रोयल सोसाइटी की स्थापना
१६०५–७२	थोमसमूर 'यूटोपिया' के रचयिता
१५६१–१६२६	फ्रांसिस बेकन इंगलैंड के साहित्यिक और दार्शनिक, वैज्ञानिक।
१५६६–१६५०	देकार्त (Descartes) फ्रांस के दार्शनिक
१२०६–१५२६	दिल्ली में सुल्तानों का राज्य
१४८५–१५३३	चैतन्य—बंगाल का संत कवि
१४६८–१५४६	मीरा—संत कवियित्री
१३६६–१५१८	कबीरदास—संत कवि
१४६६–१५३८	नानक ,,
१४८३–१५६३	सूरदास— ,,
१५३२–१६३३	तुलसीदास— ,,
१५२६	भारत में बाबर द्वारा मुगल राज्य की स्थापना
१५५६–१६०५	भारत सम्राट अकबर
१५५८–१६०३	इङ्गलैंड की साम्राज्ञी एलिजाबेथ
१५६४–१६१६	शेक्सपीयर
१५४२	प्रथमबार यरोपीय लोगों का जापान से सम्पर्क

ईस्वी सन्	विवरण
१४८३–१५४६	लूथर धार्मिक सुधारक
१५६७	द० अमेरिका में ब्राजील की राजधानी राइडेजेनेरो की स्थापना
१५२२	स्वीडन का पृथक राज्य स्थापित होना
१५८८	स्पेनिश अर्मडा की हार, समुद्र में इङ्गलैंड का प्रभुत्व
१६२०	पिलग्रिम फादर्स का मेफ्लावर जहाज में अमेरिका के लिये प्रस्थान
१६२८	पार्लियामेंट का अधिकार पत्र इङ्गलैंड के राजा द्वारा स्वीकृत
१६४८	यूरोप में वेस्टफेलिया की संधि
१६४४	चीन में मंचू राज्यवंश की स्थापना
१६८८	इङ्गलैंड में क्रांति, पार्लियामेंट का प्रभुत्व स्थापित
१६८२	पीटर महान रूस का शासक
१६६१–१७१५	फ्रांस का लुई १४वां
१७५७	प्लासी की लड़ाई
१७५०–१८५०	औद्योगिक क्रांति
१७६५	इङ्गलैंड में सर्वप्रथम भाप इंजन
१७८५	,, ,, ,, ,, ,, ,, का कपड़े की मील में प्रयोग
१७६४–७५	कताई, बुनाई की मशीनों का आविष्कार
१७८६	मेनचेस्टर में सर्व प्रथम कपड़े की मील स्थापित
१८०७	जहाज में सर्व प्रथम भाप इंजन का प्रयोग अमेरिका में
१८०६	पहले स्टीमर ने अटलांटिक महासागर पार किया
१८२५	दुनिया की सर्व प्रथम रेल इङ्गलैंड में बनी
१८२७	दियासलाई का आविष्कार
१८३१	इङ्गलैंड में डायनमो का आविष्कार
१८३५	सब से पहिले तार की लाइन लगी

ईस्वी सन्	विवरण
१८५१	सर्व प्रथम इङ्गलैंड और फ्रांस के बीच केबलग्राम (तार)
१८७६	टैलीफोन का सर्व प्रथम प्रयोग
१८७८	सवं प्रथम बिजली द्वारा रोशनी
१८८०	पेट्रोल की खोज
१८९६	इटली के मार्कोनी द्वारा वायरलेस का आविष्कार
१८७६	एडीसन द्वारा अमेरिका में ग्रामोफोन का आविष्कार
१८९३	चलचित्र का आविष्कार
१८९८	मेडम क्यूरी द्वारा रेडियम का आविष्कार
१९०२	रेडियो द्वारा प्रथम संवाद ग्रहण
१९०३	अमेरिका में सर्व प्रथम वायुयान उड़ान
१९२६	इङ्गलैंड में टेलीवीजन का आविष्कार.
१७५६-६३	यूरोप का सप्तवर्षीय युद्ध; पेरिस की संधि
१७७६	अमेरिका द्वारा स्वतन्त्रता की घोषणा
१७८७	अमेरिका के शासन विधान का निर्माण
१७८९	फ्रांस की राज्य क्रांति
१७९९-१८१५	नेपोलियन का उत्थान पतन; १८१५ वाटरलू का युद्ध
१८०१	लेमार्क का विकास सिद्धान्त
१८०२	डाल्टन का परमाणु सिद्धान्त (अटोमिक थ्योरी)
१८१५	वियेना की कांग्रेस
१८२१-२९	टर्की के विरुद्ध ग्रीस का स्वतंत्रता युद्ध
१८३९-४२	चीन और इङ्गलैंड का अफीम युद्ध
१८१९	इङ्गलैंड में सर्व प्रथम फेक्ट्री कानून
१८१८-८६	कार्ल मार्क्स
१८४८	कोम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो
१८३०-४८	यूरोप में जनतन्त्रवादी क्रांतियां
१८२४	दक्षिण अमेरिका के उपनिवेश स्पेन से स्वतन्त्र

ईस्वी सन्	विवरण
१८५३	भारत में सब से पहली रेलवे लाइन
१८५७	भारतीय गदर; कलकत्ता, बम्बई, मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित
१८५९	डारविन का "ओरिजन ऑफ स्पीसीज" ग्रंथ
१८६४	फर्स्ट इन्टरनेशनल (अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ)
१८८५	राष्ट्रीय महासभा—भारतीय कांग्रेस
१८६२	अमेरिका में कानून द्वारा दास प्रथा समाप्त
१८६१	इटली का एकीकरण—इटली का प्रथम राजा विक्टर इमेन्यूअल
१८७०	इटली की स्वतन्त्रता और एकीकरण
१८७१	जर्मनी का एकीकरण
१८६०–६५	अब्राहिम लिंकन अमेरिका का राष्ट्रपति
१८६९	स्वेज नहर का खुलना
१८६९–१९४८	महात्मा गांधी
१८७०–१९२४	लेनिन
१८७२–१९५०	अरविंद
१८३३–१९०२	रामकृष्ण परमहंस
१८६८	जापान में मेजी पुनर्स्थापन
१८९०	अखिल विश्व यहूदी संगठन की स्थापना, बेसल स्वीटजरलैंड में
१८९४–९५	प्रथम चीन जापान युद्ध; फार्मूसा और कोरिया जापान के आधीन
१९०४–५	रूस जापान युद्ध में रूस की हार
१९०५	नोर्वे का स्वतन्त्र राज्य स्थापित
१९०७	ईराक में वैधानिक राजतन्त्र स्थापित
१९०९	अमरीकन यात्री पियरी द्वारा उत्तरी ध्रुव की खोज

ईस्वी सन्	विवरण
१९११	एमंडसन द्वारा दक्षिणी ध्रुव की खोज
१९१२	चीन में सनयातसन द्वारा प्रजातन्त्र स्थापित
१९१७(नवंबर७)	रूस की साम्यवादी क्रांति
१९१७	बेलफर घोषणा, जिसके अनुसार अंग्रेजों ने यह सिद्धांत स्वीकार किया कि फिलस्तीन में यहूदियों का राष्ट्रीय घर होना चाहिये
१९१४-१८	प्रथम विश्व महायुद्ध
१९१९	वर्साई की संधि; राष्ट्रसंघ की स्थापना, रूस में थर्ड इंटरनैशनल का संगठन
१९२०	(जनवरी १६) जेनेवा में राष्ट्रसंघ की प्रथम बैठक
१९२२	टर्की में जनतन्त्र की स्थापना; खलाफत का अन्त
१९२२	आयरलैंड में आइरिश फ्री स्टेट की स्थापना; इटली में मसोलनी की फासिस्ट सरकार स्थापित
१९२५	सनयातसन की मृत्यु के बाद चांगकाईशेक चीन का अधिनायक
१९२६	अरब और यमन में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना
१९२८	केलोग संधि युद्ध विसर्जन के लिए; न्यूयोर्क शहर में प्रथम बोलते चित्रपट का प्रदर्शन
१९२९-३३	विश्व में आर्थिक संकट
१९३३	हिटलर जर्मनी का अधिनायक घोषित
१९३४	इटली का अबीसीनिया पर कब्जा
१९३६	स्पेन में फ्रेंको का अधिनायकत्व स्थापित
१९३७	चीन पर जापान का आक्रमण प्रारम्भ
१९३९-४५	द्वितीय महायुद्ध (१ सितम्बर ३९ से १४ अगस्त १९४५)
२६ जून १९४५	सेन फ्रांसिसको सम्मेलन एवं संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना

ईस्वी सन्	विवरण
१५ अगस्त १९४७	भारत स्वतन्त्र; १४ अगस्त ४७ पाकिस्तान नया राज्य स्थापित
१४ मई १९४८	इजराइल एक नया राष्ट्रीय राज्य स्थापित; बरमा स्वतन्त्र
२७दिसंबर१९४९	हिंदेशिया स्वतन्त्र
१९४५-४९	चीन में गृह युद्ध
१९४९	चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना
फर्वरी १९५०	रूस चीन संधि
२५ जून १९५०	कोरिया युद्ध प्रारम्भ-२७ जून १९५३ को समाप्त।
१९४९	उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) का निर्माण
१९४९	नई दिल्ली में एशियाई देशों का सम्मेलन
१९५१	लिबिया इटली साम्राज्य से मुक्त
१९५३	शरप्पा तेनसिंह द्वारा एवरेस्ट चोटी पर सर्व प्रथम विजय
१९५३	मिश्र का बादशाह अपदस्थ, गणतंत्र स्थापित
१९५४	जेनेवा कांफ्रेंस-कोरिया युद्ध बंदी रेखा पर विचार करने के लिए
१९५४	हिन्दचीन फ्रेंच साम्राज्य से मुक्त
१९५४	(सितंबर) दक्षिण-पूर्वीय-एशिया संधि संगठन (सीटो) का निर्माण
१९५५	(२४ जनवरी) बगदाद संधि (मध्य-पूर्व रक्षा संगठन)
१९५५	(४ जून) वारसा-संधि (यूरोप के ८ साम्यवादी देशों का प्रतिरक्षा संगठन)
१९५५	ट्यूनीसिया फ्रांस साम्राज्य से मुक्त
,,	बांडुंग कान्फ्रेंस-एशिया अफ्रीका देशों का सम्मेलन
,,	सूडान ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्त

ईस्वी सन्	विवरण
१९५५	(१५ मई) आस्ट्रिया से रूस, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने युद्ध कालीन फौजें हटालीं एवं आस्ट्रिया स्वाधीन और तटस्थ देश घोषित किया गया
,,	(जुलाई) जेनेवा कान्फ्रेंस (उच्च स्तरीय कान्फ्रेंस) जेनेवा में अमेरिका के राष्ट्रपति आइजन हावर, रूस के प्रधानमंत्री बुलगानिन, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ईडन एवं फ्रांस के प्रधानमंत्री एडगर फेवर का सह-अस्तित्व और निशस्त्रीकरण पर विचार विनिमय
,,	(२६ जुलाई) स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण मिश्र के राष्ट्रपति नासर द्वारा
,,	(अगस्त) जेनेवा में विश्व के वैज्ञानिकों का आणविक सम्मेलन
,,	(२९ अक्टूबर) स्वेज नहर युद्ध प्रारंभ—मिस्र पर इजराइल द्वारा आक्रमण
,,	(६ नवम्बर) इङ्गलैंड, फ्रांस और इजराइल को रूस की धमकी पर स्वेज नहर युद्ध बंद
१९५६	मोरक्को फ्रांस साम्राज्य से मुक्त
१९५७	गोल्डकोस्ट ब्रिटिश राज्य से मुक्त–नया नाम घना
,,	मलाया ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्त
,,	(९ मार्च) मध्यपूर्व के लिए आइजनहावर सिद्धान्त संबंधी सीनेट द्वारा अधिनियम स्वीकृत (साम्यवादी विरोधी सिद्धान्त)
,,	(३० अगस्त) रूस द्वारा अन्तर्महाद्विपीय विध्वंसक अस्त्र (अंतिम युद्धास्त्र) का निर्माण
,,	(५ अक्टूबर) रूस द्वारा मानवकृत उपग्रह का निर्माण (यह उपग्रह पृथ्वी से ५५० मील ऊपर १८२०० मील

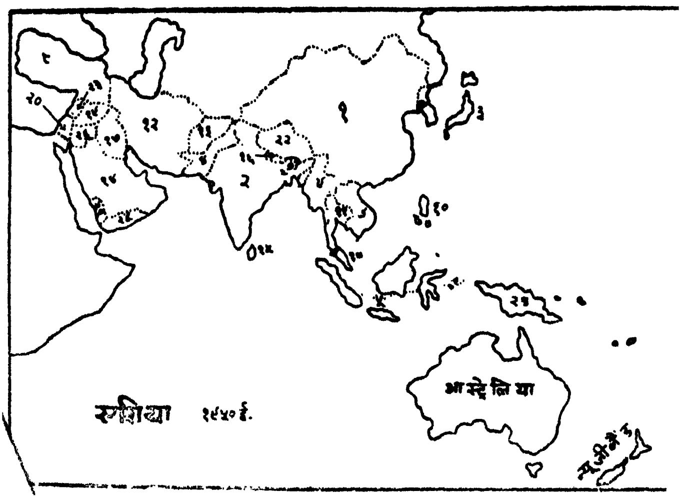
ईस्वी सन्	विवरण
	प्रतिघंटा के वेग से पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है)–(१५ अक्टूबर तक का समाचार)
१९५७-३ नवम्बर	रूस द्वारा दूसरा मानव-कृत उपग्रह (स्पुटनिक) दुनिया में सबसे पहली बार एक जीवित प्राणी (कुत्ता) के साथ छोड़ा गया। स्पुटनिक का वजन १४ मण; पृथ्वी से १०५६ मील ऊपर; पृथ्वी के चारों ओर घूमने का वेग १८००० मील प्रति घंटा
१९५७-६ नवम्बर	अमेरिका और ब्रिटेन के नेतृत्व में कोम्यूनिज्म (रूस) के विरुद्ध विश्वसंगठन का निर्माण।

परिशिष्ट २

सन् १९५६ की दुनिया

मानव जनसंख्या—लगभग २ अरब ४० करोड़ (२,४००००००००)। दुनिया में भिन्न भिन्न धर्म, भाषा, राजनैतिक एवं आर्थिक संगठन, किंतु दुनिया के सब देश रेल, तार, डाक, जहाज, वायुयान, रेडियो द्वारा निकट रूप से सम्बन्धित, एवं परस्पर इतना निकट सम्पर्क कि सब एक दूसरे के ज्ञान विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति से अवगत हैं, और उनमें इतना अधिक मेल मिलन होरहा है मानो सारी दुनिया की सभ्यता, एवं संस्कृति एक बनने जारही हो—मानो एक विश्व समाज की ओर गति हो। किंतु, इस गति के आगे लगा हुआ है 'युद्ध' का एक प्रश्न सूचक "चिन्ह" ?

वर्तमान मानव-इतिहास की गतिविधि को समझाने के लिये १९५६ में भिन्न भिन्न देशों के राजनैतिक, आर्थिक संगठन का रूप नीचे सूचियों में दिया जाता है। उसी के अनुसार मानचित्र भी दिये जाते हैं।



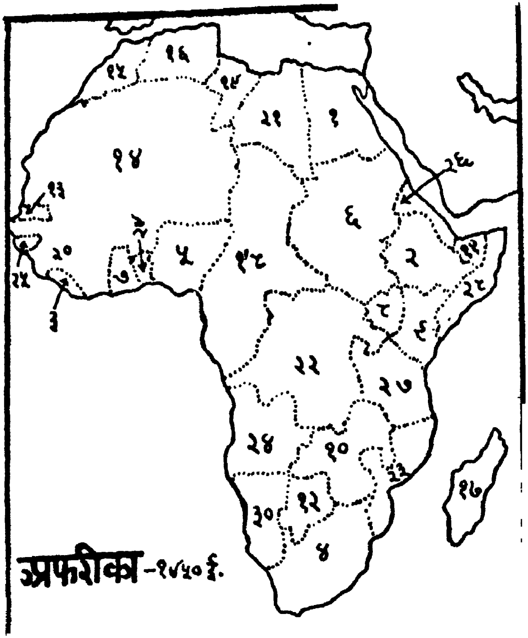
नकशे में संख्या	१९५६ में एशिया महाद्वीप	लगभग जन संख्या	प्रमुख धर्म	प्रमुख भाषा	प्रमुख व्यवसाय	राजनैतिक संगठन का रूप	आर्थिक संगठन का रूप	विशेष
१	चीन (मंचूरिया, तिब्बत, सिक्यांग, इनर-मंगोलिया सहित)	५० करोड़	बौद्ध, कनफ्यूसियन	चीनी	कृषि, यांत्रिक उद्योग की ओर उन्मुख	जनवादी गणतंत्र	साम्यवादी	१९४९ में साम्यवादी सरकार स्थापित
	आउटर मंगोलिया	१० लाख	बौद्ध लामा	मंगोलियन (रूसी वर्णमाला	चौपाये पालन	,,	,,	१९२१ के पहिले चीन का प्रांत
२	भारत	३५ करोड़ ६८ लाख	हिन्दू	हिन्दी	कृषि, यांत्रिक उद्योग की ओर प्रगति	गणतंत्र	पूंजीवादी	१९४७ से अंग्रेजी साम्राज्य से मुक्त
३	जापान	९ करोड़	बौद्ध	जापानी	कृषि, एवं यांत्रिक उद्योग	वैधानिक राजतंत्र	,,	१९४५ से अमेरिका का हस्तक्षेप
४	पाकिस्तान	७ करोड़ ५८ लाख	इस्लाम	उर्दू	कृषि	जनतंत्र	,,	१९४७ में एक नया राज्य स्थापित

५	हिंदेशिया (सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, सीलीबीज, इत्यादि द्वीप)	७ करोड़ ८० लाख	इस्लाम, बौद्ध, एवं प्राचीन बहु-देववाद	इन्डोनेशियन (चीनी एवं भारतीय प्रभाव)	कृषि एवं खनिज	गणतंत्र	पूंजीवादी	१९४९ में डच पराधीनता से मुक्त
६	हिन्दचीन							
	१. कम्बोडिया	४० लाख	(हीनयान-बौद्ध)	स्थानीय बोलियां	कृषि	राजतंत्र	,,	१९५४ में फ्रांसीसी साम्राज्य से मुक्त
	२. लाग्रोस	२० लाख,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	३. वियटमिन	१ करोड़ ३० लाख	,,	,,	कृषि एवं खनिज	जनवादी–गणतन्त्र	साम्यवादी	,,
	४. वियटनाम	९६ लाख	टाग्रोइज्म (बहुदेववाद)	,,	कृषि	गणतन्त्र	पूंजीवादी	,,
७	कोरिया							
	१. उत्तर कोरिया	९० लाख	बौद्ध	कोरियन	कृषि	जनवादी–गणतन्त्र ?	साम्यवादी	१९४८ से स्वतन्त्र साम्यवादी प्रदेश
	२. दक्षिण कोरिया	१ करोड़ ६० लाख	,,	,,	,,	गणतन्त्र	पूंजीवादी	१९४८से अमेरिका के प्रभाव में

८	टर्की	२ करोड़ १० लाख	इस्लाम	टर्किश	कृषि	गणतंत्र	पूंजीवादी	राज्य का एक छोटा सा भाग यूरोप में
९	बर्मा	१ करोड़ ६० लाख	बौद्ध	बर्मी	कृषि एवं तेल	”	”	१९४८ में ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्त
१०	फिलीपाइन	१ करोड़ ७० लाख	ईसाई	फिलीपिनो, स्पेनिश, एवं कई बोलियां,	कृषि	गणतन्त्र	पूंजीवादी	१९४६ में अमेरिका से स्वतन्त्र
११	स्याम (थाईलैंड)	१ करोड़-८० लाख	बौद्ध	स्यामी	कृषि	वैधानिक-राजतन्त्र	”	
१२	ईरान	१ करोड़-६० लाख	इस्लाम	फारसी	कृषि, पेट्रोल	”	”	
१३	अफगानिस्तान	१ करोड़-२५ लाख	”	पश्तो	कृषि (फल)	”	”	
१४	साऊदी अरब	७० लाख	”	अरबी	” (तेल)	”	”	१९२६ में स्वतंत्र राज्य
१५	लंका	८२ लाख	बौद्ध, हिन्दू	सिंहली	”	औपनिवेशिक जनतन्त्र	”	१९४८ में ब्रिटेन से स्वतन्त्र
१६	नेपाल	८६ लाख	हिन्दू	हिन्दी	”	राजतन्त्र	”	भारत का अंग
१७	इराक	५० लाख	इस्लाम	अरबी	कृषि एवं पेट्रोल	वैधानिक राजतन्त्र	”	१९३२ में ब्रिटेन से स्वतंत्र

१८	मलाया	५० लाख	इस्लाम, बौद्ध, हिन्दू	मलायन	कृषि एवं खनिज	वैधानिक राजतंत्र	पूंजीवादी	ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्त १९५७ में
१९	सीरिया	३७ लाख	इस्लाम	अरबी	कृषि, फल, तेल	गणतन्त्र	"	१९४६ में फ्रांस से स्वतंत्र
२०	इजराइल	१५ लाख	यहूदी	यहूदी	कृषि	"	"	१९४८ में नया राज्य स्थापित
२१	यमन	१० लाख	इस्लाम	अरबी	"	राजतन्त्र	"	१९२५ में स्वतन्त्र राज्य
२२	तिब्बत	१० लाख	बौद्ध(लामा)	तिब्बती	कृषि,याकपालन	जनवादी गणतन्त्र	साम्यवादी	दिसम्बर १९५० से साम्यवादी चीन की संरक्षता में।
२३	लेबनन	१४ लाख	इस्लाम, ईसाई	अरब,फ्रेंच	कृषि, फल	गणतन्त्र	पूंजीवादी	पहिले सीरीया का एक अंग
२४	न्यूगिनी	२० लाख	आदिकालीन बहुदेववाद	पेपुआ, निगोपोलिनिशन	कृषि	पराधीन उपनिवेश	"	पश्चिमी भाग डच, पूर्वी भाग आस्ट्रेलिया के संरक्षण में।
२५	अदन एवं समीपस्थ प्रदेश	८ लाख	इस्लाम	अरबी	"	पराधीन	"	ब्रिटिश

२६	जोर्डन	१५ लाख	इस्लाम	अरबी	कृषि	राजतन्त्र	पूंजीवादी	द्वितीय महायुद्ध के बाद १९४६ में स्वतन्त्र।
२७	भूटान	४ लाख	हिन्दू	हिन्दी	,,	,,	,,	भारत का अंग
२८	न्यूजीलैंड	२० लाख	ईसाई	अंग्रेजी	कृषि, भेड़पालन	औपनिवेशिक जनतन्त्र-	,,	ब्रिटिश; मूल निवासी मावरी
२९	आस्ट्रेलिया	८० लाख	,,	,,	,,	,,	,,	ब्रिटिश, मूल निवासी कई काली जातियां

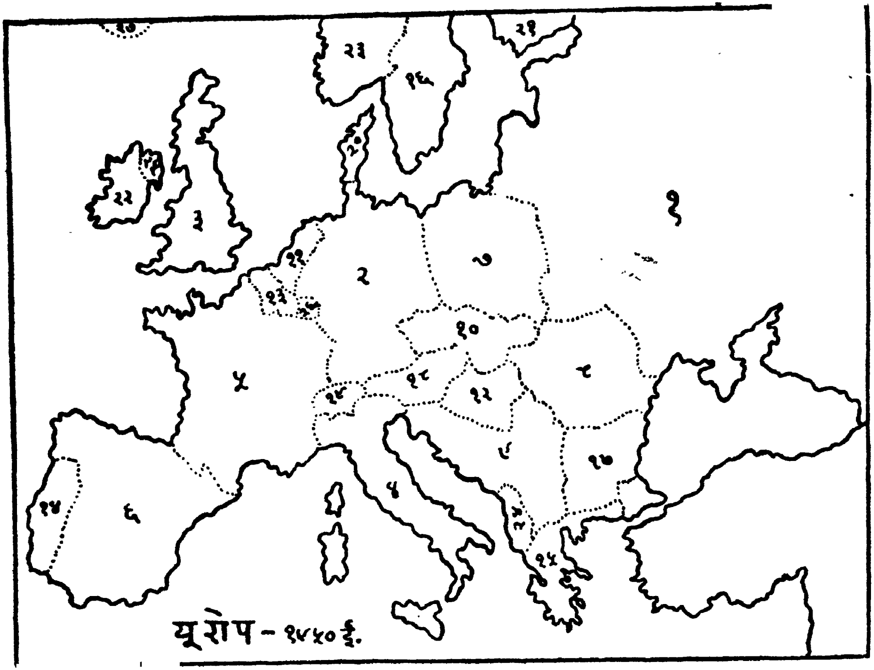


अफ्रीका-१८५० ई.

नकशे में संख्या	अफ्रीका	लगभग जन संख्या	प्रमुख धर्म	प्रमुख भाषा	प्रमुख व्यवसाय	राजनैतिक संगठन का रूप	आर्थिक संगठन का रूप	विशेष
१	मिश्र	२ करोड़	इस्लाम	अरबी	कृषि	गणतन्त्र	पूंजीवादी	अफ्रीका का स्वतंत्र देश १९५३ से पहिले वैधानिक राजतन्त्र
२	अबीसीनिया	१ करोड़ २५ लाख	ईसाई	निग्रोभाषा	,,	राजतन्त्र	,,	,,
३	लिबेरिया	३० लाख	निग्रो	निग्रो	,,	जनतन्त्र	,,	,,
४	दक्षिण अफ्रीका संघ	१ करोड़ १० लाख	ईसाई	अंग्रेजी	कृषि खनिज	औपनिवेशिक जनतंत्र	,,	ब्रिटिश
५	नाईजीरीया	२ करोड़	आदिकालीन धर्म	कोई निग्रो भाषा	कृषि और खनिज	पराधीन उपनिवेश	,,	,,
६	सूडान	७० लाख	निग्रो	अरब और निग्रो	कृषि	गणतन्त्र	,,	१९५५ में स्वतन्त्र
७	गोल्डकोस्ट (घना)	४० लाख	आदिनिग्रो धर्म	निग्रो	,,	जनतन्त्र	,,	१९५७ में स्वतन्त्र

८	यूगन्डा	४० लाख	आदि निग्रो धर्म	निग्रो	कृषि	पराधीन उपनिवेश	पूंजीवादी	ब्रिटिश
९	केनया	४० लाख	"	"	"	"	"	"
१०	र्‌होडेशिया	३० लाख	"	"	"	"	"	"
११	ब्रिटिशसोमाली लेंड	४ लाख	इस्लाम	अरबी	"	"	"	"
१२	बेचुआनालेंड	३ लाख	आदिनिग्रो धर्म	निग्रो	"	"	"	"
१३	गेम्बिया	२ लाख	"	"	"	"	"	"
१४	फ्रेंचपच्छिमी अफ्रीका	१ करोड़ ५० लाख	आदिकालीन धर्म	अरब, निग्रो	"	"	"	फ्रांस का राज्य
१५	मोरोक्को	७५ लाख	इस्लाम	अरबी	फल और कृषि	गणतन्त्र	"	१९५६ में स्वतन्त्र
१६	अलजीरिया	७५ लाख	"	"	"	पराधीन उपनिवेश	"	फ्रांस का राज्य
१७	मेडागास्कर	४० लाख	निग्रो	निग्रो	कृषि खनिज	"	"	"
१८	फ्रेंच इक्वेटोरि-यल अफ्रीका	३५ लाख	निग्रो धर्म	निग्रोभाषा	कृषि	"	"	"
१९	ट्यूनिशिया	३० लाख	इस्लाम	अरबी	फल और कृषि	गणतन्त्र	"	१९५५ में स्वतन्त्र

							पूंजीवादी	
२०	फ्रेंचगिनी	८ लाख	निग्रो	निग्रो	कृषि	पराधीन उपनिवेश	„	फ्रांस का राज्य
२१	लिबिया	१० लाख	इस्लाम	अरब	„	गणतंत्र	„	१९५१ में स्वतंत्र
२२	बेलीजियनकोंगो	१ करोड़	आदिकालीन धर्म	कोई निग्रो भाषा	कृषि यूरेनियम	पराधीन उपनिवेश	„	बेलजियम का शासन
२३	मोजंबीक	५० लाख	निग्रो	निग्रो	चीनी, नारियल	„	„	पुर्तगाल
२४	पुर्तगाली अंगोला	३५ लाख	आदिकालीन धर्म	कोई निग्रो भाषा	कृषि	„	„	आदिवासियों पर पुर्तगाल का राज्य
२५	पोर्चूगीजगिनी	३ लाख	निग्रो	निग्रो	रबर	„	„	„
२६	इरीट्रिया	६ लाख	इस्लाम	अरब	कृषि	„	„	इटली का राज्य
२७	टंगनयाका	६० लाख	निग्रो	निग्रो	„	शासना देश	„	ब्रिटेन के संरक्षण में
२८	सोमालीलेंड	१३ लाख	इस्लाम	अरब	„	„	„	इटली के संरक्षण
२९	टोगोलेंड	४ लाख	निग्रो	निग्रो	„	जनतंत्र	„	१९५७ में घना स्वतंत्र राज्य में सम्मिलित
३०	दक्षिण पच्छिम अफ्रीका	३ लाख	आदिकालीन धर्म	कोई निग्रो भाषा	„	उपनिवेश	„	दक्षिण अफ्रीका संघ के संरक्षण में



यूरोप - १८५० ई.

नक्शे में संख्या	यूरोप	लगभग जन संख्या	प्रमुख धर्म	प्रमुख भाषा	प्रमुख व्यवसाय	राजनैतिक संगठन का रूप	आर्थिक संगठन का रूप	विशेष
१	रूस	१९ करोड़	ईसाई	रूसी	कृषि, यांत्रिक उद्योग	जनवादी गणतंत्र	साम्यवादी	इसमें एशियाई रूस भी सम्मिलित है
२	जर्मनी	७ करोड़	"	जर्मन	यांत्रिक उद्योग	गणतंत्र	साम्यवादी पूंजीवादी	१. पूर्वी जर्मनी २. पश्चिमी जर्मनी
३	इङ्गलैंड	५ करोड़	"	अंग्रेजी	"	वैधानिक राजतंत्र	पूंजीवादी + समाजवाद	
४	इटली	४ करोड़ ७० लाख	"	इटालियन	कृषि, यांत्रिक उद्योग (रेशमी वस्त्र)	जनतंत्र	पूंजीवादी	
५	फ्रांस	४ करोड़ २७ लाख	"	फ्रेंच	"	"	"	
६	स्पेन	२ करोड़ ६० लाख	"	स्पेनिश	कृषि भेड़ पालन	एकतंत्र	"	डिक्टेटरशिप
७	पोलेंड	२ करोड़ ५० लाख	"	पोलिश	कृषि	गणतंत्र	साम्यवाद की ओर	रूस के प्रभाव क्षेत्र में

८	रुमानिया	२ करोड़ २५ लाख	ईसाई	रुमानियन	कृषि पशुपालन	गणतंत्र	साम्यवादी की ओर	
९	यूगोस्लेविया	१ करोड़ ७० लाख	"	सेब्रोकोट	कृषि	"	"	
१०	जेकोस्लोवेकिया	१ करोड़ ५० लाख	"	जेक	"	"	"	
११	होलेंड	१ करोड़	"	डच	कृषि यांत्रिक उद्योग	वैधानिक राजतंत्र	पूंजीवादी	
१२	हंगरी	६५ लाख	"	हंगेरियन (मंगोल)	कृषि	जनतंत्र	साम्यवाद की ओर	रूस के प्रभाव क्षेत्र में
१३	बेलजियम	६० लाख	"	फ्रेंच एवं जर्मन	कृषि यांत्रिक उद्योग	वैधानिक राजतंत्र	पूंजीवादी	
१४	पुर्तगाल	८० लाख	"	पुर्तगाली	कृषि	जनतंत्र	"	
१५	ग्रीस	७५ लाख	"	ग्रीक	"	वैधानिक राजतंत्र	"	
१६	स्वीडन	७० लाख	"	स्वीडिश	कृषि कागज उद्योग	"	"	
१७	बलगेरिया	७० लाख	"	बलगेरियन (मंगोल)	कृषि, पशुपालन	गणतंत्र	साम्यवाद की ओर	रूस के प्रभाव क्षेत्र में

१८	आस्ट्रिया	७० लाख	ईसाई	जर्मन	कृषि, यांत्रिक उद्योग	गणतन्त्र	पूंजीवादी	१९५६ में मित्र राष्ट्रों के संरक्षण से मुक्त
१९	स्वीटजरलैंड	५० लाख	,,	जर्मन फ्रेंच	यांत्रिक उद्योग	,,	,,	
२०	डैनमार्क	४० लाख	,,	डेनिश	कृषि, पशुपालन	वैधानिक राजतन्त्र	,,	
२१	फिनलैंड	४० लाख	,,	फिनिश (मंगोल)	कृषि, मछली	गणतन्त्र	,,	
२२	आयरलैंड	३३ लाख	,,	आइरिश	कृषि, पशुपालन	गणतन्त्र	,,	
२३	नोर्वे	३० लाख	,,	नोर्वेजो-डेनिश	कृषि, कागज उद्योग	वैधानिक राजतन्त्र	,,	
२४	अलबेनिया	१२ लाख	,,	अलबेनियन	कृषि, पशुपालन	जनवादी गणतन्त्र	साम्यवादी	
२५	अलस्टर	७ लाख	,,	अंग्रेजी	,,	परतन्त्र	पूंजीवादी	ब्रिटिश
२६	लक्समवर्ग	३ लाख	,,	जर्मन फ्रेंच	,,	वैधानिक राजतन्त्र	,,	
२७	आइसलैंड	१ लाख २५ हजार	,,	आईसलेंडिक नोर्वेजियन	कृषि और मछली	,,	,,	आइसलैंड और डेन-मार्क का एक राजा


उत्तर अमेरिका
अमेरिका-१९५० ई.
दक्षिण अमेरिका

नकशे में संख्या	उत्तर अमेरिका	लगभग जनसंख्या	प्रमुख धर्म	प्रमुख भाषा	प्रमुख व्यवसाय	राजनैतिक संगठन का रूप	आर्थिक संगठन का रूप	विशेष
१	संयुक्त राज्य अमेरिका	१७ करोड़	ईसाई	अंग्रेजी	कृषि, उद्योग	जनतन्त्र	पूंजीवादी	अलास्का सम्मिलित
२	मेक्सिको	२ करोड़ २० लाख	,,	स्पेनिश	कृषि	,,	,,	जन संख्या स्पेनिश विशेष
३	कनाडा	१ करोड़ ४० लाख	,,	अंग्रेजी	कृषि, उद्योग	औपनिवेशिक प्रजातन्त्र	,,	ब्रिटिश
४	क्यूबा	५० लाख	,,	स्पेनिश	चीनी और तंबाकू	जनतन्त्र	,,	स्पेनिश और इंडियन
५	गोटीमाला	३६ लाख	,,	,,	कृषि	,,	,,	७% रेडइंडियन २५% वर्ण संकर ५% स्पेनिश

६	हेटी	३५ लाख	ईसाई	फ्रेंच	चीनी और तंबाकू	जनतन्त्र	पूंजीवादी	निग्रो-विशेष
७	सालवेडोर	२० लाख	,,	स्पेनिश	कृषि	,,	,,	वर्णसंकर-विशेष रैड इंडियन
८	डोमिनीकन गणराज्य	१८ लाख	,,	,,	,,	,,	,,	स्पेनिश-विशेष
९	निकारा गुआ	१२ लाख	,,	,,	,,	,,	,,	वर्णसंकर-स्पेनिश और रैडइंडियन
१०	वेस्ट इंडीज	१२ लाख	,,	अंग्रेजी	,,	पराधीन उपनिवेश	,,	जमाइका बहामा द्वीप, ब्रिटिश
११	कोस्टारिको	१० लाख	,,	स्पेनिश	,,	जनतन्त्र	,,	स्पेनिश, विशेष निग्रो
१२	होंडूरास	१० लाख	,,	,,	कोफी	,,	,,	रैडइंडियन विशेष, स्पेनिश
१३	पनामा	८ लाख	,,	,,	कृषि	,,	,,	वर्णशंकरविशेष
१४	ब्रि. होंडूरास	६५ हजार	,,	अंग्रेजी	कोफी	पराधीन उपनिवेश	,,	ब्रिटिश
१५	ग्रीनलैंड	३० हजार	,,	डेनिश	मछली कृषि	,,	,,	डेनमार्कका राज्य एस्किमो

दक्षिण अमेरिका

१	ब्राजील	४ करोड़ ५० लाख	ईसाइ	स्पेनिश रैडइंडियन	कृषि, पशुपालन	जनतन्त्र	पूंजीवादी	जनसंख्या-स्पेनिश, आदि-इन्डियन एवं यूरोपीय
२	अर्जेन्टाइना	१ करोड़ ४० लाख	"	"	" "	"	"	"
३	कोलम्बिया	१ करोड़	"	"	" "	"	"	"
४	पीरू	७५ लाख	"	"	" "	"	"	"
५	चीली	५० लाख	"	"	" "	"	"	"
६	वेनीजुयेला	४५ लाख	"	"	" "	"	"	"
७	बोलिविया	४० लाख	"	"	" "	"	"	"
८	इक्वेडोर	३२ लाख	"	"	" "	"	"	"
९	यूरुग्वे	२२ लाख	"	"	" "	"	"	"
१०	पेराग्वे	१२ लाख	"	"	" "	"	"	"
११	ब्रिटिश गियाना	४ लाख	"	ईंगलिश	" "	पराधीन उपनिवेश	"	"
१२	डच गियाना	२ लाख	"	डच	" "	"	"	"
१३	फ्रेंच गियाना	३५ हजार	"	फ्रेंच	" "	"	"	"